जैनदर्शन आत्मद्रव्यविवेचनम्

The Treatment of Soul in Jain Philosophy

शिक्षामन्त्रालय-भारतसर्वकारार्थसाहाय्येन प्रकाशितम्

(PUBLISHED WITH THE FINANCIAL ASSISTANCE FROM THE MINISTRY OF EDUCATION, GOVT. OF INDIA)

शोध-ग्रन्थमालायाः प्रथमं पुष्पम्

जैनदर्शन आत्मद्रव्यविवेचनम्

वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य (Ph. D.) विद्यावारिध्युपाधये
स्वीकृतः शोधप्रबन्धः

डॉ० मुक्ताप्रसादः पटैरिया
जैनदर्शन-व्याकरण-पुराणेतिहासाचार्यः
(लब्धस्वर्णपदकः), साहित्यरत्नम्,
विद्यावारिधिः (Ph.D.)
जैनदर्शनविभागाध्यक्षः,
श्री महावीरविश्वविद्यापीठम्,
शङ्करमार्गः, नई-दिल्ली-६०

1973

प्राच्य-विद्या-शोध-अकादमी, नई दिल्ली-८

प्रकाशकः
प्राच्यविद्या-शोध-अकादम्या निदेशकः,
२६/१५२, पश्चिमीपटेलनगरम्, नईदिल्ली-८

प्रथम संस्करणम् : १६७३ ई०
प्रतयः-१०००
मूल्यम्—Rs

मुद्रकः
आनन्दप्रकाशसिंघलः,
आनन्दप्रिंटिंग प्रेस, २/३४, रूपनगरम्
दिल्ली-७

ज्यौतिष-धर्मशास्त्र-कर्मकाण्डमर्मज्ञाः श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानपरायणा

परमपूज्या पितृपादाः

पण्डितश्रीहरनारायणवट्टैरियाः

समर्पणम्

यदीयाङ्के क्रीडन् शिशुवयसि जो मातृविरहो-
ऽनुभूतो नैवाल्पः पितृसुखमपि प्राप्तमतुलम् ।
तपोमूर्तेर्विद्वत्प्रवर 'हरनारायण' पितुः,
कृतिर्भक्त्याऽऽद्या तत्पदकमलयोरर्प्यत इयम् ॥

—मुक्ताप्रसादः

सम्पादकीयम्

इह खलु जगत्याब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सर्वेषां प्राणिना सुखाप्तये दुःखनिवृत्तये च निसर्गत एव प्रवृत्तिर्दृश्यते। निरतिशयसुखरूपा निरतिशयदुःखनिवृत्तिरूपा वा याऽवस्था सैव मोक्षः। तदवस्थावाप्तिः संसारबीजभूतहेतूनां विनाशानन्तरमेव सम्भवति। तत्सिद्धिश्चाऽऽत्माऽनात्मविवेकं विना न सुकरेति निश्चप्रचम्। श्रुतिरपि पुत्रं मातेव मुमुक्षुजनान्सन्मार्गे प्रवर्तयितुं मोक्षसाधनीभूतमात्मसाक्षात्काराय योजयति—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृहदा० उप० २।४।६) इति। 'तरति शोकमात्मवित्' (छान्दोग्यो० ७।१।३) इत्यादिश्रुतिवाक्यैरध्यात्मतत्त्वस्य मोक्षोपादेयत्वं जोघुष्यते।

लोकेऽपि सर्व. प्राणी प्रत्यगात्मास्तित्वं प्रत्येत्यहमस्मीति। न हि कश्चिदपि नाहमस्मीति विप्रतिपद्यते। तस्मादात्मतत्त्वमसन्दिग्धम्। तथापि धर्मं प्रति विप्रतिपत्तयो बहुविधा इति विशेषप्रतिपत्तिरुपपद्यते। अत एव प्रमुखैर्भारतीयदर्शनैरात्मतत्त्वस्य मोक्षावाप्तिसाधनभूततया तन्निरूपणं स्व-स्वसिद्धान्तभित्तीराश्रित्य व्यधायि। तथा हि- चैतन्यविशिष्टो देह आत्मेति लोकायताः, क्षणभङ्गुरं सन्तन्यमानं विज्ञानमात्मेति बौद्धाः। कर्तृत्वादिविशिष्टः परमेश्वराद् भिन्नो जीवात्मेति नैयायिका मन्वते। भोक्तैव केवलं, न कर्तेति सांख्या प्रतिजानते। चिद्रूपः कर्तृत्वादिरहितः परस्मादभिन्नः प्रत्यगात्मेत्यौपनिषदा स्वीकुर्वन्तीत्येतेषु सर्वेषु दर्शनेषु दुराग्रहग्रन्थिनिर्मोचकेनानेकान्तवादेन स्याद्वादसिद्धान्तेन चातिशयं वैशिष्ट्यं समादधता जैनदर्शनेन मोक्षमार्गाङ्गीभूतस्य सम्यग्ज्ञानस्याऽऽत्माऽनात्मविवेकरूपस्य स्वीकृतत्वादन रमरूपविविधपदार्थनिरूपणपुरस्सरमात्मतत्त्वस्य स्वरूपं प्रत्यपादि—इति जैनदर्शनीयात्मतत्त्वनिरूपणप्रसङ्गेन समस्तार्हतदर्शनहार्दमेव प्रकाशयतो 'जैनदर्शन आत्मद्रव्यविवेचनम्' इति महच्छोधप्रबन्धस्य भारतीयदर्शनेषु प्रतिपादितात्मसम्बन्धिसिद्धान्तान् यथास्थानं सम्यग्निरूपयतश्च सर्वाङ्गीणत्वमव्याबाधं वरीवर्ति—इति विविधपर्यालोचनानन्तरं प्राच्यविद्याशोधअकादम्यैतद्ग्रन्थस्य शोधग्रन्थमालान्तर्गतं प्रकाशनं प्राथम्येन स्वीकृतम्।

प्रबन्धोऽयं दिल्लीस्थश्रीलालबहादुरशास्त्रिकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठे जैनदर्शनविभागाध्यक्षाणां डॉ० श्रीलालबहादुरशास्त्रिणां निर्देशने प्रस्तुतो वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य 'विद्यावारिधि' (Ph.D.)-उपाधये स्वीकृतश्च डॉ० श्रीमुक्ताप्रसादस्य शोधवैचक्षण्यं व्यनक्ति।

जैनतीर्थंकरस्य भगवतो महावीरस्याऽऽगामि—पञ्चविंशतितमनिर्वाणशताब्दी (१९७४ई०)-समायोजनप्रसङ्गे एतादृङ्महनीयं ग्रन्थं प्राच्यविद्याविशारदानां जनसाधारणस्य च समक्षं प्रस्तुवतामस्माकं तस्मै लोककल्याणकर्त्रे भगवतेऽर्हते श्रद्धाप्रसूनाञ्जलिसमर्पण-मिवेति नितरां मोदामहे ।

माननीयानामनेकेषां विद्वद्वरेण्यानामाशीर्वादैर्वयमतितरां प्रोत्साह्यामहि । किञ्च, भारत-प्रशासनस्य शिक्षामन्त्रिणः, केन्द्रीयसंस्कृतमण्डलस्य शिक्षामन्त्रालयाधिकारिणाञ्च वय-मवश्यं कृतज्ञतां प्रकाशयामो यैरस्य ग्रन्थस्य प्रकाशनार्थमर्थानुदानरूपं विशिष्टं साहाय्यं प्रादायि ।

वयं दृढं विश्वसिमो यदेतद्ग्रन्थः प्राच्यविद्याविशारदैः समधिकं स्तोष्यते । मानुषमात्र-सुलभतया दृष्टिप्रमादाज्जाता मुद्रणसम्बन्धिनी वाऽनवधानता क्षन्तव्या विद्वद्भिः । किञ्च—

दोषान्निरस्य गृह्णन्तु गुणमस्य मनीषिणः ।
पांसूनपास्य मञ्जर्या मकरन्दमिवालयः ॥

इति शम्

—०—

राष्ट्रपति सचिवालय,
राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली-४

PRESIDENT'S SECRETARIAT.
RASHTRAPATI BHAVAN,
NEW DELHI-4

पत्रावली सं० ८-एम/७३. जून १९, १९७३.

प्रिय महोदय,

आपके १३ जून, १९७३ के पत्र से राष्ट्रपति जी को यह जानकर प्रसन्नता हुई कि प्राच्य-विद्या शोध अकादमी, नई दिल्ली द्वारा शीघ्र ही डा० मुक्ता प्रसाद पटैरिया के शोध-प्रबन्ध "जैन-दर्शन आत्मद्रव्यविवेचनम्" के प्रकाशन तथा प्रस्तुत करने का आयोजन किया जा रहा है। डा० पटैरिया तथा अकादमी के प्रयासों की सफलता हेतु वे अपनी शुभकामनायें भेजते हैं।

भवदीय :

रे० वे० राघवराव

(राष्ट्रपति का अपर निजी सचिव)

भारत के उपराष्ट्रपति के सचिव
नई दिल्ली
SECRETARY
TO THE VICE-PRESIDENT OF INDIA
NEW DELHI

जून १५, १९७३

प्रिय महोदय,

आपका पत्र दिनांक १३ जून, १९७३ का उप-राष्ट्रपति जी के नाम प्राप्त हुआ, धन्यवाद।

उप-राष्ट्रपति जी को यह जानकर प्रसन्नता हुई कि डा० मुक्ता प्रसाद पटैरिया का शोध प्रबन्ध "जैनदर्शन आत्मद्रव्यविवेचनम्" शोध अकादमी की प्रकाशन योजना के अन्तर्गत, शोध-ग्रथमाला के प्रथम पुष्प के रूप में प्रकाशित होने जा रहा है। उप-राष्ट्रपति जी आपके इस प्रयास की सफलता के लिये अपनी हार्दिक शुभ कामनायें भेजते हैं।

आपका :
वि० फडके

कानपुर कैम्प
१८—६—७३

प्रिय पटैरिया जी,

सप्रेम नमस्कार !

आपके द्वारा प्रेषित पत्र संख्या प्रा० वि० शो० अ०/प्र०/१७-७२-७३ दिनांक १२ जून १९७३ प्राप्त हुआ । एतदर्थ धन्यवाद । यह जानकर हर्ष हुआ कि आपका शोध प्रबन्ध—"जैनदर्शन आत्मद्रव्य विवेचनम्" शिक्षा मंत्रालय—भारत सरकार के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित हो रहा है । मेरी बधाइयाँ स्वीकार करें ।

जैन दर्शन भी भारतवर्ष के अन्य दर्शनों की भाँति, अध्यात्म-तत्त्व के प्रति आस्था उत्पन्न करने तथा उस महत्तत्व के मूर्त रूप को प्रस्तुत करने की एक प्रक्रिया है । यदि इस प्रबन्ध में, भारतवर्ष की ज्ञान-गरिमा के अनुकूल, इस तत्त्व के विवेचन में परम्परा तथा वैज्ञानिक शोध-सामर्थ्य का समन्वय हुआ हो तो निश्चय ही, एक प्रशंसनीय प्रयास है । इस दृष्टि से ग्रंथ सचमुच उपयोगी प्रमाणित होगा । शुभकामनायें ग्रहण करें । आशा है आप सानंद होंगे ।

भवदीय
वीरेन्द्र स्वरूप

अर्जुन सिंह
शिक्षा मंत्री,
मध्यप्रदेश

भोपाल
दिनांक--३० जून, १९७३.

प्रिय डा० पटैरिया,

मैंने आपके शोध-प्रबंध की संक्षेपिका देखी। मुझे यह देखकर बडी प्रसन्नता हुई कि "जैनदर्शन आत्मद्रव्यविवेचनम्" नामक अपने मूल शोधप्रबंध मे जीवन जगत् के अत्यन्त अपरिहार्य प्रश्नो के सबंध में प्राचार्यों और मीमासाकारो द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओं को आपने बड़ी निपुणता से सरल और सुबोध शैली मे प्रस्तुत किया है। भारतीय मनीषियों ने बडी गहराई मे जाकर मानव जीवन के चिरंतन प्रश्नो का अनुसंधान किया है और उनके सम्यक् समाधान प्रस्तुत किये हैं।

मैं आशा करता हूँ कि अध्येताओ और जिज्ञासुओं को आपका ग्रथ उपयोगी साबित होगा।

शुभकामनाओ सहित
भवदीय :
अर्जुन सिंह

संचालक,
अनुसन्धान संस्थान
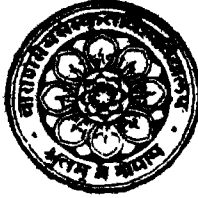
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी-२
दूरध्वनि—४०१४
तार—"श्रुतम्"
२१-६-१९७३

प्रिय महोदय,

आपका १२-६-७३ दिनांकित पत्र प्राप्त हुआ। उसके साथ आपके शोध-निबन्ध की सार पुस्तिका भी संलग्न थी। नई दिल्ली स्थित 'प्राच्य-विद्या शोध अकादमी' अपनी प्रकाशन-योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय शासन के शिक्षा मन्त्रालय की आर्थिक सहायता से आपका 'जैनदर्शन आत्मद्रव्यविवेचनम्' नामक शोध-प्रबन्ध प्रकाशित कर स्तुत्य कार्य करने जा रही है

यह हर्ष का विषय है कि आपने इस विश्वविद्यालय में जैन दर्शन का विधिवत अध्ययन कर प्रथम श्रेणी मे आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की, उसके अनन्तर इस शोध-प्रबन्ध पर भी इस विश्वविद्यालय ने आपको उपाधि प्रदान की। विश्वविद्यालय को आप जैसे स्नातकों पर गौरव है। अकादमी द्वारा प्रवर्तित इस प्रकाशन-योजना की सफलता के लिए मेरी हार्दिक कामना है।

भवदीय :

भा० प्र० त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री',

DEPARTMENT OF SANSKRIT
FACULTY OF ARTS.
DELHI UNIVERSITY, DELHI-7

दिनांक ३१-६-७३

बन्धुवर डा० पटैरिया जी,

सस्नेह नमस्कार

आपका १४ जून, १६७३ का पत्र एवं शोध प्रबंध 'जैनदर्शन आत्मद्रव्य-विवेचनम्' का हिन्दी सार प्राप्त कर प्रसन्नता हुई। प्राच्य विद्या शोध अकादमी की शोध-ग्रन्थ-माला के प्रथम पुष्प के रूप मे प्रकाश्यमान इस शोध प्रबन्ध का मैं हार्दिक स्वागत करता हूं और आशा करता हूं कि अकादमी प्राच्य विद्या के अध्ययन एव शोध की दिशा में तुतरां अग्रसर हो कर एतद्विध सस्थाओं मे शीघ्र ही अपना विशिष्ट स्थान ग्रहण करेगी।

अकादमी की सफलता के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

शुभेच्छु
सत्यव्रत शास्त्री
(अध्यक्ष)

Dr. J. GANGULY
DFPUTY DIRECTOR (ACD)
Office of the Director,
Rashtriya Sanskrit
Sansthan Shastri Bhawan,
New Delhi

क्रमांक (*No.*)
Acd/10-1/RSKS/73
दिनांक (*Date*) 18-7-73

Dear Dr. Pateria,

We are very much pleased to receive your work "Jain-Darshan me atmadravya Vichar". Of the different categories into which the ancient thinkers divided the universe, Atman, a dravyapadartha has exacted serious consideration of scholars. The theistic concept of Atman as a positive entity differs from that of the atheists but in this respect the Jainns differ from the Buddhists. It is therefore a good attempt to make a clear exposition of the connected topics and it is hoped that the complete work would soon be brought to light. Till that is not done, I would request you to make an English version of your dissertation for benefit of the non-Hindi knowing scholarly circle. With heartiest congratulations.

Yours sincerely
J. GANGULY

डा० मण्डनमिश्रः
प्राचार्यः

केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्
तिरुपति
२१ जुलाई १९७३

नव-दिल्लीस्थश्रीमहावीरविश्वविद्यापीठस्य जैनदर्शनविभागाध्यक्षेण जैनदर्शन-व्याकरण-पुराणेतिहासाचार्यविद्यावारिधिडा०श्रीमुक्ताप्रसादपटैरियेत्युपाह्वेन विलिखितः शोधप्रबन्धो "जैनदर्शन आत्मद्रव्यविवेचनम्" प्राच्यविद्याशोध-अकादम्याः शोधग्रन्थ-मालायां प्रकाशितः सम्यगवलोकितो मया।

प्राच्यविद्यानुसन्धानसरण्यामात्मविषयकार्हत्सिद्धान्तविवेचनविधौ मौलिकयाऽऽधु-निक्या च पद्धत्याऽऽश्लिष्टोऽयं प्रबन्धो भगवतो महावीरस्य २५०० तमे निर्वाणमहोत्सवा-रम्भे प्राच्यविद्याविज्ञैर्जैनविद्याविशारदैश्चापि विशेषतः समादृतो भविष्यतीति विश्वसिमि।

मण्डनमिश्रः

PRAKRIT VIDYA MANDALA
L. D. Institute of Indology

Near Gujarat University
Ahmedabad-9 (India)
दिनांक १५-९-७३

स्नेही भाई श्री,

प्रणाम,

आपका पत्र और थीसिस मिले थे। मैंने ऊपर-ऊपर से आपका थीसिस पढ़ा है। जो कुछ पढ़ा है, उसी से कह सकता हूँ कि आपने आत्मद्रव्य के विषय मे तुलनात्मक दृष्टि से जो विवेचन किया है, वह आपकी तद्विषयक विद्वत्ता को प्रकट करता है। आपकी सशोधन करने की शक्ति इसमे व्यक्त हुई है। अब इतना ही और कहना है कि इसे और बढ़ावे और नये-नये विषयो को लेकर कुछ लिखते रहें। आप-जैसे युवको को अब आगे आकर सशोधन-क्षेत्र मे प्रतिष्ठा जमानी चाहिए। आपको इसी में यश और कीर्ति तथा अर्थ-प्राप्ति भी होगी। इस क्षेत्र की उपेक्षा कर केवल अध्ययन में न लगें।

प्रसन्न होवें—

भवदीय
दलसुख मालवणियां
(निदेशक)

रामनरेशमिश्रः
एम० ए०, एल० टी०, साहित्याचार्यः
प्रस्तोता (अ० प्रा०)
संस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी

आचार्यः
श्रीमहावीरविश्वविद्यापीठस्य
नई, दिल्ली
दि० ३०-७-१९७३

दिल्लीस्थस्य श्रीमहावीरविश्वविद्यापीठस्य जैनदर्शनविभागाध्यक्षपदभाजा पटैरियोपाह्वडाक्टरमुक्ताप्रसादेन साध्यवसायं प्रणीतो 'जैनदर्शन आत्मद्रव्यविवेचनम्' इत्याख्यः शोधप्रबन्धो मयाऽवलोकितः। आत्मविषयकदुरूहविवेचनस्यापि सारल्येन समुपस्थापनम्, दार्शनिकवैभिन्न्यस्य निरूपणमित्यादिवैशिष्ट्यसम्पन्नोऽयं प्रबन्धो दर्शनाध्येतृणामनुसन्धातृणाञ्च महतीमुपकृतिं विधास्यतीति दृढं विश्वसिमि।

रामनरेशमिश्रः

अध्यक्षः, जैनदर्शनविभागस्य,
वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालयः,

३०-९-१९७३

भारतसर्वकारार्थसाहाय्येन भगवतो महावीरस्य २५००तमनिर्वाणमहोत्सवप्रसङ्गे प्राच्यविद्याशोधअकादम्या शोधग्रन्थमालान्तर्गतं प्रकाश्यमानो डा० मुक्ताप्रसादस्य 'पटैरिया' इत्युपाह्वस्य "जैनदर्शन आत्मद्रव्यविवेचनम्" इत्याख्यः शोधप्रबन्धो जैनवाङ्मयाधारेणार्हद्दार्शनिकसिद्धान्तैः परिपुष्ट आधुनिकविश्लेषणपद्धत्या च ग्रथित आत्मस्वरूप निरूपयति। शोधप्रबन्धेऽस्मिन् जैनेतरदर्शनीयाऽऽत्मविषयकमान्यतानां समीक्षात्मकविवेचनदिशि जैनीयाऽऽत्मसिद्धान्तानां संशोधिते नूत्ने च परिवेशे प्रस्तुतीकरणम्, विषयप्रतिपादनपृष्ठभूमौ सबलाभियुक्तिभिर्जैनदर्शनस्य नास्तिकत्वनिरासः, प्राचीनत्वसाधकप्रमाणानां समावेशः, द्रव्यव्यवस्थाया वैज्ञानिकदृष्टयनुकूल सामयिकस्वरूपेण प्रतिपादनञ्च कृतेर्वैशिष्ट्यमुपादेयत्वञ्च पुष्णन्ति।

विद्वत्परिवारेण समादृतः सन्नयं प्रबन्धो मुक्ताप्रसादं मौक्तिकैः नितरां प्रसीदयत्वित्यभिलषमाणः—

अमृतलालः

डा० लालबहादुरशास्त्री,
एम ए., साहित्याचार्य, पी-एच. डी

जैनदर्शनविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्
दिल्ली

३०-६-१९७३

जैनदर्शन-व्याकरण - पुराणेतिहासाचार्य - विद्यावारिधि(Ph. D.)प्रभृत्युपाधीरलङ्कुर्वता डा० मुक्ताप्रसादेन 'पटैरिया' इत्युपाह्वेनोपन्यस्तोऽयं महानिबन्धो 'जैनदर्शन आत्मद्रव्य-विवेचनम्' मया सम्यग्दृष्टिपथमनायि। अनेन यूना विदुषा प्रबन्धान्तर्गतेषु विषयेषु गम्भीरसरणिमवलम्ब्य यद्विवेचन समुपस्थापित तत्सर्व प्रशसार्हमिति वक्तु शक्यते मया। जैना आत्मद्रव्य केन रूपेणाङ्गीकुर्वन्तीति जैनवाङ्मयस्य समग्रो विषयो हृद्यमनवद्य हृदि निधाय, स्याद्वाद सम्मुख विधाय, दूर विहाय च सर्वविप्रतिपत्तीः, साङ्गोपाङ्ग सविस्तरं समीचीन सम्यगालोचित। आत्मद्रव्यविवेचनप्रसङ्गे तत्प्रयोजनभूतेषु षड्-द्रव्येषु दर्शनान्तरीयद्रव्यान्तराणामन्तर्भावो भवतीति युक्तिपुरस्सर प्रतिपादितम्।

विषयप्रतिपादनात्प्राक् तदाधारभूतो जैनधर्म कदा समजनीत्यादितत्कालनिर्णयप्रसङ्गे न केवल पुराणस्मृतिभ्य. पर वेदेभ्योऽप्यनेकानि प्रमाणानि समुद्धृत्याय तथैव प्राचीनो यथा ऋग्वेदादय. सन्तीति यदुल्लिखित तदस्य निपुणमतेरन्वेषणश्रमस्य परिचायकमस्ति। नास्तिकास्तिकगवेषणाया जैनधर्म आस्तिक एवेत्यादिप्रभूतैः पुष्टप्रमाणै. प्रचोदितमनेन, वेदनिन्दकत्वेन चास्य नास्तिकत्व प्रतिक्षिप्त साधूक्तिभिः।

भारतसर्वकारार्थसाहाय्येन प्राच्य-विद्या शोध-अकादम्या प्रकाशनमुपगतः शोधप्रबन्धोऽयं विद्वज्जनादरास्पदाय डा० मुक्ताप्रसादस्य प्रसादाय च कल्पतामिति शुभङ्कामयमान.—

लालबहादुरः शास्त्री

विषयानुक्रमणिका

आत्मनो बन्ध-प्रक्रिया १७१-२०४

मुक्तात्मनां स्वरूपम् २०५-२४८

प्रास्ताविकम्

सुरभारतीसमुपासकानां शेमुषीमतामत्रभवतां समक्षं शोधप्रबन्धमिमं समुपस्थाप्य समुत्सारितगुरुभार इव सञ्जातोऽस्मि । सम्प्रत्यपि स्मर्यते तद्दिनं, यत्र वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य जैनदर्शनप्राध्यापकपदमलङ्कुर्वतां श्रीमताममृतलालजैनमहानुभावानां समक्ष जैनदर्शनमधिकृत्य शोधकार्यकरणार्थं वचनप्रदानेनाधिगृहीतभारोऽभवम् ।

द्विषष्ट्युत्तरैकोनविंशतिशततमे (१९६२ ई०) खिष्टाब्दे झांसीमण्डलान्तः मऊरानीपुरस्थश्रीरामकृष्णसंस्कृतविद्यालयादुत्तरमाध्यमिकपरीक्षामुत्तीर्य, वाराणसेय-संस्कृतविश्वविद्यालये मुख्यविषयत्वेन नव्यव्याकरणमुपविषयत्वेन च फलितज्योतिष-मधिकृत्य शास्त्रिप्रथमवर्षे पिपठिषुरहमेकदा स्वमित्रेण सह विश्वविद्यालयीयजैनदर्शन-प्राध्यापकश्रीमदमृतलालजैनसकाशं समागत्य, समुपलब्धानायासस्नेहत्वात् समारब्धसत्सम्-नैरन्तर्यस्तेषां प्रेरणयोपविषयत्वेन गृहीतफलितज्योतिषस्थाने जैनदर्शनमधिकृत्य, शास्त्रि-परीक्षाञ्च प्रथमश्रेण्यामुत्तीर्याचार्यकक्षायामपि जैनदर्शनविषयाधिग्रहणाभिलाषी सञ्जातः ।

तत्र विश्वविद्यालयीयनियमातिक्रमणभिया व्याकरणविषयपरित्यागे प्रदत्तानु-कम्पानां व्याकरणविभागाध्यक्षाणां श्रीमुरलीधरमिश्रमहोदयाना, विषयपरिवर्तनविधौ च समुत्तीर्णव्याकरणशास्त्रिपरीक्षस्य मम जैनदर्शनग्रहणाधिकाराभावेऽपि विशेषाधिकारेण प्रदत्ताशिषा तात्कालिकोपकुलपतिपदमलङ्कुर्वतां महामान्यानां श्रीमता सुरतिनारायण-मणित्रिपाठिमहोदयानाञ्च यदनुकम्पया जैनदर्शनाचार्यपरीक्षामपि प्रथमश्रेण्यामुत्तीर्य जैनदर्शनविभागे सर्वतोऽधिकानङ्कांश्चावाप्य लब्धस्वर्णपदकः चिरकृतज्ञोऽस्मि ।

ततश्चानुसन्धित्सुरपि पारिवारिकपरिस्थितिवशाद्वाराणसीमगत्वा, मऊरानीपुरस्थ-श्रीलक्ष्मणदासदमेले (इण्टरकालेज) उच्चतरमाध्यमिकविद्यालये समुपलब्धाध्यापनकार्य-भरेण, विश्वविद्यालयीयानुसन्धानसंचालकैः श्रीमद्भिर्बलदेवोपाध्यायैरध्यापनेन साकमेवा-नुसन्धातुमनुमतेनापि, देश-काल-वातावरणपरिज्ञानेच्छया विद्यापीठीयशोधच्छात्रवृत्तिमुप-लब्धवताध्यापनाद्विरम्याष्टषष्ट्युत्तरैकोनविंशतिशततमखिष्टाब्दीयसितम्बरमासस्य चतुर्द-शाद्दिवसात्, भारतराजधानीमनुसन्धानक्षेत्रत्वेनोद्दिश्यास्मिन् विद्यापीठे समागतेन विद्या-पीठीयव्याख्यातृणां परमादरणीयाना डा० लालबहादुरशास्त्रिमहोदयानां शास्त्रीये व्यावहारिके च पथिप्रदर्शकत्वे, शोध-स्नातक-परिषदः सचिवत्वेन च विद्यापीठीयविद्वद्-वृन्दानामाशिषम्, कार्यालयाधिकारिणां सुबहुसहयोगम्, सहवर्गिणां च हार्दिकीं सहानु-भूतिमथ च परमादरणीयानां परिषदः संरक्षकानां निदेशकपदमलङ्कुर्वतां तत्रभवतां

श्रीमतां डा० मण्डनमिश्रमहोदयानां विद्यापीठजनकानामिव 'कुमार्गनिवारणसुमार्ग-संयोजनात्मकं संरक्षणञ्चाधिगतेन मया सोत्साहं शोधकार्यविधिः समनुष्ठितः।

अत्रास्मिन् शोधकार्यकाले समुपलब्धपारिवारिकवातावरणः,प्रमादवशादनधिग-तापेक्षितसाहित्यसाधनः, अदत्तापेक्षितकालः, विविधैर्विद्वद्भिरसम्बन्धितसम्बन्धश्चापि, यथासमुपलब्धसाहित्येन स्थानीयैर्विद्वद्भिश्च स्थापितसम्बन्धोऽहं शोधप्रबन्धममुमत्रभवतां समक्षमुपस्थातुं सक्षमोऽभवम्।

सप्ताध्यायात्मकेऽस्मिन् शोधप्रबन्धे मया प्रथमेऽध्याये दर्शनानां सामान्यपरिचये जैनदर्शनस्य प्राचीनत्वसाधिका आस्तिकत्वनास्तिकत्वविमर्शिकाश्च युक्तीः सविशेषं समुपस्थाप्य, द्वितीयेऽध्याये-जैनदर्शनस्य सामान्यपरिचयेन द्रव्यव्यवस्थाया आपेक्षिक-महत्वेन साकमेव द्रव्याणां विवेचने धर्मद्रव्यस्यानन्यभूतस्य विशिष्टं विवेचनम्, द्रव्य-व्यवस्थायाः विवेचकस्य स्याद्वादस्य, तद्वाचकानां च सप्तभंगानां नयद्वारेण विश्लेषणं विधाय, तृतीयेऽध्याये-शोधप्रबन्धस्यास्य विषयभूतस्यात्मनो सामान्य-विशेषगुणानां विश्लेषणानन्तरमात्मनः संसारिरूपाणामनेकभेदानामपि तदङ्गत्वात् विस्तरभयात् संक्षे-पेणैव केवलं नाममात्रं निर्दिश्य चतुर्थेऽध्याये परिगणनं विधाय, पंचमेऽध्याये बन्धस्य-लक्षणभेदनिर्देशनान्ते, बन्धप्रक्रियायाः हेतुभूतानां मिथ्यादर्शनादीनां बन्धविधिस्तद्विनाश-क्रमश्च चतुर्दशगुणस्थानक्रमरूपेण विश्लेष्य, षष्ठेऽध्याये-मोक्षस्य, तन्मार्गभूतानां सम्यग्द-र्शनज्ञानचारित्राणां, तज्जन्यकृत्स्नकर्मविप्रमोक्षं मोक्षं तद्युक्तानां च मुक्तात्मनां स्वरूपं निर्दिश्यान्तिमेऽध्याये जैनेतरदर्शनानामात्मसिद्धान्तैः सह समालोचनञ्चापि कृत विद्यते।

संस्कृतवाङ्मये सन्ति बहूनि दर्शनानि, परं तेषु भिन्नबुद्ध्यात्मकत्वात् वैभिन्न्य स्पष्टमवलोक्यतेऽतो जैनदर्शनस्याप्यन्येभ्यो भेदः स्वाभाविक एव। तत्र सन्त्यस्यानेके विशेषाः, यैरहमस्मिन् शोधकार्यार्थं प्रेरितस्ते च यथा—

(१) भारतीयदर्शनेषु येषु नैतिकमुत्तरदायित्वं जीवस्यानपेक्षितमवलोक्यते, तस्य मोक्षे निर्णायकत्वात् जैनैरस्य सिद्धान्तस्य प्राधान्य स्वीकृतम्। ईश्वरेणैव सृष्टेरुत्पाद-कत्वस्य, असतः (ब्रह्मणः) सद्रूपस्यास्य जगतः सृष्टेश्च सिद्धान्तानामालोचनस्यात्राय-मेवाभिप्रायो विद्यते, यदेते सिद्धान्ताः न तु दुःखेभ्यः, नापि तदुत्पत्तितश्च मोक्षदायकाः[1] सन्ति। नैतिकदृष्ट्या 'पञ्चभूतानां सम्मेलनादेव बुद्धिसम्पन्नं चैतन्यमुत्पद्यते' इति सिद्धान्तोऽयं तथैव निरर्थकः, यथा खल्वेकस्मात् यस्मात्कस्मात् वा बुद्धिसम्पन्नात् (ब्रह्मणः) सृष्टेर्नानात्वस्य कल्पनं[2] निरर्थकम्। आत्मनो निष्क्रियत्वे स्वीकृते सति नैतिक-विभेदस्य महत्वमपि न तिष्ठति।

---

१. सूत्रकृताङ्गसूत्रम्-प्रथम—१।१, ३, ५-६॥

२. सूत्रकृताङ्गसूत्रम्-प्रथम १।१, ७-१०।११-१२ द्वितीय १।१६,१७॥

अनेनैव कथनेन 'यद्यात्मनोऽनादित्वमनन्तत्वञ्चाक्षुण्णमेव, तथा च जगतः सर्वाः अपि घटनाः सत्तासमूहानां सम्मिश्रणपृथक्करणपरिणामा एव' इत्यात्मोपक्रमस्य विनाश एव स्यादत एतदर्थमात्मनो नैतिकमुत्तरदायित्वमपि[1] व्यर्थं स्यात् ।

भाग्यवादिनां चेयं कल्पना—'जगतः सर्वा अपि घटनाः प्रकृत्या निर्धारितपूर्वा एव सन्ति' इति नात्र जीवस्य पौरुषार्थं किञ्चिदपि स्थानं स्वीक्रियते । किञ्चात्र नैतिक-मूल्याङ्कनार्थमिदं स्वीकरणीयमेव स्याद्यत् प्रत्येकमपि जीवः स्वमस्मिन् जगत्युन्नतमपि कर्तुं क्षमोऽथवावनतमपि विधातुं समर्थः, यतो ह्यात्मनोऽस्त्यत्र स्वतन्त्रमस्तित्वम्, यत्स मुक्तावप्याक्षुण्ण्येन स्थापयितुं शक्नोति ।

(२) सामान्येनात्र विद्यमानं सर्वमपि वस्तुजातं स्वरूपस्थितं नित्यमेवेति स्वी-क्रियते । तदापि जीवो नित्य एव, तस्य जन्म, परिवर्तनमन्तो वा नास्तीति न स्वी-कुर्वन्ति, यतो ह्येषां दृष्ट्या प्रत्येकमपि द्रव्यमुत्पद्यते विनश्यते च । यथास्य जगतो न त्वादिर्नाप्यन्तस्तथाप्यस्त्यस्तित्वम् । यद्यपि सर्वाण्यपीमानि द्रव्याणि नवीनान् पर्यायान् गृह्णन्ति पूर्वकालिकांश्च परित्यजन्ति, तथापि केषाञ्चन् गुणानामुभयत्रविद्यमानतया नूत्नप्राचीनयोरप्येकत्वमुच्यते । एवमत्र तदेव द्रव्यं यत्खलु स्वगुणानां परिवर्तने सत्यपि स्वीयां स्थितिं न व्यत्येति । एवमिदमेकं गतिशीलं याथार्थ्यमीदृशी[2] सत्ता वा द्रव्यम्, या प्रतिक्षणं पतिवर्तिता तिष्ठति ।

अत्रास्य दर्शनस्य बहवोऽंशा सांख्यदर्शनेन साम्यं भजन्ते । इमे द्वे एव प्रकृते-रनाद्यनन्तत्वं स्वीकृत्य जगतः नैरन्तर्ये विश्वस्ते स्त[3] । अनयोर्द्वयोर्द्वैतवादेऽयमेव विशेषः यत्सांख्यास्तावत् जगतः प्राणिनाञ्च विकास प्रकृतिपुरुषयोः सम्पन्नमामनन्ति यदा हि जैना एतस्य विकासस्य हेतुरूपेण केवलां प्रकृतिमेवा[4]भिदधन्ति ।

किञ्चात्मनो क्रियाशीलत्वे जैनसिद्धान्तस्य साङ्ख्यापेक्षया न्यायवैशेषिकाभ्यामधिकं साम्य, यतो हि सांख्यास्तु केवल जगतः साक्षिरूपेणैव आत्मानं स्वीकुर्वन्ति । अतएवात्मनः कर्तृत्वे, कार्यकरणात्मकत्वे चानयोर्मतभेद एवावलोक्यते ।

(३) जैनदर्शने प्रकृतिबन्धनान्मुक्तो जीव एव आत्मेति अभिहितः । अर्थात् प्राकृतिकमलविरहिता विशुद्धचेतनैवात्मेति । सेयं चेतना सर्वथा बाह्यरूपात् पृथक् शुद्धा-ध्यात्मिकास्पदोन्नताकृतिविहीनं चैतन्यमात्रमेव । पुद्गलश्चाप्यत्र न केवलं चेतनारहितः विशुद्धो भौतिकः सन् प्रकृतिरूपो विद्यतेऽपित्वस्मिन्नपि पूर्वत आत्मना संश्लिष्टत्वा-दात्मनोऽस्तित्वमस्ति । एवमत्र जीविता सत्ता-आत्मा, प्रकृतिश्चासत्तत्वस्य निषेधात्मिका, जीवश्चोभयोस्संयोगरूपः भौतिक, आध्यात्मिकश्चास्ति[4] ।

---

१. सूत्रकृताङ्गसूत्रम्-प्रथम १।१,१५।। द्वि०-१।२२-२४।।

२. पंचास्तिकायः ६,८,६,११।।

३. The way to Nirvan P.67 ४. Outlines of Jainism P.77

जैनानामयं दृढो विश्वासः यद्विशुद्ध आत्मा, विशुद्धा प्रकृतिः, उभयोस्संयोगरूपश्च जीवः, एते त्रयोऽपि सत्पदार्था । पुद्गलस्कन्धं च यद्वयं प्रकृतिरूपं पश्यामश्चैतन्यस्या-स्त्यत्राप्येकोऽंशोऽतोऽत्र जीवाजीवयोः, आत्मनः (चैतन्यस्य) प्रकृतेर्वा न पृथगनुभवः शक्यः, द्वयोरपि परस्परं बन्धं प्रत्येकत्वात् । एवमत्र याथार्थ्येन चेतनाचेतनात्मके एव मूलभूते परस्परविरुद्धे तत्त्वे, तयोश्च जीवे चैतन्यस्यांशः, अजीवे चाचैतन्यस्यांशः प्राधान्येन विद्यते । इमावेवास्य सम्पूर्णजगतः द्वयोर्विभिन्नावस्थयोः प्रतिनिधिभूतौ ।

(४) तथा चात्र जीवश्रेणीनां व्यवस्था आत्मनोऽनात्मनि (आत्मनः प्रकृतौ) न्यूनाधिकप्रभावापेक्षिकैवास्ति । अस्योदाहरणरूपेण जैनदर्शने-दिव्यजीवावस्थायां (पवित्रात्मसु सिद्धेषु) यत्र न प्रकृते· (अजीवस्य) लेशमात्रोऽपि प्रभावोऽवशिष्टः, आत्मनोऽनात्मनि सर्वतोऽधिक· प्रभावो द्रष्टु शक्यते। निम्नतमावस्थायां च पदार्थान्वितोऽनात्मनोऽत्यधिकः प्रभावोऽवलोक्यते । यदा चात उपरि दृष्टिपातः क्रियते, तत एव वृक्षादिषु, कीटादिषु चात्मनोऽधिकोऽशः, अनात्मनश्च सूक्ष्मोऽशोऽवलोक्यते । एवं क्रमश अयमनात्मांशः यदा सर्वथा ह्रासमुपगतोऽवलोक्यते, तदेवात्मनो वास्तविक यथ.र्थं स्वरूपम् । एवमत्रात्मनो यत्स्वरूपमनात्मत्वेन सयुक्त तदेव जीवपदेनोच्यते, यच्च विशुद्धमनात्मविरहितं तदेवात्मेति ।

(५) एवमय जीवश्चैतन्ययुक्तः स्वभावत एवास्ति, आत्मनोऽशप्राधान्यात् । तच्चेदं चैतन्य ज्ञानदर्शनद्वैविध्येनाभिव्यक्तं भवति । अत्र ज्ञान पदार्थाना सूक्ष्मविवरणयुक्तम्, दर्शनञ्च तद्विरहित सामान्यावबोधमात्रमेवार्थात् यत्र वस्तूना विशेषगुणप्रभावाधिक्यमेवास्ति, सूक्ष्मगुणग्रहणाभावात् 'तदेव दर्शनमिति' ।

अत्र ज्ञानस्य तद्विषयस्य च पारस्परिकः सम्बन्धो भौतिकपदार्थेषु केवल बाह्य एवास्ति, यदा ह्यात्मचेतनाविषयकोऽयमेतद्भिन्नोऽर्थादाभ्यंतरिक एव तिष्ठति । जीवचेतना च सर्वदेव क्रियात्मकत्वात् प्रतिक्षण स्व परपदार्थांश्चापि प्रकाशयन्ती तिष्ठति यथा खलु प्रकाश· स्वपरप्रकाशकस्तथैवेद ज्ञानमपि स्वस्यान्येषामपि अभिव्यक्ति विदधाति । अनेन ज्ञायते यज्जैनैरत्र न्याय-वैशेषिकयोरयं सिद्धान्तः—यत् 'प्रकाशस्तु केवल स्वव्यतिरिक्तानेव पदार्थान् प्रकाशयति' इति न स्वीकृतः । य कमपि पदार्थमभिजानन्नात्मा स्वकमपि विजानाति । प्रत्येकमपीन्द्रियबोधे, ज्ञानक्रियायां वेदमुपलक्ष्यते—'यदहमिदमनेन जानामि' । ज्ञानस्य पदार्थाभिव्यञ्जकत्वादेव स्वभावादिद कथन निरर्थकमेव यच्चैतन्य कथमचेतन जडपदार्थं प्रकाशयति ? इति ।

अत्र ज्ञानज्ञेययो· (प्रमा-प्रमेययो.) सम्बन्धोऽत्यन्तसन्निकृष्टात्मकत्वादविभाज्यात्मक एवास्ति, एव ज्ञानस्य विषयी (प्रमाता), विषयः (प्रमेय),ज्ञानञ्चेति (प्रमा चेति) आत्मचैतन्यस्यैव पक्षभूतास्तिष्ठन्ति । यतो हि, यदि कश्चनापि जीवः ज्ञानविरहितः

स्वीक्रियते, तस्यायमेवाभिप्राय: स्याद्यत् जीवस्य तदीयं स्वरूपमपहृत्य, तस्य जीवत्व-श्रेण्या: विनाशोऽजीवश्रेण्या: प्रादुर्भावस्तथा च ज्ञानस्यापि जीवविरहात् निराश्रयात्मकत्वात् विनाशो भवतीति। अतएव जैनैर्ज्ञानस्यात्मनाविनाभावसम्बन्ध: स्वीकृत:। अस्मात्कारणा-देव मोक्षेऽप्यात्मा ज्ञस्वभावात्केवलमात्मन्येव विचरति।

प्रकृतेर्भारो यदात्मना परित्यज्यते, तदा तद्भारवियुक्त: सन् स्वभावत ऊर्ध्व-गमनात् सिद्धानामन्तिकं लोकान्तमधिगच्छति। तदेतन्मोक्षावाप्त्यै यथार्थसत्तायां विश्वास:, संशयभ्रान्तिरहित यथार्थतत्वज्ञानम्, जगत: बाह्यपदार्थेषु रागद्वेषादिभाव-विरहितं माध्यस्थ्यरूपम् यथार्थाचरणञ्चेति जिनोपदिष्टानि त्रीण्येव रत्नानि समुदितानि मार्गभूतानि।

जीवस्य नूतनकर्मणा निरोधाय सदाचार: (सम्यक्चारित्रम्) आवश्यक:, सम्यग्दर्शनज्ञानयुक्तेऽप्यस्याभावे न जीवेन कथमपि मुक्ति: प्राप्या भवति। यदा च मुमुक्षुणा जीवेन सम्यग्दर्शनज्ञानमधिकृत्य मोक्षावाप्त्यै सम्यगाचरणं विधीयते, तत्र क्रमश: सफलत्वमधिगच्छता श्रेण्यारोहण च विधास्यता यदा केवलत्वमुपलभ्यते, तत एव स: सांसारिकबन्धनात्सर्वथा विमुक्तो जायते, किन्तु जैनदर्शनानुसारेण यावत्पूर्वकर्मजन्य-मायुष्कर्म न सर्वथा क्षयमधिगच्छति, तावद् देहयुक्त. सन्नत्रैव (जगति) सम्यगाचरणं पुष्टतरं विदधाति। तत्र केवलत्वाधिगतावस्थात: समारभ्य यावत्तेन न निर्वाण-मुपलभ्यते, तावत्कालिकी तस्यावस्था मोक्षलाभे सत्यपि, सिद्धान्तिकत्वाभावात् नैव स 'सिद्ध' इत्यपि वक्तुं शक्यते, नापि च जगति स्थितावपि लब्धमोक्षोऽय 'जीव' इत्यप्यभिधातु शक्यते। अत एवेयमवस्था जैनदर्शने जीवन्मुक्तपदेनाभिहिता, येन ज्ञायते यदय जीवो मोक्षलाभे सत्यपि जगति स्थित: निर्वाण प्रतीक्ष्यमाणस्तिष्ठति। अन्ते च परमात्मत्वमधिगम्य निर्विकारो निरजन: सञ्जायते।

प्रबन्धममुमत्रभवता समक्षमुपस्थापयितुं सक्षमोऽहं श्रीलालबहादुरशास्त्रि:-केन्द्रीयसस्कृतविद्यापीठस्य (तदानी) निदेशकपदमलङ्कुर्वता श्रद्धास्पदाना डा० श्रीमण्डनमिश्रमहोदयाना च स्नेहात्सरक्षणाच्च शोधच्छात्रवृत्तित्वं प्राप्त:, जैनदर्शन-विभागाध्यक्षाणा मान्याना डा०लालबहादुरशास्त्रिमहानुभावानां, सहजोदारप्रकृत्या तत्त्वबोधिन्या बुद्ध्या च मार्गनिर्देशने प्रबन्धप्रारूपविनिश्चयनात् पूर्णताप्राप्तिपर्यन्त साहाय्यमुपगत:, (सम्प्रति) शोधविभागीयप्रवाचकपदमलङ्कुर्वता गुरु-मित्रकल्पानां डा० रुद्रदेवत्रिपाठिमहोदयाना, येभ्यो विविधानि ग्रन्थरत्नानि शोध-विषयसम्बद्धचर्वणफलि-तानि चावाप्त:, पुराणेतिहासव्याख्यातृणा (स्थानीय)सरक्षककल्पानामाचार्यश्रीरमेश-चतुर्वेदाना, राजनीतिविषयव्याख्यातृणामग्रजकल्पानां श्रीसतीशकौलावतमहाशयानां शोधप्रबन्धस्य टङ्कणविधौ सौलभ्य प्राप्त:, विद्यापीठीयपुस्तकालयाध्यक्षाणामन्येषाञ्चा-ध्यापक-कर्मचारिवृन्दाना येषामत्र सहयोगोऽधिगतस्तेषां सर्वेषामपि चिरकृतज्ञोऽस्मि।

अथ च येषां केषामपि विदुषां ग्रन्थानामत्रोपयोगो विहितः, यैश्च विद्वद्भिर्ग्रन्था-लयैश्चापि सम्बन्धः संस्थापितः विशेषतस्तु श्रीप्रेमचन्द्रजैन (जैना वाच कं०) महानुभावानां सदाशयतया सदस्यतामनधिगत्यैवाप्त-पुस्तकालयविशेषसौविध्यः, सर्वैरप्येतैर्भृशमुप-कृतोऽस्मि ।

प्रबन्धस्यास्य प्रकाशनार्थमार्थिकसहयोगस्वीकारकान् संस्कृतानुरागिणः सदा-शयान् भारतसर्वकारस्य शिक्षामन्त्रालयाधिकारिणः, शोधग्रन्थमालान्तर्गतं प्रकाशन-व्यवस्थापकान् 'प्राच्य-विद्या-शोध-अकादमी' अध्यक्षान् सदाशयान् प्रो० राजारामशास्त्रि-महाशयान्, मुद्रणव्यवस्थापकान् 'आनन्द-प्रिंटिंग-प्रेस' सञ्चालकान् श्रीआनन्दप्रकाश-सिंघलोपाह्वान्, अहर्निश सेवमानान् तत्सहकर्मिणश्च प्रति हार्दिकी कृतज्ञतां विज्ञापयामि ।

मन्दबुद्धेर्ममास्मिन् शोध-प्रबन्धेऽज्ञानवशात्, मुद्रणयन्त्रस्य मुद्रणविधौ सर्वथाऽ-समर्थत्वाच्च याः खलु स्खलनाः सञ्जातास्ताः साक्षात्परम्परया वा मदीया एवेति कृत्वा क्षन्तव्यास्तत्र भवद्भिः । अथ चात्र यत्किञ्चिदपि स्वल्पमात्रं ग्राह्यं गुणगृह्यैः श्रीमद्भिर्गृहीत स्यात्तेनैव स्वकीयं श्रमं सफलमित्यनुभविष्यामि ।

महावीरजयन्ती
वि० स० २०३०
(१५–४–७३)

रुद्रदेवत्रिपाठी

विषयप्रवेशः

प्रथमोऽध्यायः

दर्शनशब्दस्योत्पत्तिर्व्युत्पत्तिर्विशेषार्थश्च

दर्शनस्योद्भवः

भारतवर्षे आदिकालादेव 'अहम्, विश्वञ्चे'त्युभयोर्विषये व्यष्ट्या समष्ट्या च चिन्तनं चिरात्प्रवर्तितं सदद्यापि परिशील्यत एव। ऋषिभिरैहिकचिन्तां परित्यज्यात्मतत्वान्वेषण एव स्वशक्तेः प्रयोगो विहितः। अस्यैवान्वेषणस्य धुर्यामिदं जगच्चक्रं परिभ्रमत् तिष्ठति।

प्राणिनः सामाजिकत्वात् स एकाकी स्थातुं न शक्नोति, अतएव स्व-पार्श्ववर्तिभिः सह सम्बन्धं संस्थाप्य सर्वतो वातावरणं शान्तमपेक्षते। अथ च सोऽभिलषति, यत्कथं वयं रागद्वेषद्वन्द्वविरहिता भूत्वा निराकुलाः स्याम? समाजे जगति च कथं सुखशान्तेः साम्राज्यं स्यात्? आभ्य एव चिन्ताभ्यो समाजस्यानेके प्रयोगा निष्पन्ना अभवन्, भवन्ति, भविष्यन्ति च।

निराकुलभावनायाः प्रबलेच्छयेदं विमर्शयितु मनुष्यः बाध्योऽभवद् यन्मनुष्यः कोऽस्ति? किमयं जन्मतो मरणं यावत् प्रचलद् भौतिकं पिण्डमेव? आहोस्वित् मरणानन्तरमप्यस्यास्त्यस्तित्वम्? 'परं प्राचीनतमान्नृषीश्चात्मतत्त्वे विवदमानानपि यदा गोस्वर्णदासादीनां परिग्रहं कुर्वाणान् पश्यामस्तदायं प्रश्न उदेति 'यत्किमियमात्मचर्चा केवलं लौकिकप्रतिष्ठायाः साधनमेव?' एतैरेव प्रश्नैरात्मजिज्ञासोत्पन्ना, जीवनसंघर्षाच्चापाकृत्य समाज-रचनाया आधारभूतानि तत्त्वानि प्रति मानवः प्रवर्तितः।

एवं संस्कृतवाङ्मयस्य परिशीलनाज्जायते यद्दर्शनपदेन योऽर्थो दार्शनिकैर्विद्वद्भिर्वा स्वीकृतः, न स वैदिककालेऽवलोक्यते, यतो हि ते तु धर्मे, देववादे वैव विश्वस्ताः, यज्ञैर्दानैश्चैवेहपरलोकसुखाभिलाषिण आसन्। 'विश्वमिदं प्राक्कीदृशमासीत्, अस्यान्तः पश्चाद्वा काचित् शक्त्यप्यस्ति किम्?' एतादृशाना विचाराणामाभासमात्र एव ऋग्वेदे', यजुर्वेदस्यान्तिमे'ऽध्याये चावलोक्यते। एते एव विचारा उपनिषत्काले दर्शनरूपेण विकासमुपगताः। सम्प्रति चैषां विभिन्न-शाखा-सम्प्रदायात्मकं बाहुल्यमेव दरीदृश्यते।

दर्शनशब्दस्य व्युत्पत्तिः

दर्शनशब्दस्य व्युत्पत्तिः 'दृशिर्' (भ्वा० पर०) धातोः ल्युट्प्रत्ययेन भवति, यस्यार्थः 'दृश्यते येन' इति। दर्शनमिदं स्थूलनेत्राभ्यामपि, सूक्ष्मचक्षुषापि च भवति, यद् 'दिव्यचक्षुः' 'प्रज्ञाचक्षुः' 'ज्ञानचक्षु'रित्यप्युच्यते।

स्थूलसूक्ष्मोभयप्रकारका एव जगति स्थिताः पदार्था दर्शनविषयभूताः। अथ च परमतत्त्वस्य प्राप्त्यै उभयविधयोरेव साक्षात्कार आवश्यकोऽतः दर्शन-शब्दस्य प्रयोग स्थूलसूक्ष्मोभयोरप्यर्थयोर्विद्यते। एवमिदं दर्शनमिन्द्रियजन्य-निरीक्षणं प्रत्ययीज्ञानं, अन्तर्दृष्टेरनुभवो वा भवति। तच्च घटनानां सूक्ष्मे-क्षणेन तार्किकपरीक्षणेनात्मनोऽन्तर्निरीक्षणेन वाभिगम्यते।

दर्शनशब्दस्य प्रयोगः

साधारणतया दर्शनशब्दस्य प्रयोग आलोचनात्मकव्याख्यानेषु, (भाष्येषु) तार्किकसर्वेक्षणेषु, दार्शनिकपद्धतिषु वैव क्रियते। किन्तु प्रारम्भिक-दार्शनिकविचारसरण्यां दर्शनशब्दस्य प्रयोगो नैष्वर्थेषु प्राप्यते, यतस्तस्मिन् काले दार्शनिकं ज्ञानमाभ्यन्तरदृष्टिपरकमेवाधिकमासीत्, अतोऽनेन ज्ञायते, यत्तद्दर्शनमन्तर्दृष्ट्या सम्बद्धमप्यन्तर्दृष्टिपरकं नासीत्। सम्भाव्यते च यदस्य प्रयोगो बहुतर्कवितर्कानन्तरं तस्यै विचारपद्धत्यै जातः, यस्याः प्राप्तिस्त्वन्त-र्दृष्टिजन्यानुभवतः, पर पुष्टिः युक्तिप्रमाणैरेव भवति।

दर्शनशब्दस्य साक्षात्कारेऽर्थे विप्रतिपत्तयः

दर्शनशब्दस्य स्पष्टः स्थूलश्चार्थः 'साक्षात्कारः'—प्रत्यक्षज्ञानेन कस्य-चिद्वस्तुनो निर्णयः, इत्येवास्ति। यदि दर्शनस्यायमेवार्थो स्वीक्रियेत् तर्हि कथं विभिन्नेषु दर्शनेषु परस्परं विरोधोऽवलोक्यते? प्रत्यक्षज्ञानेन साक्षात्कृतेषु पदार्थेषु न मतभेदो, विरोधः, संशयो वा भाव्यः? यथा खलु आधुनिकस्य विज्ञानस्य सिद्धान्तानां प्रयोगशालायां प्रत्यक्षे कृते सति, न तेषु कश्चन मत-भेदो भवति। मतभेदो विरोधो वा तत्र तावदेव भवितुमर्हति, यावन्न तस्य प्रयोगस्य सिद्धिर्भवति। किञ्च दर्शनेषु यदायं पारस्परिको विरोधोऽवलोक्यते, तदायं सन्देहस्तु स्वाभाविक एव, यद् दर्शनस्य किमवितथमेवार्थः साक्षात्कारः? यद्ययमेवार्थस्तदाय साक्षात्कारः कि समग्रस्यापि वस्तुनो साक्षात्काररूपः, आहोस्वित् कस्यचिदेकधर्मस्यांशस्य वा? यदि समग्रस्यैव साक्षात्काररूपस्त-त्किमस्य वर्णनविधावेव कश्चन विशेषः? दर्शनानामस्य विरोधस्य कश्च-नैतादृश एव हेतुर्भवितव्यः, अन्यथा सर्वैरेव दार्शनिकैः साक्षात्कृतस्यात्मनो विषयेऽपि (दर्शनाधार विषयेऽपि) नैतादृशं वैपरीत्यं स्यात्।

तर्के विप्रतिपत्तयः

प्रत्येकमपि दर्शनस्यायमेव दृढो विश्वासः, यत्तदेव पूर्णं यथार्थञ्च । अत एतेषामुपरिलिखितं पारस्परिकं विरोधमवलोक्य जिज्ञासुरनेकविचाराणां चतुष्पथे स्थित इव दिग्भ्रान्तो भवति, तदा च सः दर्शनशब्दस्य साक्षात्कारेऽर्थेसंदिग्धः सन् दर्शनस्य पूर्णतायामेवाविश्वसिति । परमत्र यदा तस्य मनन-तर्कः जागृतः तिष्ठति, तदैव 'तर्कोऽप्रतिष्ठः', 'तर्काप्रतिष्ठानात्'[1], 'नैषा तर्केण[2] मतिरपनेया' एतादृशैर्बन्धनैस्तस्य मुखमाव्रियते । यदेन्द्रियगम्येष्वप्यर्थेषु तर्कस्यानावश्यकतानुपयोगिता निस्सारताक्षमता वा स्यात्तदा तर्कस्य कियत्क्षेत्रमवशिष्यते ? अतएव हरिभद्राचार्यैस्तर्कस्यासमर्थता स्पष्टतया प्रतिपादिता—

> 'ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्थाः यद्यतीन्द्रियाः ।
> कालेनैतावता तेषां कृतः स्यादर्थनिर्णयः ॥'[3]

'दर्शनम्'-दृष्टिकोणम्

सांसारिकं प्रत्येकमपि द्रव्यमनन्तधर्माणामखण्डं पिण्डरूपमेवास्ति । एतत् समग्राणामपि धर्माणामवाग्गोचरत्वात् सामान्यदृष्ट्या ज्ञानविषयभूतमपि सर्वथा (यथा ज्ञातस्तथा) शब्दैरप्रज्ञापनीयम् । अथ च तदखण्डधर्मात्मकं द्रव्यं विभिन्नैर्दार्शनिकैः स्व-स्वपृथक्पृथक्दृष्ट्यैव द्रष्टुं प्रयत्नो विहितः । यथा च वस्तुनोऽनन्तधर्मास्तथैव तद्दर्शकाना दृष्टयोऽपि अनन्ताः, तथा च तत्प्रतिपादकसाधनभूतशब्दा अप्यनन्ता[4] एव सन्ति । अतोऽत्र वस्तुनो स्वरूपं परित्यज्य केवलं कल्पनालोके विचरणशीला दृष्टयः वस्तुनो स्वरूपस्यापृष्टत्वात् दर्शनाभासरूपास्तिष्ठन्ति । अन्याश्च या वस्तुस्वरूपग्राहिण्यः दृष्टयः, स्वतोऽभिन्नस्य वस्तुस्वरूपस्य ग्राहिकानां दृष्टीनामपि संग्राहिकास्ता एव सत्य-प्रतिष्ठिताः ।

एवं वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकस्य स्वरूपस्य ग्राहकेषु विभिन्नेषु दृष्टिकोणेष्वपि दर्शनशब्दस्यार्थः स्वीकरणीयः स्यात् । यतो हि यथा विभिन्न-दृष्टीनां विषयभूतैः पदार्थैरप्यनन्तधर्मा अविरोधेनैव स्वीकृतास्तथा तद्ग्राहकैर्दृष्टिकोणैरपि प्रत्येकमपि पदार्थस्य नित्यानित्य-सदसत्-एकानेकाद्यनन्त-स्वरूपाणां परस्परविरोधिभूतानामपि एकत्रस्थितानां संग्राहकत्वान्न पारस्परिको विरोधः विरोधरूपेण ग्राह्यः, सर्वैरपि एकस्यैव पदार्थस्य विवेचकत्वात् । एतदपेक्षयैवाद्य दार्शनिकसम्प्रदायानां शाखानां वास्तित्वं दृश्यते, यदर्थं तत्तदाचार्यनाम्ना व्यवहारो भवति ।

दर्शनम्-सबलप्रतीतिः

अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो यस्याप्यंशस्य विवेचन (साक्षात्कारानन्तरम्) येनाचार्येण यथा कृतम्, तस्य तस्मिन् दृढ़प्रतीतिरस्ति। सर्वैरपि दार्शनिकैर्विश्वासभूमावेव स्वीयं दर्शनमुत्पाद्य पूर्णता प्रदत्ता। अतोऽनेनार्थेन 'यस्य यस्मिन् (तत्त्वे) सबलप्रतीतिः—दृढा श्रद्धा' सा श्रद्धैव दर्शनमिति। प्रज्ञाचक्षुभिः पं० सुखलालमहोदयैरप्ययमेवार्थः' (सबलप्रतीतिः) स्वीकृतः। दर्शनशब्दस्य 'श्रद्धानम्' इत्यात्मकोऽर्थस्तत्त्वार्थ'-सूत्रकृतापि कृतस्तत्र तैरुक्तं यत्तत्त्वाना वास्तविके स्वरूपे श्रद्धानमेव सम्यग्दर्शनं भवत्यत्र दर्शनस्य सम्यगिति विशेषण सबलत्वमेव प्रकटयति।

दर्शनम्-दिव्यज्योतिः

एवं वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकस्य विभिन्नापेक्षया वर्णितेषु दर्शनेषु, स्ववर्णनव्यतिरिक्तान्यधर्मविवेचकमपरं दर्शनमपि येन दर्शनेन समादरेण संयोज्यते, तद्दर्शनं वस्तुनो धर्माणामनुल्लङ्घनात् सुदर्शनमित्युच्यते। यच्च स्ववर्गव्यतिरिक्तान्यधर्मविवेचकेष्वन्येषु दर्शनेषु ईर्ष्यति, विरुध्यति वा, अथ च केवलं श्रद्धाया एव भित्तौ संस्थित कल्पनालोक एव विचरणशीलमतएव वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मिकी परिधि समुल्लङ्घ्यापि वास्तविकतादभयुक्तं तिष्ठति, तदेव कुदर्शनम् (दर्शनाभासरूपम्) इत्युच्यते। अर्थात् यद् दर्शन वस्तुनोऽनन्तधर्माणां व्याख्याता तिष्ठन् मानवजातेरज्ञानतिमिरमपाकृत्य ज्ञानप्रकाशं दिव्यज्योतिस्वरूपं विस्तारयति, तदेव सुदर्शनं वास्तविकं दर्शनमिति। एवमेवासत्यरूपाज्ञानस्य विनाशाय सत्यरूपं च ज्ञानमधिगन्तुं दर्शनशब्दस्य प्रयोग ईशावास्योपनिषद्यपि प्राप्यते, तद्यथा—

> **हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।**
> **तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥**[10]

अत्र 'दृष्टये' इत्यस्य प्रयोगो दर्शनार्थक एवास्ति।

दर्शनस्योद्देश्यम्

दर्शनानामुत्पत्तेः प्रयोजन निरवशेषदुःखानां निवृत्तिरुत्तमसुखप्राप्तिश्चास्ति। अनेनैवाभिलाषेण दर्शनशास्त्रस्यावश्यकता समभूत। यद्यपि पृथक्पृथक्शास्त्रेषु, विद्यासु शिल्पेषु च दुःखविशेषस्य (दुःख सामान्यस्य) निवृत्तेः, उत्तमसुखस्य (सामान्यसुखस्य) प्राप्तेश्चोपायाः प्रदर्शिताः विद्यन्ते,

परं दुःखसुखसामान्ययोर्निवृत्तिप्राप्त्यर्थं दर्शनशास्त्राण्येवैकमात्रमुपायभूतानि विद्यन्ते ।

भारतवर्षे दर्शनशास्त्राणि मूलत आध्यात्मिकान्येव, अस्यैव सर्वत उपरि-विद्यमानत्वात् । अतएव भारतीयदर्शनस्य विचारो मानवसमुदायमेव पुरस्करोति, न तु कञ्चन काल्पनिकमेकान्तम् । जीवनादेव समुत्पन्नमिदं विभिन्नशाखासम्प्रदायेषु परिभ्रम्य पुनः जीवन एव प्रविशति ।

एव दर्शनस्य जीवनेन सह घनिष्ठसम्बन्धात्मकत्वात् जीवनं दर्शनञ्-चैकस्यैवोद्देश्यपरिणामरूपौ स्तः, यतो हि द्वयोरेव चरमं लक्ष्यमेकम्—परम-श्रेयसान्वेषणम् (मोक्षप्राप्तिः) । जीवनक्रियायाः सवाङ्गीणतायाः निर्मातृणि यानि सूत्राणि, तत्त्वानि वा सन्ति, तेषामेव व्याख्यानं दर्शनस्याभिप्रेयमस्ति । दार्शनिकदृष्ट्या जीवनसम्बन्धिविचाराणामेका विशिष्टा पद्धतिः, कतिपये नियमाश्च सन्ति । एषां नियमानां माध्यमेन जीवनस्य वैज्ञानिकमध्ययनम्, तस्य प्रस्तुतीकरणञ्च दर्शनस्योद्देश्यमिति ।

अथ च अनन्तब्रह्माण्डस्यापरिमेयाद्भुतपदार्थानां समक्षं जीवस्य का स्थितिः, सत्ता च विद्यते ? किञ्च जीवस्य रोदन-हसन-सुख-दुःख-पाप-पुण्य-जन्म-मरणादिविभिन्नरूपाणां रहस्यम् ? एता एव जिज्ञासाः समुद्दिश्य दर्शनस्य प्रादुर्भावो जातः, एष्वेव च तेन विचारितम् । इयमेव जिज्ञासास्मान् जीवं प्रति जगत् प्रति च नवीनान्वेषणानुसन्धानाविष्कारान् प्रति च प्रवर्तयति । आभ्य एव नवीनक्रियाभ्यः प्रवृत्तिभ्यश्च नवीनं ज्ञानम्, नवीनं दर्शनञ्चाप्नुमो वयम् । एवं जीवसम्बन्धिनामाध्यात्मिकाधिभौतिकानां पदार्थानां वास्तविकं विश्लेषण दर्शनस्य कार्यम् । यतोहि जीवस्य मीमांसैव दर्शनशास्त्रस्यैकमात्र-मुद्देश्यम् । तदेवोक्तं प्राचीनैः—

यदाभ्युदयिकञ्चैव नैःश्रेयसिकमेव च ।
सुखं साधयितुं मार्गं दर्शयेत्तद्धि दर्शनम् ॥

दर्शनानां परस्परं समन्वयः

जगतः प्रत्येकमपि जातेर्दर्शनं तत् समग्रजीवनस्य प्रतिबिम्बरूपं भवति । अतः यस्य कस्यापि देशस्य दर्शनशास्त्रं तद्देशीयसभ्यतायाः संस्कृतेश्च सर्वतो मूल्यवान् पदार्थः । तत्तद्देशीयदर्शनशास्त्रस्य विभिन्नाः धारणा धार्मिकेन सांस्कृतिकेन च वातावरणेन प्रभाविताः भवन्ति । देशकालदृष्ट्या च विश्वस्य प्रत्येकमपि जाते आचारेषु विचारेषु च भिन्नता परिवर्तनं वा दृष्टि-

गोचरं भवत्येवातः कस्मिंश्चिदपि देशे समुत्पन्नस्य दर्शनशास्त्रस्य (विचार-शास्त्रस्य) विभिन्नसम्प्रदायेषु पारस्परिके विरोधे सत्यपि वातावरणीय-समानतया तेषां सम्प्रदायानां मतेष्वपि साम्यमवलोक्यते । यतो हि तत्त्वतस्तु सम्पूर्णा मानवतैकैवास्ति, तस्याः लक्ष्यमप्येकमेव, तस्या विचाराणां मूलोद्-गमः, पर्यवसानश्चैकस्मिन्नेव लक्ष्ये निहितोऽस्ति ।

अनया दृष्ट्या विश्वस्य सर्वासामपि जातीनां दार्शनिकविचारधाराष्व-नेकत्वे सत्यपि एकत्वमेव विद्यते । अनेनैव हेतुनाभारतीयदार्शनिकसम्प्रदाया-नामनेकत्र विरोधे सत्यप्येकतावलोक्यते । अनेकतायामेकताया इममेव तात्त्विकमभिप्रेयं कविकुलशिरोमणिर्महाकविकालिदासः प्रतिपादितवान्—

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥"

दर्शनानां वैभिन्यम्

एवं भारतीयदर्शनाना विभिन्नैः सम्प्रदायैरिदं सुस्पष्टं भवति, यद्-भारतीयं विवेचन विभिन्नैर्मौलिकैर्दृष्टिकोणैस्तत्त्वानि विवेचयितुं समर्थम् । एते सर्वेऽपि दार्शनिका. स्वस्वदृष्ट्या परमतत्त्वानां विवेचनेनान्योन्यपूरकाः सन्त्यधिकारिभेदात्तु तेषु भेद स्वाभाविक एव । तत्र नानादृष्टिभिर्विवेचिताना तत्त्वानामेकमालाया गुम्फनस्य श्लाघनीय उद्योग दृश्यतेऽत एषु सम्प्रदा-येष्वैक्यमेव, न तु वैभिन्य, सामञ्जस्यमेव न विरोध इति ।

भारतीयदर्शनानि जैनदर्शनञ्च

दर्शनानां संख्यानिर्णयः

अनादिकालादेव जगति दुःखं विद्यते तन्निवृत्यर्थञ्च महद्भिः ऋषिभि-र्बहुशस्तपस्तप्तम् । बाह्याभ्यन्तरसाधनैश्च ज्ञानिनो तपसि सफलत्वमधि-गच्छन् । ज्योतिर्मयस्य परमतत्त्वस्य स्वरूपं तैस्साक्षात्कृतञ्च । तथा च तत्र स्वीयानुभवाः शब्दमाध्यमेन लोककल्याणार्थं शिष्यपरम्परया विस्तारिताः । यस्मिन् शास्त्रे ग्रन्थे वा कस्यचिद्व्यक्तिविशेषस्य दृष्ट्या परमतत्त्वस्य प्रति-पादनं, तदनुभूतिसाधनमार्गस्य निर्देशश्च कृतः विद्यते, तदेवैकं 'दर्शन-शास्त्रम्' इति । येन व्यक्तिविशेषेण स्वदृष्ट्या यस्य स्वरूपस्य विशदं प्रति-पादनं कृतं सा दृष्टिस्तत्साधनञ्च तद्व्यक्तेर्नाम्ना सम्बद्धमभविष्यदिति कल्पितुं

प्राप्यते । ऋषीणामिमा अनुभूतयो वैयक्तिकत्वाद् भिन्नाः भिन्ना आसन्, अत-एव पृथक्पृथग्विभिन्नदर्शनानां समूहोऽद्यावलोक्यते ।

दर्शनानां संख्यानिर्णयः

दर्शनानां संख्याविषये 'षड्दर्शन'मिति नाम बहुधास्माभिः श्रुतम् पठितञ्च परमस्यान्तःभूतानि कानि दर्शनानि, कानि चास्माद्बहिर्भूतानि ? अत्र नास्ति कयोरपि द्वयोः विदुषोरेकमत्यम् । अथ चायं 'षड्दर्शनम्' इति शब्दोऽपि नातिप्राचीनतम. । अत्रेदमप्यवधेयम्—यद्दर्शनानां संख्या न कदापि सुनिश्चितासीत्, नापि भवितुं शक्नोति । यस्य विदुषः येषु दर्शनेषु स्नेह आसी-त्तेषामेवास्यान्तःपरिगणनं तेन कृतमथवा नियतसंख्याकानामपि परिगणनं विधाय प्रतिपादनं कृतम् । तद्यथा—

प्राचीनतमेषु ग्रन्थेषु शङ्कराचार्यस्य 'सर्वसिद्धान्तसंग्रहो' मुख्यः । अस्मिंश्च क्रमशः—लोकयत—आर्हत्-बौद्ध (वैभाषिक-सौत्रान्तिक—योगाचार—माध्यमिकाः) वैशेषिक—न्याय-भाट्टमीमांसा-प्राभाकरीममांसा—सांख्य-पातञ्जल-व्यास-वेदान्तादीनां दशदर्शनानां चर्चा विद्यते । हरिभद्र-सूरिणा स्वीये 'षड्दर्शनसमुच्चये'—बौद्ध-नैयायिक-कपिल-जैन-वशेषिक-जैमिनिप्रभृतिषड्दर्शनानां विवेचन कृतम् । जिनदत्तसूरिमहोदयैश्च स्वीये 'षड्दर्शनसमुच्चय'नाम्निग्रन्थे-जैन- मीमांसा - बौद्ध-सांख्य-शैव-नास्तिकादीनां षड्दर्शनाना परिगणनपूर्वकं प्रतिपादन कृतम् । राजशेखरसूरिणा च—जैन-सांख्य-जैमिनि-योग—(न्याय) वैशेषिक-सौगतादिदर्शनानां विवेचनं, तथा च काव्यानां टीकाकर्तृरूपेण प्रसिद्धानां मल्लिनाथमहाभागानां पुत्रेण-पाणिनि-जैमिनि-व्यास-कपिल अक्षपाद-कणादादिदर्शनानां विश्लेषणम् षड्दर्शनरूपेण कृतम् । हयशीर्षपञ्चरात्रे गुरुगीतायाञ्च, गौतम-कणाद-कपिल-पतञ्जलि-व्यासजैमिनिप्रभृतीनामन्तर्भावो षड्दर्शनरूपेण विद्यते ।

अथ च 'शिवमहिम्नःस्तोत्रे'—सांख्य-योग-पाशुपत वैष्णवदर्शनानां, कौटिल्यस्यार्थशास्त्रे-सांख्य-योग-लोकायतानां, माधवाचार्यस्य 'सर्वदर्शनसंग्रहे'-चार्वाक-बौद्ध-आर्हत्-रामानुज-पूर्णप्रज्ञ (माध्व)-नकुलीशपाशुपत-शैव-रसेश्वर-औलूक्य-अक्षपाद-जैमिनि-पाणिनि-सांख्य-पातञ्जल-शाङ्करप्रभृतीनां, मधु-सूदन सरस्वतिना च सिद्धान्तबिन्दौ, शिवमहिम्नःस्तोत्रस्य टीकायाञ्च-न्याय-वैशेषिक-कर्ममीमांसा- शारीरकमीमांसा-पातञ्जल-पञ्चरात्र - पाशुपत-बौद्ध-दिग-म्बर-चार्वाक-सांख्य-औपनिषद्प्रभृतिदर्शनानां नामोल्लेखः विसदृश-संख्याकः प्रतिपादितः ।

दर्शनानामेभिः परिगणनैर्नतु नामसु नापि संख्यासु कुत्रापि मतैक्यं प्रतिभाति । सत्यामिमावस्थायां 'षड्दर्शनमिति' शब्देन कोऽर्थोऽवगम्येत ? वस्तुतस्तु–नास्त्यस्य शब्दस्य कश्चन् विशिष्टोऽभिप्रायोऽस्तो न कोऽपि प्रामाणिकः सिद्धान्तः 'षड्दर्शनमि'त्याधारेण निश्चेतुं शक्यते ।

दर्शनानां वर्गीकरणम्

एषां सर्वेषामपि दर्शनानां यो विभागो मुख्यतयास्तिक-नास्तिकात्मको दार्शनिकैः कृतो विद्यते, तत्र केचन् वैदिकदर्शनान्यवैदिकदर्शनानीत्युक्त्वा पूर्वोक्तमतात्किञ्चित्स्वमतवैभिन्न्यं प्रकटयन्ति। परन्त्वत्रापि स्थूलरूपेण वैदिकदर्शनपदेनास्तिकदर्शनाना, अवैदिकदर्शनपदेन च नास्तिकदर्शनानामेव बोधो भवति ।

इत्थं भारतीय-दर्शनस्य प्रमुखतया द्वावेव भेदौ वर्तते। तत्र जैनदर्शनस्य स्थानं प्रायशः नास्तिक एव विभागे दार्शनिकै स्वीकृतम् । परमत्र पूर्वोक्त-आस्तिकनास्तिकविभागे येषां दार्शनिकसिद्धान्तानां गणनाचार्यैं कृता विद्यते, सा न न्यायोचिता, यतो ह्ययास्तिकशब्दस्य याः व्याख्याः प्राचीनतमैराचार्यैः कृताः विद्यन्ते, तदनुसारन्तु नास्तिक-विभागस्थितानां केषाञ्चन् दर्शनानां ग्रहणमास्तिकविभागेऽथ च नास्तिकशब्दस्य याः परिभाषास्तत्र प्राप्यन्ते, तदनुसारमास्तिकविभागस्थितानामनेकदर्शनाना स्थानं नास्तिकश्रेण्यामेव भवितव्यम् । अतोऽत्र विचारे कृते सति ज्ञायते यदस्य विभाजनस्यापि न प्रामाण्यम् । एतदर्थमेतावताकालेन निश्चितानामास्तिक-नास्तिक-परिभाषाणां पर्यालोचनमावश्यकम् ।

आस्तिक-नास्तिकविवेचनम्

संस्कृतवाङ्मये आस्तिक-नास्तिकविषयमधिकृत्यानेकानि भिन्नानि मतानि सन्ति, परन्त्वद्यप्रभृति प्रमुखानि चत्वार्येव निम्नाङ्कितानि मतानि सन्ति—

१. पाणिनेः सिद्धान्तानुसारं 'यः जगतः कारणं सत् (भावरूपं) स्वीकरोत्यर्थात् उत्पत्तेः प्रागपि जगतोऽस्तित्वमासीद् इति स्वीकरोति स आस्तिकः, यश्चान्य. जगतः कारणमसत् (अभावरूपं) स्वीकरोत्यर्था'दुत्पत्तेः प्राक् जगतोऽस्तित्वं नासीदिति' स्वीकरोति सः नास्तिक.'[१] ।

२. 'य इहलोकं परलोकञ्च स्वीकरोति, स आस्तिकः' 'यश्चेमे अस्वीकरोति सः नास्तिक' इति, पतञ्जलेः सिद्धान्तः ।[१]

३. मन्वादिस्मृतिकाराणाम्मते तु यो वेदस्यापौरुषेयताम्मान्यतादींश्च स्वीकरोति स आस्तिकः, यश्च वेदानां निन्दकः तेषाम्मान्यतां सत्तां वापौरुषेयत्वं वास्वीकरोति सः नास्तिकः[१४]।

४. सम्प्रति च सामान्यजनप्रचलितं पुराणसम्मतमिदम्मतम्—'य ईश्वरस्य परमेश्वरस्य वा सत्तादीन् स्वीकरोति तं प्रति श्रद्दधाति च' स आस्तिकः, एतद्विपरीतलक्षणो नास्तिक इति।

दार्शनिकः सिद्धान्तः

दार्शनिके जगति पाणिनेः सूत्रानुसारिणी या परिभाषा दार्शनिकत्व-कोटियुक्ता वर्तते, तदनुसारं जगतः कारणं सद्वादिनमसद्वादिनं वास्तिकना-स्तिकव्यवहारः समुचितः प्रतिभाति। छान्दोग्यश्रुतावपि सिद्धान्तोऽयं स्वीकृतः वर्तते।[१५] गीतायामपि षोडशतमेऽध्यायेऽयमेवाशयो विद्यते श्रीमतां व्यास-महोदयानाम्।[१६]

नियमेनानेन तु बौद्धदर्शनं विनान्यानि सर्वाण्यपि दर्शनानि यानि भाव-रूपाज्जगत उत्पत्तिं स्वीकुर्वन्त्यास्तिकपदेन व्यवहर्तुं शक्नुवन्ति, यतो हि चार्वाकदर्शनमपि चतुर्णां पदार्थानां सत्ताया एव सम्पूर्णजगतः परिणामं स्वीकरोति। शङ्कराचार्यैरपि स्वीये उपनिषद्भाष्ये[१७] (शारीरिके भाष्ये[१८] च) अयमेवार्थ आस्तिकनास्तिकशब्दयोः स्वीकृतः। ते नास्तिकाः, वैनाशिकाः प्रभृतिभिः शब्दैः बौद्धान् आह्वयन्ति। यतो हि त एवोत्पत्तेः प्रागभावरूपं जगदामनन्ति।

पतञ्जलेः सिद्धान्तः

पाणिनीयव्याकरणानुसार 'अस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स अस्तिकः नास्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स नास्तिक' इति व्याख्ययास्तिकनास्तिक-शब्दौ सिध्येते। विद्वद्भिश्चाप्ययमेवार्थ एकस्वरेण समाद्रियते। सिद्धान्तस्यास्य मनुष्याणां दैनिकव्यवहारादतिरिक्त आध्यात्मिकव्यवहारे, जीवनसाफल्ये कियन्महत्वमासीदिति कठोपनिषद. ज्ञायते—'यदा नचिकेता यमं तृतीयं वरं याचते, तदा स. पृच्छति 'यन्मरणानन्तरमप्ययमात्मा तिष्ठति' (आत्मनोऽस्तित्वं स्यात्) इत्यास्तिकपाक्षिकाः कथयन्ति, 'न तिष्ठति' (मरणा-नन्तरं नात्मनः किञ्चनास्तित्वं न स्यादर्थाज्जीवस्य म्रियमाण आत्मापि म्रियतेऽथवा जीवस्य मरणमेवात्मनः मरणमिति) नास्तिकपाक्षिकाः (अन्ये) कथयन्ति। अतः भोः यमराज! भवतानुशासितोऽहमिदं ज्ञायेम, यदनयोः पक्षयोः कतरः पक्ष उचितः, अयमेव तेषु वरेषु तृतीयः वरः'[१९] इति।

अनेन ज्ञायते यत्तदा केवलमास्तिकनास्तिकपक्षस्वीकरणस्यायमेव सिद्धान्तः मूलाधाररूप आसीत् । अस्य समादरोऽद्यापि सर्वैर्दार्शनिकैरविरोधेन क्रियते । अस्यैव पुष्टिः महामुनिना पतञ्जलिना स्वीये भाष्ये पाणिनेः सूत्रं व्याख्याययता कृता ।

सिद्धान्तेमानेन तु जैनदर्शनस्यास्तिकत्वमेव प्रकटति । यतो हीहलोक-परलोकयोर्यादृशं विस्तृतं विवरणं, तयोः प्राप्त्यप्राप्तिहेतूनां विवेचनं, इह-लोकपरलोकप्राप्तिफलं, इहलोकात्परलोकस्य साफल्यायेहलोकप्राप्तिहेतूनां हेयत्वं, परलोकप्राप्तिहेतुषु च मोक्षप्राप्तिव्यतिरिक्तहेतूनामपि हेयत्वं प्रति-पादितम्, अर्थाद्यथान्यास्तिकदर्शनेषु यादृशं महत्वमिहलोकपरलोकयोर्विद्यते, न तन्न्यूनमपितु प्रकृष्टतमं महत्वं जैनदर्शने स्वीकृतं विद्यते, येन न ते नास्तिकत्वेन युज्यन्ते ।

स्मृतिसिद्धान्तः

मन्वादिस्मृतिकाराणाञ्च यन्मतमासीद्, तेनैव प्रायः जैन-बौद्धानां नास्तिकत्वं भारतीयैः पाश्चात्यैर्वा दार्शनिकैः पण्डितैश्च साध्यते । किन्तु अत्रेमं सिद्धान्तमुद्दिश्य यदि दार्शनिकसम्प्रदायेषु दृष्टिपातः क्रियते, तदा ज्ञायते, यद्यादृशा आस्तिकपदभाजा अन्ये दार्शनिका. वेदनिन्दकाः, न तथा तत्सदृशाः वा जैनाः तिष्ठन्ति, अतः कथं जैन-बौद्धानां नास्तिकत्व विद्वद्भिरविचार्यैव स्वीकृतमिति विचारणीयं विद्यते ।

वेदनिन्दकत्वं नास्तिकत्वम्

मनुस्मृत्यनुसारं 'नास्तिको वेदनिन्दकः' । परन्तु जैनाः वेदानां निन्दकाः केवलमनेनैव हेतुना सिध्यन्ति, यत्ते वेदानां पौरुषेयत्वमेव स्वीकुर्वन्ति, नापौरुषेयत्वम् । यच्च बुद्धिप्रयोगात् सिध्यत्येव, इदमन्यत्र विचारणीयम् । अत्र तु केवलमिदमेव विवेचनीयं यज्जैनैस्तु वेदानामपौरुषेयत्वस्यास्वीकरणेन 'नास्तिकपदं' प्राप्तं, परं ये खलु वेदानां सघननिन्दायां संलग्नाः सन्ति, ते कथमनेन पदेन वञ्चिताः ?

शङ्कराचार्यमहोदयानुसारं—वस्तुतः दार्शनिकेषु एषु द्वावेव दार्शनिकौ (बादरायणः जैमिनिश्च) वेदमन्त्रपुष्पेषु स्वसूत्रसाहाय्येन वैदिकाचार्याणामेकां सुव्यवस्थितां मालां स्वदर्शनरूपेणोपस्थापयन्ति । शेषास्तु तार्किकाः एव सन्ति, तेषां वैदिकदर्शनेऽप्रवेशः इति तर्कपादभाष्ये[७] व्यक्तीकृतः ।

परं याविमौ प्रमुखौ वैदिकदार्शनिकौ, अन्ये चास्तिकपदभाजः दार्शनिकाः, कियन्तः वेदनिन्दकाः सन्तीति विचार्यते ।

वेदेषु पारस्परिकं निन्दनम्

प्राचीनेष्वाचार्येष्वेकं विशिष्टं मत वेदत्रयीसमर्थकमासीत् । येनाथर्ववेदस्य वेदत्वमप्यस्वीकृतम् । मनुस्मृतिरपि तत्सम्प्रदायसम्बन्धिनी, इति तु सर्वैः पण्डितैः सुविदितमेव । किन्तु तत्रापि यजुर्वेदीयाः सामवेदं, सामवेदीयाश्च यजुर्वेदं निन्दयन्त आसन् । तदैव तु मनुस्मृतौ सामवेदस्य वेदत्वं तु दूरं तिष्ठतु, तस्य ध्वनिरप्यपवित्रेति सुस्पष्टमुद्घोषितम्[२१] । अन्यत्र गीतायां व्यासैरयमेव सामवेदः 'वेदेषु श्रेष्ठतम' इति भगवतः श्रीकृष्णस्य मुखात्प्रतिपादितम्[२२] । इत्थमत्र पारस्परिक वेदनिन्दकत्वमेषां तु विद्यत एव ।

उपनिषदां वेदनिन्दकत्वम्

अथ चोपनिषत्कारैः कैश्चिदाचार्यैस्तु प्रत्यक्षत एव सुस्पष्टं वेदसिद्धान्तानां खण्डनं विधाय तेषां निःसारत्वमुक्तम् । तथाहि—ऋग्वेदे तावत् यज्ञक्रियायाः समर्थने विहितम्—'यज्ञे पुरुषा यज्ञनौका नारोहितवन्तस्ते कुकर्मिणः, नीचावस्थायाञ्च पतितास्तिष्ठन्ति'[२३] । इत्यस्योत्तरे मुण्डोपनिषत्कारैरभिहितम् 'भोः वेद ! त्वदीयेयं नौका जीर्णा, शीर्णा, पाषाणमयी च विद्यते, अतः ये त्वत्सदृशाः मूर्खा इमां कल्याणदेति मत्वानन्दन्ति तेऽस्मिन् जगज्जलधौ जन्ममरणसदृशान् बुद्बुदावर्तान् आप्नुवन्ति ।[२४]

अथ चास्यामेवोपनिषदि चत्वारो वेदाः 'अपरा विद्या'[२५], अतएव 'सासारिकविद्ये'ति भणितम् । अन्येष्वनेकेष्वपि स्थलेषु ईदृशमेव दृश्यते, येन ज्ञायते, यदुपनिषत्कारैरपि वेदानां मुक्तिहेतुत्वस्य क्रियाकाण्डस्य च निन्दा विहिता, अत एव तेऽपि वेदनिन्दकाः ।

व्यासोऽपि वेदनिन्दकः ?

किञ्च, सर्वथा वेदसिद्धान्तान् व्यक्तीकर्तुं व्यास एवाग्रसरः, इत्यस्त्यास्तिकदर्शनसमर्थकानां सम्मतिः । परन्त्वेषामपि श्रीमद्भगवद्गीताया अध्ययनेन ज्ञायते यद्व्यासैस्तु यादृशं वेदाना सांसारिकत्वं, मुक्तिप्राप्त्यै चासमर्थकत्वं वर्णितं, न तथान्यत्र क्वचिन्नास्तिकदर्शनेष्वपि दृष्टिगोचरं भवति । तथाहि गीतायामष्टमेऽध्याये शुक्लकृष्णगत्योः कथनं कृतम्,[२६] तत्र वेदेषु, यज्ञेषु, तपःसु

च विहितं पुण्यं साररहितं संस्मृत्य, वेदादिकस्य पठनं कृष्णमार्गमित्युक्त[१७]-मेवञ्चैकादशतमेऽध्याये परमपुरुषस्य ब्रह्मणः प्राप्त्यै वेदानां तपसश्चास मर्थ्येन वेदानां मुक्तिहेतोर्गौणत्वं प्रतिपादितम्[१८]। नवमेऽध्याये च वेदानां फलं स्वर्गं प्रदर्श्य, पुण्ये क्षीणे सति पुनः मृत्युलोके आगमनमुक्तम्।[१९]

वेदानां लौकिकत्वम्

अथ च द्वितीयेऽध्याये 'ये वेदवाक्यरतास्ते स्वर्गाद् भिन्नं मोक्षं न प्रवदन्ति अतश्चेमेऽविवेकिनो जनाः जनरञ्जनार्थं लोभयुक्तां विस्तारपूर्विकां वाणीं वदन्ति[१०]।' अतः भोः अर्जुन ! जगति बध्वा स्थापयितुं त्रिगुणात्मिका रज्जुरिवेमे त्रयो वेदाः सन्तीति ज्ञात्वा त्वमेतान् विमुञ्च्य त्रिगुणातीतो भव[११]। तथा च विभिन्नश्रुतिभिः—परस्परविरुद्धवेदमंत्राणां श्रवणात्, विचलिता बुद्धिर्यदा शुद्धात्मनि (परमात्मनि) स्थास्यति, तदा त्वं समत्वं योगं प्राप्स्यतीति स्पष्टमुल्लिखितम्।[१२]

गीताया इमे शब्दा. सुस्पष्टमुद्घोषयन्ति यद्व्यासैरपि मुक्तिहेतुत्वस्य खण्डनं विधाय वेदानां सांसारिकत्वं च समुद्भाव्य न वेदसिद्धान्तानां समर्थनं कृतमपितु यथाशक्यं खण्डनव्याजेन निन्दनमेव विहितमतः मनोः परिभाषानुसारमेषामपि समादरः नास्तिकश्रेण्यामेव भवितव्यः।

नास्तिको वेदनिन्दकः ?

किञ्च दशसु अङ्गिरसेषु कपिलस्य प्राधान्यं ऋग्वेदे स्वीकृतं विद्यते[१३]। अनेन ज्ञायते यत्कपिलमुनेस्तात्कालिकः प्रभाव इयान्नधिक आसीत् येन प्रभावितैः ऋग्वैदिकैराचार्यैरपि तेषा नाम समादरेण संस्मृतम्। परं स एव कपिलः महाभारते शान्तिपर्वे (२६८ अध्याये) गोः सम्वादे समुद्घोषयति—यद्वेदसम्मतोऽपि हिंसायुक्तो धर्मः (वैदिकधर्मः) न धर्मकोटिमधिगच्छति। तैरस्य धर्मस्य विरोधे प्रचारमपि कृतमासीत्। परं स एव कपिलः, यं वेदाः स्तुन्वन्ति, वेदविरोध्यासीत्। किम्बहुना, वेदेष्वप्येको ऋषिरन्यस्यान्यश्चापरस्य विरोधं निन्दनं च करोति। इत्थं पूर्वापरऋषीणां पारस्परिकं विरोधबाहुल्यमेव दृश्यते। सत्यामस्यामवस्थायां कं ऋषि 'आस्तिक' इति, कञ्च 'नास्तिक' इति व्यवहारो कुर्यामो वयम् ? अस्मिन् किंकर्त्तव्यताविमूढावसरे यदि जैनदार्शनिकाः नास्तिकोपाधिना व्यासप्रभृतिसदृशाश्चास्तिकोपाधिना विभूषितास्तन्न किमप्याश्चर्यजनकम्।

किञ्च—'वेदनिन्दको नास्तिकः' परिभाषेयं यैर्दार्शनिकैः स्वीक्रियते, तदनुसारं तु सम्पूर्ण हिन्दुसमाजमेव नास्तिकश्रेण्यामागच्छति। यच्चोपर्युक्तानां दार्शनिकाचार्याणां वेदनिन्दकत्वेऽपि आस्तिकत्वमद्य प्रभृत्यपि स्वीक्रियते तज्जैनादीनामपि प्रागभवितव्यमन्यथैषामपि महापुरुषाणामद्य यावत्केनचित् यदाकदाचित् नास्तिकश्रेण्यां स्थानं निर्धारितं स्यात्। यदि प्राचीनैः पण्डितैरिदं न व्यवस्थितं, तत्सम्प्रति सर्वथा विकसितेऽस्मिन् समये सर्वैरपि शेमुषीमद्भिरस्यालोचनं विधाय निर्णयो कर्त्तव्यः।

पुराणसम्मतः सिद्धान्तः

यच्च वर्तमानकाले प्रचलितं पुराणसम्मतमीश्वरस्वीकारास्वीकारविषयकमास्तिकनास्तिकमतं प्रवर्तते, तेनापि न जैनाः 'नास्तिकाः' सिध्यन्ति! यतो हि—तैस्स्वीकृतस्सर्वज्ञः एवेश्वररूपेण तत्सम्प्रदाये तथैव समाद्रियते, यथान्यसम्प्रदायेषु 'ईश्वर'पदवाच्यो देवः। केवलमयमेव विशेषो विद्यते सर्वज्ञे, यत् सः जगतः कर्ता, स्रष्टा वा न भवति। यदा ह्यन्यसम्प्रदायेष्वीश्वर एव जगतः कर्ता, स्रष्टा, पालकस्संहर्त्ता च भवति। अस्य नायमभिप्रायो यत्कर्तृत्वादिगुणानामस्वीकरणेन जैनेरीश्वरस्यैव सत्ताऽस्वीकृता, यतो हि तस्येश्वरस्यान्ये सर्वेऽपि गुणास्तथैव स्वीकृताः, यथान्यैः। अतः यथा कस्यचित्पदार्थस्य सत्तायाः स्वीकारेऽपि, तस्मिन् शक्तिविशेषस्याऽस्वीकारो न तत्पदार्थस्यास्वीकरणम्भवति, तथैवेश्वरसत्तायाः स्वीकारेऽपि, तस्मिन् शक्तिविशेषस्य जगदुत्पादकत्वादिकस्यास्वीकारो नेश्वरसत्ताऽस्वीकारो भवितु शक्नोति।

जैनानामीश्वरः

जैनमतानुसारं परमेश्वरः (ईश्वरः) जगतः कर्ता, स्रष्टा, शास्ता वा नास्ति, अपितु सः सर्वज्ञ आनन्दमयश्च वर्तते। सः शुद्धः, सिद्धः, पञ्चभौतिकशरीरेण विरहित, एकोऽविनाशी, अपरिवर्तनीयश्च वर्तते। अर्थात्तस्य नाशः (जन्म मृत्युर्वा) न कदापि भवितुमर्हति। नापि सः च्युतो भूत्वा भ्रष्ट भवितुमर्हति।

शुद्धः पवित्रश्चात्मेश्वरश्च वस्तुत एक एव। यतो हि प्रत्येकस्य विशिष्टात्मनोऽन्तिमं प्रयोजन पवित्रशुद्धरूपेण परिवर्तनमेवार्थात्प्रत्येकस्यात्मनः परमेश्वररूपेण स्थितिरेवान्तिमं प्रयोजनम्। यस्मिन् परमात्मत्वस्य सर्वे गुणास्सन्ति। परन्त्वेषु गुणेषूत्पादकत्वशासकत्वादिरूपाः गुणाः जैनदार्शनिकैर्नानुमताः।

जैनदर्शनानुसारं साधारणोऽप्यात्मा स्वीयं वास्तविकं स्वरूपमजानन्ननादिकालाद्रागद्वेषेष्वासक्तोऽतः स न कदापि शांतो भवति। रागद्वेषाभ्यां विमुञ्चिते सत्यात्मा शान्तो स्वस्थश्च भवति। यदा बाह्यकृत्रिमव्यवहारेभ्यः सर्वथा विमुक्तो भवति, तदा स्वकीये वास्तविके जीवने तिष्ठन् सर्वज्ञः सर्वानन्दमयोऽविनाशी, किम्बहुना परमात्मैव भवति। इत्थमत्र नास्ति परमेश्वरस्येश्वरस्य वा सत्तायाः निषेधोऽपितु परमात्मनि प्राणिनामन्यपदार्थानाञ्चोत्पादकत्वस्य, दण्डप्रदानस्य, पारितोषिकप्रदानस्य वा गुणो नास्ति। अतः कथं जैनदार्शनिकान् आत्मनः (परमात्मनः) पवित्रां सत्तां स्वीकृतेऽपि, तेषां श्रेण्यां स्थातु शक्नुमः, येषां सिद्धान्ते देहात्पृथगात्मनः सत्ताऽस्वीकृता विद्यते ?

ईश्वरशब्दप्रयोगः

किञ्च, संस्कृत-वाङ्मयस्य परिशीलनेनेदं ज्ञायते, यदीश्वरशब्दस्य परमेश्वरेऽर्थे प्रयोगोऽर्वाचीनसमयादेव संस्कृतसाहित्ये प्रयुक्तः, न पुरेश्वरस्यार्थः 'परमेश्वर' इति ग्रहीतः स्यात्। पौराणिककाले शैवसिद्धान्ते शिवाय य ईश्वरशब्दस्य प्रयोग आसीत्, स एव पौराणिककालानन्तरं शैवधर्मात् संस्कृतावपि प्रविष्टोऽभूत। शनैश्शनैश्चेश्वरार्थेऽपि प्रचलितः। नास्तीदानी काप्येतादृशी पुस्तिका यस्यामीश्वरशब्दात्परमेश्वरस्यार्थो नावगम्यते।

ईश्वरशब्दस्यार्थः

किञ्च, पाणिनीयसूत्रेषु ईश्वरशब्दस्यार्थान्वेषणेन ज्ञायते, यत्-ईश्वरशब्दस्य प्रयोगः स्वाम्यर्थे एव[१४] विद्यते। पतञ्जलेः उदाहरणेष्वीश्वरस्यार्थः 'राजा'[१५] अपि प्राप्यते। सत्यामिमामवस्थायामीश्वरशब्दस्य परमेश्वरेऽर्थे प्रयोगात्प्रागेव दार्शनिकदृष्ट्या 'ईश्वर स्वीकुर्वाण आस्तिकाः, अस्वीकुर्वाणश्च नास्तिकाः' इति मतमासीदिति कथं कथितुं शक्नुमो वयम्। यदा हि तस्योत्पत्तिः स्थितिश्च ईश्वरपरमेश्वरसम्बन्धि-परिभाषायाः प्रागेव सिध्यति।

किञ्च, यदा पुरेश्वरस्वीकारास्वीकार एवास्तिकनास्तिकव्यवहारहेतुरासीत्तत्कथ वैशेषिकैः, सांख्यैः, पूर्वमीमासकैश्च (कणाद-कपिल-जैमिनिभिश्च) स्वीयेषु दर्शनेषु ईश्वरस्योल्लेखोऽपि न कृतः ? 'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनादि'[१६]त्युक्त्वा नैयायिकेन गौतमेन, 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' इत्युक्त्वा[१७] योगिना पतञ्जलिना चानुषङ्गिकस्येश्वरस्य प्रसङ्ग उत्थापितः।

अत्र एषु सूत्रेष्वीश्वरशब्दस्य परमेश्वरार्थे प्रयोगादेषां सूत्राणां पाणिनितः प्राचीनता, तथा च महाभाष्यकारपतञ्जलेः, योगसूत्रकारपतञ्जलेश्चाभिन्नतापि विद्वद्भिर्विचारणीया ?

अथ च व्यासमहोदयानां श्रीमद्भगवद्गीतायामीश्वरशब्दस्य प्रयोगो क्वचिद्राज्ञोऽर्थे क्वचिच्च परमेश्वरेऽर्थे (द्विप्रकारकः) प्राप्यते । 'ईश्वरोऽहमहं भोगी, सिद्धोऽहं बलवान्सुखी'[३८]त्यत्र राज्ञोऽर्थे, 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठती'[३९]त्यत्र च परमेश्वरेऽर्थे विद्यतेऽत इदमपि विचारणीयं विद्यते ।

ईश्वरस्यानावश्यकता

वस्तुतस्त्वेषु सिद्धान्तेषु ईश्वरस्यावश्यकता नावश्यिकी प्रतिभाति, यतो हि—दार्शनिकविचारानुसारं तु नेश्वरः परमपुरुषार्थप्राप्त्यै सहायकः, तदर्थं तु विभिन्नैर्दार्शनिकैः स्वस्वदर्शनेष्वभिव्यक्तानां पदार्थानां तत्त्वज्ञानादेव मोक्षप्राप्तिरभिहिता । तथा हि—कणादेन स्वषड्पदार्थज्ञानं,[४०] गौतमेन च षोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानं,[४१] कपिलेन च प्रकृति पुरुषयोर्भेदज्ञानं[४२] मोक्षावाप्तिकारणमुक्तम् । पतञ्जलिना तु 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'[४३] 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'[४४] इत्युक्तम् । एवञ्च जैमिनिना धर्मानुष्ठानेन नित्यसुखरूपा मोक्षसत्ताभिहिता । ईश्वरस्योपयोगस्त्वेषां सिद्धान्तेष्वायाति नैव ।

एभ्योऽनन्तर जातैः भाष्यकारैरन्यान्यटीकाकारैश्च सहान्यान्यग्रन्थकारैरपि (न्यायकुसुमाञ्जलिकारैः, ईश्वरानुमानचिन्तामणिकारैश्च) वैशेषिके, न्यायदर्शने च प्रत्यक्षत एवेश्वरस्य प्रवेशः कृतः । किन्तु मीमांसायां, सांख्यदर्शने च कस्मिंश्चिदपि ग्रन्थे प्रत्यक्षत ईश्वरसिद्धेरुल्लेखस्याभाव एव वर्तते । परं शङ्कराचार्यमहाभागैस्तु 'पत्युरसामञ्जस्यात्' इति सूत्रे भाष्ये निगदितम्-'केचित्तावत् सांख्ययोगव्यपाश्रयाः कल्पयन्ति प्रधानपुरुषयो अधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वरः, इतरेतरविलक्षणाः प्रधानपुरुषेश्वराः, इति । वैशेषिकादयोऽपि केचित् कथञ्चित्स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारणमीश्वर इति वर्णयन्ति ।'[४५]

अनेनेयत्तु सुस्पष्टमेव ज्ञातं यत्सांख्यस्य वैशेषिकस्य च प्रक्रियायाः मूले नासीदीश्वरस्वीकारः, तदपि कैश्चिद्भविष्ये ईश्वरप्रवेश कारितस्तत्र । एवमेव मीमासकेष्वपि यत् 'कर्मणा ईश्वराय समर्पणेन मोक्षो भवती' त्युक्त्वा[४६] ईश्वरप्रवेशः कारितः । अस्माद्धेतोः यदि वेदानां यमः, प्रजापतिः, सूर्योऽग्निः, पुरुषो

वा, उपनिषदां ब्रह्म, पुराणानामीश्वरः, वर्तमानकालिक ईश्वरः परमेश्वरो वा यदि न स्वीक्रियते, (न सन्तु) तर्हि नास्ति काचन हानिरिति ।

जैनदर्शनस्यास्तिकत्वम्

वस्तुतस्तु—भारतीय-दर्शनेषु दार्शनिकैः शाखारुन्धतीन्यायेन एव स्वस्व-विचाराणि व्यक्तानि, मूलसिद्धान्तेषु तु कस्यचिदपि न केनापि विरोधो विद्यते। यस्य दृष्टौ यद्वस्त्ववश्यं प्राप्तव्यमासीत्तत्तेन व्याख्यातं, अन्यपदार्थाश्चाभ्युपगमवादन्यायेन गौणरूपं प्रदत्तम् खण्डनं वा कृतम् । अतएव संस्कृत-शास्त्राणि 'य. पर. शब्द, सः शब्दार्थः' इति शैल्यात्मकानि मानितानि विद्वद्भिः । इदमेव विज्ञानभिक्षुभिरपि सांख्यप्रवचनभाष्यभूमिकायां कथितम्-'यदास्तिकदर्शनाना स्वस्वविषयेष्वविरोधादबाधाच्च न तेषु कस्याप्यप्रामाण्यं विरोधो वा विद्यते' । तदैव तु जैमिनेः पूर्वमीमांसायामीश्वरस्योल्लेखोऽपि नास्त्यपितु ते 'किमन्तर्गडुना ईश्वरेण' इत्युक्त्वा तस्य खण्डनमेव कुर्वन्ति । हरिभद्रसूरिमहाशयैरपि स्वकीये 'षड्दर्शनसमुच्चये' मीमांसकान्निरीश्वर-वादिनः[४७] उक्तम् । कुमारिलभट्टैरपि ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणां सार्वज्ञत्वात् मनुष्यस्यापि सर्वज्ञतायाः सामर्थ्यं[४८] प्रकटितम् ।

अस्यायमेवाभिप्रायः यदीश्वरस्यास्वीकरणेनापि यथोपर्युक्ताः दार्शनिकाः न नास्तिकपदभाजः सन्ति तथा जैनादीनामपि निरीश्वरवादित्वेऽपि कथं नास्तिकत्व स्वीक्रियते विद्द्भिः ? अन्यथा तेऽपि नास्तिकाः स्वीकरणीयाः ।

इत्थमुपर्युक्तानां चतुर्णामपि प्रमुखसिद्धान्तानां पर्यालोचनेन ज्ञायते, यज्जैनानामिहलोक-परलोकसत्तास्वीकारेणास्त्यास्तिकत्वम्, दार्शनिकपरि-भाषानुसार जगतः कारणसत्स्वीकारेणाप्यस्त्यास्तिकत्वम्, परं विद्वद्भिर्य-द्वेदनिन्दकत्वेन निरीश्वरवादित्वेन चैषां नास्तिकत्वं स्वीकृतम्, तदर्थमन्येषा-मपि दार्शनिकानां वेदनिन्दकत्वं निरीश्वरवादित्वं च स्वरूपं जैनापेक्षया कियत् महान् विद्यते, तत् सत्यपि यदि तेषामास्तिकत्वं समर्थ्यते, तज्जैनानां केवलं वेदानामपौरुषेयत्वास्वीकारेण, ईश्वरस्य कर्तृत्वाद्यस्वीकारेण एव नास्तिकभाक्त्व, इति नोचित प्रतिभाति । यदि जैनदर्शनस्यास्तिकत्वं सम्प्रदायभेदबुद्धि परित्यज्य दार्शनिकैर्विद्वद्भिर्वा स्वीकृतं स्यात्तर्हि कियान् लाभः, समृद्धिर्वा कियती भारतीय-दर्शनस्य भविष्यतीति समयेनैव ज्ञातव्यः स्यात् । न केवलं दार्शनिकजगतोऽपितु समग्रस्यापि भारतीयेतिहासादिरूपेण विस्तृतस्य साहित्यस्य वाङ्मयस्य वा ।

हरिभद्रसूरिभिस्तु प्रागेव जैनानामास्तिकत्वं स्वीकृतं, सम्प्रति पुनस्त-

त्स्थानं जैनैरधिगन्तुं प्रयत्नो विधीयतेऽथ च विदुषां प्रखरबुद्धिपरिणामेन शीघ्र-मेव तत्पदं प्राप्स्यते इत्यस्ति मम विश्वासः।

जैनदर्शनस्य प्राचीनता, ग्रन्थान्तरेषु च तदुल्लेखः

जैनसिद्धान्तस्य प्रवर्तकाः प्रथमतीर्थंकरा ऋषभदेवाः सन्ति। जैनतीर्थङ्कराणा-मियं परम्परातिप्राचीनतमा विद्यते, यस्याः कानिचित् नामानि भारतीय-प्राचीनतमवाङ्मयेऽपि समुपलभ्यन्तेऽन्यैश्चैतिहासिकैः प्रमाणैः प्राचीनत्वञ्च ज्ञायते। एतदर्थमत्र किञ्चिदालोडनं क्रियते।

जैनदर्शनस्य ख्रिष्टाब्दात्प्राग्वर्तित्वम्

भारते ख्रिष्टाब्दात्प्रागपि जैन-बौद्ध-वैदिकधर्मा प्रचलिता आसन्नित्यस्य समर्थकानि पुष्टप्रमाणानि समुपलभ्यन्ते। ख्रिष्ट्राब्दात्प्राक्प्रथमशताब्द्यां (मतान्येन द्वितीयशताब्द्यां) जातेन 'खारबेल' नामकेन कलिंगाधिपतिनोत्तरे दक्षिणे च भारते एकं विशालं साम्राज्यं स्थापितमासीत्। एवञ्च जैनधर्मस्यो-न्नत्यै विशेषतः प्रयत्नशीलोऽभवत्। स्वकीयराज्यस्य त्रयोदशेऽब्दे तेन कलिङ्ग-नगरे जैनसम्प्रदायस्यैका सभायोजितासीत्, अस्मिन्नेव वर्षे जैनमुनिभ्यः श्वेत-वस्त्राणा दानमपि कृतमासीत्। अस्मादेवाब्दादेकाब्दपूर्वं नंदराज्ञा कलिङ्गान्नी-तैका जैनमूर्तिर्मगधात् पुनरुद्धारपूर्विका पुन कलिङ्गमानीता। अनेन ज्ञायते यत्तस्मिन् काले कलिङ्गराज्यं जैनधर्मस्यैकं प्रधान केन्द्रमासीत्।[१९]

प्राक्ख्रिष्ट्राब्दस्य द्विसप्तत्युत्तरद्विशताब्दीतः (ई० पूर्व २७२ तः) द्वात्रिंशदुत्तरद्विशताब्दिं यावत् (२३२ ई० पूर्व) कलिङ्गयुद्धकाले तत्र ब्राह्मणाः श्रमणाः अन्यान्यधर्मानुयायिनश्च निवसन्त आसन्। पौण्ड्रवर्धननगरेऽपि जैनाना प्रभावबाहुल्यमासीत्। अशोकावदान-दिव्यावदान-सुमागधाव-दानादिबौद्धसाहित्येनापि अशोकशासने पौण्ड्रवर्धननगरे निर्ग्रन्थानामाधिक्यस्य, बौद्धैश्च सह प्रबलसङ्घर्षस्य ज्ञान भवति।

प्रागीशवीयपञ्चमशताब्दीतः प्राचीनत्वं जैनदर्शनस्य

प्राक्खिष्ट्राब्दस्य चतुर्थशताब्द्यां मौर्यराज्यसंस्थापकस्य चन्द्रगुप्तस्य शासनकाले (ई० पूर्व ३२२ तः, २९८ ई० पूर्व यावत्) भारतवर्षे बौद्धधर्मात् जैनधर्मः प्रबल आसीदथ च चन्द्रगुप्तोऽपि स्वयं जैन आसीत् इति स्वीकर्त्तव्य-मेव, यतो हि तस्य शासनकाले जैनधर्मः कर्णाटकदेशं यावत् विस्तृतोऽभवत्। जैनसाहित्यानुसारं चन्द्रगुप्तश्चतुर्विंशतिवार्षिककाल प्रजाः सम्यगनुशास्य,

ततश्च सिंहासनं परित्यज्य कर्णाटकेऽगच्छत् एवञ्च तत्रैव वर्तमाने मैसूर-प्रान्तार्गतश्रवणबेलगोलनामकस्थाने जैनभिक्षुरूपे एव पञ्चत्वमगच्छत्। जैनप्रवादमिमं नैतिहासिका. विद्वांसः स्वीकुर्वन्ति, परन्त्विदं तु सहजतयानुमीयते यत्तस्य काले जैनधर्मस्य विस्तारो कर्णाटकपर्यन्तमासीत्, तथा च चन्द्रगुप्तस्यैकच्छत्रसाम्राज्ये पृष्ठपोषकत्वमाप्नोत्।

मौर्यवंशात्पूर्ववर्त्ती मगधस्यशासकः नन्दराजवंशोऽपि जैनधर्मं प्रति विशेषेणानुरक्त आसीत्[10]। कलिङ्गशासकस्य खारवेलमहोदयस्य हस्तिगुहायाः लिपिना ज्ञायते यत्कश्चित् नन्दवशीयो राजा कलिङ्गादेकां जिनमूर्तीं मगधे आनीतवान्। इतिहासज्ञानामियं धारणा यदयमेव नन्दराजा पुराणेषु 'सर्वक्षत्रांतकः' 'एकराट्' प्रभृतिभिः नामभिरुल्लिखितः महापद्मनन्द एव, नान्यः कश्चित्तदतिरिक्त.। सम्भवतोऽनेनैव कलिङ्गाः विजिता। अनेन विवरणेनेदं तु निश्चेतुं शक्यते यत्त्रिष्ट्राब्दस्य प्रागेव चतुर्थशताब्द्यां मगधस्य नंदवंशः जैनधर्मानुयाय्यासीत्। तथा च तस्य कालेऽनेन धर्मेण वैशाली-मगधप्रदेशाद्दूरं कलिङ्गपर्यन्तं विस्तारं प्राप्तमासीत्।

अस्माद्राजवंशात्प्राग्वर्तिमगधस्य हर्याङ्कराजवशोऽपि जैनधर्मस्यानुयाय्यासीत्, अस्मिन्नेव राजवंशे समुत्पन्नौ-सुविख्यातः शासकः विम्बसारोऽजातशत्रुश्च (श्रेणिकः, कुणिकश्च) जैनधर्मस्यातिमेन तीर्थङ्करेण वैवाहिकसूत्रे[11] सम्बद्धावास्ताम्।[12] विम्बसारोऽजातशत्रुश्च (खिष्टाब्दात्प्राक् षष्ठशताब्दिकौ) भारतीये इतिहासे सुविख्यातौ स्त., यतो ह्यनयोरेव शासनकाले वैशालीसाम्राज्यं स्थापितमासीत्। अनयोरेव शासनकाले बौद्ध-जैन-आजीवकधर्मा संघर्षरता आसन् यतोहि बौद्धधर्मप्रवर्तकेन गौतमबुद्धेन, जैनधर्मस्यान्तिमेन, तीर्थङ्करेण (जन्म-ई० पू० ५९९, कैवल्यप्राप्ति ई० पू० ५५७, निर्वाण ई० पू० ५२७), एवञ्चाजीवकधर्मप्रवर्तकेन मङ्खलीगोशालेन स्वस्वधर्माणां प्रचार. प्रसारश्चानयोरेव काले कृत आसीत्। इमौ द्वावपि (विम्बसारोऽजातशत्रुश्च) बुद्धं महावीरञ्चोभौ प्रति श्रद्धावन्तौ, आभ्यां प्रचारितौ धर्मौ प्रत्यनुरागवन्तौ चास्ताम्, परं सम्भवतोऽजातशत्रु पश्चाज्जैनधर्मं प्रति विशिष्टाकृष्टोऽभवत्[13]। अजातशत्रोः पुत्र. 'उदयः' (उदायी वा ई० पू० ४५९-४५३) सम्भवत. जैनधर्मावलम्बी एवासीत्[14]। अनेनेद ज्ञायते यदजातशत्रोः तत्पुत्रस्य च समयादेव जैनधर्मो बौद्धधर्मात्प्रबलतरो भूत्वा चन्द्रगुप्त-मौर्यस्य शासनकालं यावत् समस्ते भारते स्वप्रभावमधिकं स्थापयितुमशक्नोत्।

अथ च भारतस्य पूर्वक्षेत्रे बङ्गप्रान्ते सम्प्रत्यपि एकैतादृशी ज्ञातिः प्राप्यते, यस्याः संख्याः लक्षेषु वर्तते। कृषिः, वस्त्रवयणादिकं च तेषां जीविका-व्यापारम्, सा ज्ञातिः 'सराक' इति नाम्ना प्रसिद्धा वर्तते। हन्टरसांगेन येषु स्थानेषु परिभ्रम्यास्याः ज्ञातेः वर्णनं कृतं, तेषु स्थानेष्वद्यापि ज्ञातिरियं विद्यते। इमे जनाः जैनानां तस्याः ज्ञातेरवशेषरूपाः सन्ति यस्याः पूर्वजाः श्रावका आसन् प्रायशोऽन्यया ज्ञात्याधुना हिन्दुधर्मस्स्वीकृतस्तथापि यत्र कुत्रचित् सम्प्रत्यपि इमे स्वकं जैनरूपेणाभिदधन्ति। अस्मिन् विषये भारतीयानां पाश्चात्यानाञ्च कतिपयानां विदुषां सम्मतिरस्ति। कर्नल डेलटन महोदयानुसारमस्मिन् प्रान्ते केचन्नैतादृशाः विशिष्टजनाः निवसन्ति, येषां संज्ञा 'सराक' इत्यस्ति[१५]। एषां संख्याप्यधिका वर्तते, मूलतश्चेमे जैनाः, तथा चैषां तत्पार्श्ववर्तिराजानञ्चोक्ति-भिरिद ज्ञायते यदिमे तस्याः ज्ञातेः वंशजाः, या ज्ञातिर्भूमिजानामाग-मनात्पूर्वमेवातिप्राचीनात्समयान्निवसन्त्यासीत्। एषा पूर्वजैः पार-छर्रा बोरा-भूमिजादिज्ञातिभ्यः प्रागेवानेकस्थानेषु मन्दिराणां निर्माणं कृतमासीत्। इमेऽ-धुनापि शान्तियुक्ताः सन्ति, ये च भूमिजैः सहातिप्रेम्णा निवसन्ति। इमेऽत्र खिष्ट्राब्दात्प्रागीयषष्ठशताब्दीत एव निवसन्तः सन्ति।

अथ 'सराक'शब्दः श्रावकशब्दादेव निःसृत इति पूर्वमुक्तम्। अस्यार्थः संस्कृतभाषायां 'श्रवणक्रियायाः कर्त्ता' अर्थात् 'श्रोता' भवति। जैनेष्वयं शब्दस्तेभ्यो गृहस्थेभ्यः प्रयुज्यते, ये लौकिकव्यापारं कुर्वन्त्यथ च यतिभ्यः साधुभ्यश्च भिन्नाः सन्ति[१६]।

मानभूमौ स्थिताः सराकाः यद्यप्यधुना हिन्दवः सजाताः, परं ते प्राचीनकाले जैना आसन्निति सम्यग्विजानन्ति। ते पूर्णतया शाकाहारिणः सन्त्यथचाहिंसाया इयन्तः समर्थकाः सन्ति यत् लावकार्थकान् शब्दान्नपि न प्रयुज्यन्ति[१७]।

सराकाः हिंसया घृण्यन्ते, दिवसे एव भक्ष्यमाणाः (दिवाभक्षकाः) इमे सूर्योदयं विना भोजनमकुर्वाणः, जीवयुक्तानि फलान्यभञ्जयन्तः, पार्श्वनाथस्य भक्ताः, तमेव च स्वकुलगुरुरूपेण मानयन्तः सन्ति। एषां गृहस्थाचार्याः रात्रौ ओदनमपि (भक्तम्) न भुञ्जन्ति[१८]।

अस्याः ज्ञातेः प्राचीनकलायाः कतिपया अवशेषा अस्मिन् देशे प्राचीन-तमाः सन्ति। अस्य प्रदेशस्य सर्वेऽपि जना इदमेवाभिदधन्ति यदिमानि चिह्नानि तेषां जनानां सन्ति, ये 'सराकः' 'सरावकः' इति वा सञ्ज्ञाभागासन्। ये च भारतीयस्यास्य भागस्य सर्वप्रथमाः निवासिनस्सन्ति[१९]।

मेजरटिकल महोदयैर्लिखितं-यत् सिंहभूमनामकस्थानं श्रावकैरधिकृतमासीत्, ये चाधुनाप्राप्ताः सन्ति, परं तदा तेषां बहुत्वमासीत् । तेषां मुख्यः प्रदेशः 'शिखरभूमिः' (सम्मेतशिखरस्य पार्श्ववर्तिभूमिः) पाँचेलनगरं चेतिजैनाः स्वीकुर्वन्ति" ।

इदं तु सर्वत्रैव स्वीकृतं वर्तते यत् मानभूमेः स्थानमेताद्दशानामासीद्यैः स्व-प्राचीनानि स्मारकानि मानभूमस्थाने परित्यक्तानि । इमेऽतिप्राचीना आसन्, यान् 'श्रावकः' 'जैनो'वेतिसंज्ञया व्यवहरन्ति स्म जनाः । 'कोलहन' नामके स्थानेऽपि बहवो सरोवराः सन्ति, यान् 'हो'जातेः जनाः 'सरावक-सरोवराः' इत्यभिदधन्ति" ।

श्रमणशब्दस्य जैनत्वम्

'व्रतधारकाः व्रात्याः' अतएव श्रमणसंस्कृतौ निर्ग्रन्थाः श्रावकाश्च व्रात्यशब्देनाभिहिता जाताः । अथर्ववेदे व्रात्यानां प्रियधाम प्राची दिग-भिहितम् । अत्र मगधस्य (बंगाल-बिहार-उड़ीसा) सङ्केतो विद्यते । इमे व्रात्याः वेदानामप्रामाण्यमेव स्वीकुर्वन्तोऽथ च यागयज्ञाना पशुहिंसायाश्च विरोधकाः, तपसात्मशोधने विश्वस्ताश्चासन्नतएव वैदिकै आर्यै व्यंग्यरूपेण वर्णसङ्करेऽर्थे 'व्रात्यक्षत्रिय'पदेन चतुर्विंशतितो तीर्थकरा सम्बोधिताः । चतुर्ष्वपि वर्णेषु जैनधर्मानुयायिनो वैदिकयागयज्ञाना पशुहिंसायाश्च विरोधका आसन्, अत-स्तेऽपि वैदिकै आर्यैः 'क्षत्रियबन्धुः' 'ब्राह्मणबन्धुः' 'अपक्षत्रियः' 'अपब्राह्मणः' 'अनार्यः' 'व्रात्य' इत्यादिपदैः सम्बोधिता । अत वेदेषु येषा व्रात्यपदेन यत्रो-ल्लेखो विद्यते, तत्र सर्वत्र तेन जैननिर्ग्रन्थाः, जैनश्रावका एव गृहीतव्याः । यतो हि श्रमणसंस्कृतेरनुयायी बौद्धधर्मो जैनधर्मादर्वाचीनोऽथ च वेदरचना-कालादपि पश्चादुत्पन्नो विद्यते । अतः 'व्रात्यपदेन' न तत्र बौद्धश्रमणाना ग्रहणमुचितम् ।

मतस्यास्य समर्थकमेकं प्रसिद्धमैतिहासिकं प्रमाणं विद्यते-सम्राट् चन्द्र-गुप्तमौर्यः जैनधर्मानुयायी, ज्ञात्या च व्रात्यक्षत्रिय आसीत् । जैनबौद्ध-साहित्यानुसारं तु सः शुद्धक्षत्रियवंशोद्भूतः, परं ब्राह्मणपुराणानुसारमिति-हासज्ञानाञ्च बुद्धयनुसार स 'मुरा' नामक्याः शूद्रायाः पुत्ररूप आसीत् । प्रो० सी० डी० चटर्जीमहोदयैरस्मिन् विषये विशदं विवेचनं प्रस्तुतम् । एभिः महोदयैः मुराशूद्राया अस्तित्वं कपोलकल्पितं स्वीकृतम् । तथा च 'मोरिय' क्षत्रियकुलादस्योत्पत्तिः साधिता ।

बौद्धग्रन्थेषु च वर्तमाना उल्लेखा एतस्य प्रमाणकाः, यत् नाथपुत्रात् महावीरात्प्रागपि निर्ग्रन्थानां (येऽधुना 'जैन' पदेन 'अर्हत्' पदेन वा प्रसिद्धाः) अस्तित्वमासीत्। यदा बौद्धधर्मो समुद्भूतस्तदा निर्ग्रन्थानां सम्प्रदायस्य महान् समादरः स्वतंत्रसम्प्रदायरूपेण आसीत्। बौद्धपिटकेष्वपि केषाञ्चत् निर्ग्रन्थानां बौद्धधर्मस्वीकरणस्य, केषाञ्चन च तद्विरोधित्वेनोल्लेखो विद्यते। एभिरुल्लेखैरप्युपर्युक्तसिद्धान्तस्यानुमानं भवति। अथ चैतद्विपरीतमेषां ग्रन्थेषु कुत्रचिदप्येतादृश उल्लेखो न प्राप्यते, यत्र निर्ग्रन्थसम्प्रदायस्य नवीनं स्वरूपं स्पष्टं भवेत्। तस्य संस्थापकत्वेन च नाथपुत्रस्य महावीरस्याप्युल्लेखो न प्राप्यते। अतएवानेन हेतुना सिद्धान्तोऽयं सिद्ध्यति यन्महावीरस्वामिना न जैनधर्मः संस्थापितोऽपितु बुद्ध-महावीरसमयात्प्रागेवातिप्राचीनकालान्निर्ग्रन्था-नामस्तित्वं विद्यमानमासीत्। फ्रांसदेशीयविदुषा गेरिनाटमहोदयेनापीदम्मतं समर्थितम्।[१२]

प्रागीशवीयाष्टमशताब्दीतोऽप्यस्य प्राचीनत्वम्

एभिरुपर्युक्तैर्कथनैरिदं स्पष्टं भवति यत् ख्रिष्टाब्दात्प्रागष्टमशताब्द्यां पार्श्वनाथेन जैनधर्मस्य प्रचारः कृत आसीत्। जैनमान्यतानुसारं तु प्रत्येकस्मिन् युगेऽनेकैस्तीर्थकरैः पुनः पुनः जैनधर्मस्योद्योतनं कृतम्[१३]। विद्यमानस्य युगस्याद्य-तीर्थकरो ऋषभदेवोऽन्तिमौ च तीर्थकरौ पार्श्वनाथमहावीरौ स्तः। पार्श्वनाथ-विषये विदेशीयाः लैसनमहोदयाः कथयन्ति यदस्य जिनस्यायुस्तत्पुरोगामि-नामिव सम्भावितमर्यादायाः अनुल्लङ्घ्यतोऽयमेवास्यैतिहासिकत्वस्य सिद्धयै अलम्[१४]। तथा च मथुराया प्राप्तैर्जैनशिलालेखैरपि ज्ञायते यद्गृहस्थाः ऋषभ-देवमर्घ्यप्रदानमकुर्वन्[१५]। इमे ग्रहस्थाः इन्डोसायथिककालिकाः (Indosythic) भवितव्याः, इति सुस्पष्टं प्रतिभाति। अथवा यदि कनिष्कस्य तद्वंशजानाञ्च समये शकयुगेन सह मिलितास्ते गृहस्था अभविष्यंस्तर्हि प्रथमद्वितीयशताब्दिका इमे लेखाः[१६] प्रतिभान्ति। अयमर्घो विशेषतया एकाधिकेभ्योऽर्हद्भयस्तथा च मुख्यतया ऋषभायार्पितः, अत एतेनास्य मतस्य पुष्टिर्भवति यज्जैनधर्मस्य प्रारम्भिको कालोऽतिप्राचीनस्तथा च ऋषभदेवात्समारभ्य क्रमशः अनेका-स्तीर्थकरा प्रादुर्भूताः। एष्वाधारेषु पाश्चात्यैः भारतीयैश्च निष्पक्षैरनेकै ऐतिहासिकैः स्वीकृतं यज्जैनधर्मोऽतिप्राचीनकालात्प्रचलितस्तथा च वेदेष्वपि जैनधर्मस्य तीर्थकराणामुल्लेखो विद्यते। भारतवर्षस्य भूतपूर्वराष्ट्रपतिभिः डा० राधाकृष्णन् महोदयैरप्यस्य[१७] समर्थनं कृतम्।

जैनानां प्राचीनतायाः ग्रन्थान्तरेषूल्लेखः

किञ्च - हिन्दु - वेद-पुराण - धर्मशास्त्रप्रभृतिग्रन्थेष्वपि जैनधर्मस्य प्राचीनतायाः समर्थकानि, जैनसिद्धान्तानाम्, ऐतिहासिकपुरुषाणाञ्चोल्लेखानि विद्यन्ते। वर्तमाना ऐतिहासिकाः विद्वांसो आर्य धर्मसम्बन्धिनां वेदानां प्राचीनतां पञ्चशतोत्तरत्रिसहस्रवर्षात्मिकां स्वीकुर्वन्त्येव (३५००), किन्तु यदाऽऽर्या अत्र समागतवन्त आसंस्तदात्रातिप्राचीनकालात्प्रचलितस्यास्य जैनधर्मस्याध्यात्मकतया पवित्रतया चैतादृशाः प्रभाविताः अभवन्, यद्वेदेषु, पुराणेषु स्मृतिषु च तद्रचनाकाले जैनतीर्थंकराणा (धर्मगुरूणा) स्मरणं स्वीयया भक्त्या श्रद्धया वा समादरेण तैः कृतमासीत्। येषु धर्मशास्त्रादिग्रन्थेषु जैनसम्बन्धयुल्लेखाः प्राप्यन्ते तेषामत्र विवरण नानुचितम्, अतः प्रदीयन्ते केषाञ्चन् ग्रन्थानामुद्धरणानि।

श्रीमद्भागवतादिपुराणेषूल्लेखः

श्रीमद्भागवतस्य प्रथमे स्कन्धे चतुर्विंशत्यवताराणा वर्णने ऋषभं सर्वाश्रमनमस्कृद्विशेषणेन स्मृतम्।[६८] द्वितीयस्कन्धे चास्य परमहंसस्वरूपवर्णनं विद्यते।[६९] पञ्चमे स्कन्धे तृतीयाध्याये ऋषभावतारवर्णने 'तस्मिन् यज्ञे ऋषीणां प्रसादतः, नाभेः राज्ञोऽभिलषितं पूरयितुं, तस्य राज्ञ्या धर्म दर्शयितुमिच्छिन् दिगम्बरः, तपस्वी, ज्ञानी, नैष्ठिको ब्रह्मचारी, उर्ध्वरेता विष्णुः ऋषिभ्य उपदेष्टुं, शुक्लदेहधारिणा ऋषभदेवेनावतरितम्'।[७०] अस्यैव स्कन्धस्य पञ्चमेऽध्याये ऋषभस्य ब्रह्मस्वरूपधारणस्येत्थं वर्णनं विद्यते—'ऋषभेण स्वीयं ज्येष्ठं पुत्रं भरतं राज्यभारं समर्प्य, शरीरपरिग्रह संधाय केशलुञ्चनं कृत्वा ब्रह्मस्वरूपं धृतम्'[७१] अत्र केशलुञ्चनपदेन ज्ञायते यदनेन जैनश्रमणदीक्षैव गृहीता, यतो हि पद्धतिरियं जैनसाधुसाध्विष्वेव वर्तते, अन्यधर्मावलम्बिनस्तु दीक्षिते सति केशमुण्डनं, जटावर्धनं वैव कुर्वन्ति, न तु लुञ्चनम्। अस्यैव स्कन्धस्य षष्ठेऽध्यायेऽस्मै ऋषभाय महतादरेण नमस्कृतम्[७२] तथा चास्मिन्नेव स्कन्धे ऋषभपुत्रभरतनाम्ना भारतवर्षस्य नामकरणं स्पष्टम्–'शतपुत्रेष्वग्रजः, अतएव ज्येष्ठः, श्रेष्ठगुणश्च भरत आसीत्, तस्यैव नाम्नास्य देशस्य नाम भारतवर्षः, इति प्रचलितम्।[७३]

मार्कण्डेयपुराणेऽप्यग्नीन्ध्रसूनोर्नाभेः, नाभेः ऋषभस्य, ऋषभस्थ च शतपुत्रवरस्य वीरस्य भरतस्योल्लेखो विद्यते।[७४]

कूर्मपुराणेऽपि एकोनचत्वारिंशत्तमेऽध्याये नाभितः समारभ्य भरतं यावद्वर्णनं वर्तते ।[७५] अग्निपुराणे च ऋषभाद्भरतं[७६] यावत्केन वर्णनेनातिरिक्तमरिष्टनेमितीर्थंकरस्याप्युल्लेखो[७७] विद्यते ।

नाभेः ऋषभस्य चोल्लेखो उपर्युक्तमिव वायुपुराणे,[७८] लिङ्गपुराणे[७९], शिवमहापुराणे[८०] ब्रह्माण्डपुराणे,[८१] स्कंदपुराणे,[८२] विष्णुपुराणे[८३] (द्वितीयेऽंशे) च समुपलभते । एषूद्धरणेषु सुस्पष्टं ऋषभपुत्रादेव भारतवर्षनामकरणमभिहितम् ।

अतोऽतिरिक्तं विष्णुपुराणे एकचत्वारिंशदुत्तरत्रिशततमेऽध्याये (३४१) श्रावकेभ्यः दीयमानस्य दानस्य माहात्म्यविषयक उल्लेखो[८४] वर्तते । स्कन्दपुराणेप्येकत्र श्रावकेभ्य. स्वशक्त्यनुसारं हिरण्यादिकस्य दानस्य[८५] माहात्म्यं त्रिमूर्तिपूजामाहात्म्यवत् उट्टङ्कितम् । काशीखण्डे च निश्चितविशेषरेखाभिर्युक्तवामकराणां मृगीदृशां तीर्थंकरपुत्रप्राप्तेरुल्लेखो विद्यते[८६] । अस्यैव पुराणस्य तृतीये खण्डे जैनाः साधवः रामं कुशलवृत्तान्तं पृच्छन्ति, तान् प्रति रामेणोक्तम्—'यदर्हत्कृपया सर्वतोऽस्माकं कुशलम्, जिनस्तुतौ रता जिह्वा, जिनार्चने सलग्नौ करौ, अथ च जिने लीना दृष्टिः, जिनेऽनुरक्तं मम मनश्च धन्यम्[८७] ।

पद्मपुराणेऽपि प्रथमे सृष्टिखण्डे[८८]ऽथ च भूमिखण्डे[८९]ऽपि जैनधर्मस्य विभिन्नसिद्धान्तान् प्रकटयन् तेषा स्वीकरणस्य फलमपि प्रदर्श्य तस्य माहात्म्यस्य र्णनमनेकस्थलेषूपस्थित दृश्यते ।

धर्म-काव्यशास्त्रेष्वप्युल्लेखः

एभ्योऽतिरिक्तेष्वन्येष्वपि पुराणेषु जैनतीर्थंकराणां तत्सिद्धानान्चोल्लेखाः बाहुल्येन प्राप्यन्ते । यैर्ज्ञायते यत्तेषा रचनाकालेषु जैनधर्मस्यास्तित्वमेव नासीदपि तु इयान्नधिकः प्रभाव आसीत्, येनेदं स्थानमेषु पुराणेषु प्राप्तम् । पुराणातिरिक्तेष्वन्येष्वपि शास्त्रेषूक्तविषयका उल्लेखाः दृश्यन्ते, येन ज्ञायते यदस्य धर्मस्य प्रचार. प्रसारश्च क्रमशः वृद्धित्वमेवागच्छत् ।

भारतवर्षे प्राचीनतमे पौराणिकमहाकाव्ये रामायणमहाभारते स्तः । तत्रोभयत्र जैनधर्मस्य समर्थकानि तत्त्वानि विद्यन्ते । तयोर्महाभारते नेमिनाथतीर्थंकरस्याप्युल्लेखो[९०]ऽवतारकालिको विद्यते । अस्यैवान्तर्गते वैशम्पायनसहस्रनाम्नि महावीरस्यापि[९१] नामोल्लिखितम् । बाल्मीकिरामायणस्य बालकाण्डे श्रमणभोजनपरम्परायाः उल्लेखेन[९२] जैनधर्ममाहात्म्यस्य पुष्टिर्भवति । अत्र श्रमणशब्देन जैनसाधूनामेव बोधो भवति ।

मनुस्मृतावपि जैनधर्मस्य प्राचीनताया उल्लेखो प्राप्यते, तत्रोक्तं वर्तते, यत्सर्वेषां फलानामादिकारणस्वरूपा इमे सन्ति—विमलवाहनोऽभिचन्द्रः, प्रसेनजित् मरुदेवी, नाभि., तस्य पुत्रः ऋषभः तथा च यः वीराणां मार्ग-दर्शक आसीत् स ऋषभपुत्रः भरतश्च, यस्मै देव्यः देवाश्च नमस्कुर्वन्त आसन्, युगादित एव त्रिविधराजनीतिनिर्माता प्रथमो जिनोऽभवत्[११]। अत एतेनेदं सिध्यति, यदेषां नायकानामत्रोल्लेखो, तत्सम्बन्धिन्याः घटनाश्च मनुस्मृतेः प्राग्वर्तिन्या आसन्।

दिगम्बरसाधूनां परमहंसानाञ्च साहश्यम्

इत्थमुपर्युक्तैः पुराणधर्मशास्त्रादीना प्रमाणै इदं ज्ञायते यत्तेषां रचनायाः प्रागवश्यमेव जैनधर्मस्य प्रचुरः प्रचार आसीत्तदैव तु एषु ग्रन्थेषु एतादृशं सम्मानयुक्तं स्थानं जैनतीर्थंकरैस्सिद्धान्तैर्वा लब्धम्। सम्प्रतीद विचारणीयं यत्पुराणधर्मशास्त्रेभ्यः पूर्ववर्तिनीषूपनिषत्सु जैनधर्मसम्बन्धि कश्चिदुल्लेखो विद्यते न वा? विद्यते तर्हि नूनमेव तस्मिन् काले जैनधर्मस्यास्तित्वं भवितव्यम्। अनेनैवोद्देश्येनोपनिषत्सु दृष्टिपाते कृते एकत्रात्यन्तसमानता प्राप्यते। तच्च साम्यं जैनसाधूनामाचारव्यवहारवदेवोपनिषत्सूल्लिखितानां परमहंसानामा-चाराहारव्यवहारेषु दृश्यते।

प्राक्काले जैनसाधवो दिगम्बरा एव अनिवसन्, केचन च जैनेतरसाधवोऽ-पि दिगम्बरा अनिवसन्, भवन्ति चेति वयं पठामः, पश्यामश्च। एषां विशिष्टं वर्णनमुपनिषत्सु समुपलभ्यते। अत्र वर्णितानां जैनेतरदिगम्बरसाधूनामाचा-राहारव्यवहारस्यापि निर्देशो विद्यते। ये चोक्ताहाराचारव्यवहारमनुस्मृत्य साधुधर्मे संलग्ना आसन्, तेभ्यः परमहंसपदेन विभूषितमुपनिषत्कारैः। भर्तृ-हरिणापि स्वकीये शतकत्रयेऽप्येतस्य भावस्याभिव्यक्ति. कामना च कृता।[१४]

भर्तृहरिमहोदयस्यैव भ्राता शुभचन्द्राचार्येण ज्ञानार्णवे इममेवाशयं प्रकटितम्।[१५] एतादृश्येव भावना योगवाशिष्ठे भगवता रामचन्द्रेणापि कृता विद्यते[१६], या जिने विद्यमानासीत्।

अथ चाथर्ववेदसम्बन्धिनि जाबालोपनिषदि एतादृश्या एव भावनायाः समर्थने येषा 'यथाजातरूपधरादि[१७]' शब्दानां प्रयोगो विहितस्तेनानायासमेव जैननिर्ग्रन्थेभ्य निर्धारितानां नियमाना स्मरणं स्मृतिपटलमागच्छति।

अथ चान्यास्वपि (नारदपारिव्राजकोपनिषदि[१८], मैत्रेयोपनिषदि,[१९] शाण्डिल्यो-पनिदि,[२०] सन्यासोपनिषदि[२१], तुरीयातीतोपनिषदि[२२] च) उपनिषत्स्वस्याः

भावनायाः व्यञ्जकाः शब्दाः, जैनधर्मसाम्यसूचकानि व्याख्यानानि च विद्यन्ते।

भारतीयदर्शनानां वेदमूलकत्वम्

भारतीय-संस्कृतेः प्रधानाः प्राचीनतमाश्च ग्रन्थाः वेदा एव। तेभ्य एव भारते प्रचलितानां सर्वेषामपि धर्माणामुद्गमोऽभूत्, अथ च स्वीयधर्मस्य (सम्प्रदायस्य) प्राचीनत्वसिद्ध्यर्थं सर्वैरपि दार्शनिकैः 'स्वीया सिद्धान्ताः वेद-सम्बन्धिन' इत्युद्घुष्यते, एषैव धारणान्यसम्प्रदायवत् जैनदार्शनिकान् प्रत्यपि विदुषां स्वाभाविका। परन्त्वत्रेदं विचारणीयं विद्यते—यद्वेदरचनाकाले आर्य-धर्मातिरिक्ताः के के धर्माः, कश्चन वा धर्मः, प्रचलित आसीदिति कथनं नोचितं प्रतिभाति ? धर्मस्य दर्शनस्य वा यः स्वरूपः सम्प्रति दरीदृश्यते, तन्मूलाः वेदा एवेत्यपि न समीचीनम् ? यतश्च-यथाद्यप्रभृति भारतवर्षे विभिन्नाः राजनैतिकसंगठनाः (पार्टियां) इतस्ततः स्वस्वप्रचारसंलग्नाः दरीदृश्यन्ते, परं तेषां सर्वेषामपि संगठनानां संस्थापकाः प्रायशः 'कांग्रेस'-नामकादादि-संगठनाद् एव समागता आसन्। अतः मूलतस्सर्वेषामपि संगठनानां 'कांग्रेस' संगठनेन सम्बन्धो विद्यत एव।

अत्रेदं विमर्शनीयम्-यत् कांग्रेसनामकस्य संगठनस्यावश्यकता आंग्लशासना-न्मुक्त्यर्थमेवोत्पन्ना, यतोहि तेन शासनेन भारतीया अधिकं व्याकुलाः पीडिताश्चासन्, अतस्तद्विरोधिस्वरूपं भारतीयानामेकं संगठनं 'कांग्रेस' नाम्ना (Congress) संजातम्। अस्य नेदं तात्पर्यं, यत्तत्प्राक् न किमपि संगठनं भारतवर्षे आसीत्, ? यतोहि मानवो जन्मनैव स्वतंत्रताप्रियः, न सः कदापि पराधीनत्वं स्वेच्छयेच्छति। स आदित एव प्रकृतेः स्वाच्छन्द्यमनुभवितुम-भिलषति। अनयैव भावनया प्रेरितः सः पराधीनत्वमपहर्तुं प्रयतति। यदा चेदं पराधीनत्वं सामाजिकं सामूहिकं वा भवति तदा सोऽपि सामाजिकत्वेन सामूहिकरूपेण संगठनात्मकेन प्रयत्नेन प्रयतति, येन च तत्संगठनस्य तदा प्रभावो, प्रतिष्ठा वा भवति।

भारतीयेतिहासस्याध्ययनेन ज्ञायते यदत्र कांग्रेससदृशा अनेके संगठना आसन्, परं कालक्रमेण स्वसत्तां चिरं स्थातुमसमर्था एवाभवन्। यथाहि-आंग्ल-शासनात्प्राक् भारतवर्षे मुगलशासका आसन्, तदा च तद्व्याकुलितैः कतिपयैः राजाभिस्तद्विरोधार्थं अनेकसंगठनाः पृथक्पृथक्देशीयाः विरच्य, विमुक्त्यर्थं युद्धं कृतम्। एषां सर्वेषामपि संगठनानां तत्संचालकनाम्ना इतिहासे परिचयो प्राप्यते। इमे सर्वेऽपि संगठनाः राजनीतिसम्बद्धा एवासन्।

मुगलशासनात्पूर्वमपि पञ्चशतादप्यधिकानां राजानाम् शासने पारस्परिकयुद्धजन्यपराधीनत्वस्य विरोधात्मकाः प्रत्यक्षा अप्रत्यक्षाः वानेके संगठनाः तत्पराधीनत्वसमाप्त्यर्थं भवन्त आसन्। अर्थात्तदापि भारते भारतीयानामेव शासने एकोऽन्यस्य पराधीनत्वमसहमान आसीत्, यथाद्य भारते भारतीयानां प्राजातंत्रे विभिन्नै. संगठनैरयमेव प्रयत्नो विधीयते यत्तस्यैव संगठनस्याधिकारो समग्रेऽपि भारते स्यात्ः, तथैव तदापि तेषामियमेवेच्छाः स्युः यदस्माकमेवाधीनत्वं सर्वे साम्राज्याः समधिगच्छन्तु। येन तस्मिन् कालेऽपि पारस्परिकां पराधीनतामसह्यमानानामनेकानि संगठनान्यभविष्यन्।

आदिकालिकवर्तमानेतिहासेनापीदं ज्ञायते यद्यदा मानवो नातिसभ्य आसीत्, तदा स वने एव वासमकरोत्, नग्नश्चासीत्, तदापि तेषां संघात्मकं शासनमासीत्, तत्रापि पारस्परिकामधीनतामसह्यमानाः संघास्तन्निवृत्यर्थं यतमाना आसन्। एवमेव वैदिकार्याणामत्रागमनात्प्राग् भारते यस्य कस्यचिदपि धर्मस्य दर्शनस्य वा सत्तावश्यम्भावी, अस्य निश्चयार्थं भारतीयप्राचीनतमग्रन्थानां (विदुषां सम्मत्या) वेदानामाश्रयो ग्रहीतव्य.।

वैदेषु येषां धर्माचार्याणा दार्शनिकानां वोल्लेखः प्राप्यते ते प्रायस्तत्कालवर्तिनस्तत्पूर्ववर्तिनो वा भवितव्याः। तेषु च केचन आचार्यास्तु तत्कालादतिप्राचीना अपि स्युस्तन्न किमप्याश्चर्यम्। यतोहि यदाऽऽर्याः भारते समागतवन्तस्तदा तैः स्वधर्मस्य प्रचारे तात्कालिकै. भारतीयैः विरोधे कृते सति तेषामाचार्याणां स्वधर्मप्रचारे प्रमुखविरोधिस्वरूपं परिज्ञाय, तद्विरोधापनेतुं तेषामपि समादरः स्वग्रन्थेषु संस्मरणात्मको कृतः स्यात्। येन ते तेषां विरोधं परित्यज्य तत्समर्थका एवाभविष्यन्, येन पुनः प्रभावितै आर्यैः स्वग्रन्थेषु तेभ्यो न केवलं प्रमुखं स्थान प्रदत्तमपितु स्वदेवतुल्यं सम्मान्य तेषां प्रशंसायां सूक्तानि, अष्टकानि, अध्यायाश्च वा विरचिताः।

जैनानां वेदेषूल्लेखः

इत्थं वेदेषूल्लिखितेषु विभिन्नाचार्याणा मध्ये जैनदार्शनिकाचार्याणामपि प्रमुखतयोल्लेख प्राप्यतेऽत उपर्युक्तं कथनं जैनदार्शनिकानां प्रत्यपि तादृश एव यथान्येषां दार्शनिकानां प्रति। अतोऽस्योल्लेखस्यायमेवाभिप्रायो विद्यते, यद्यदा वैदिका आर्या अत्रागच्छंस्तदा जैनधर्मस्य दर्शनस्य वा प्रचुरः प्रचार आसीत्, जैनाचार्यैर्यदार्यसिद्धान्ताना स्वीकारे विप्रतिपत्तयः, विरोधाः वा कृता आसंस्तदेषां विरोधशान्त्यै, अथवा एषां सिद्धान्तानां (जैनसिद्धान्तानां) आर्याणामुपर्येतादृशः प्रभावः प्रक्षिप्तः स्याद्यैः प्रभावितै, आर्यै ईदृशं सम्मानं

प्रदत्तम् । अस्य प्रमाणार्थमत्र वेदानां केषाञ्चन्नुलेखानामुपस्थापनं नानुचितं प्रतिभाति ।

चतुर्षु वेदेषु रचनाकालापेक्षयार्वाचीनेऽथर्ववेदे नेमिनाथस्याह्वानमित्थ कृतम्—'एष्वश्वमेधादियज्ञेषु देवाश्व इवाश्वयुक्तस्य रथस्य सञ्चालकः, कर्मसैन्यस्य च विनाशकः, नेमिनाथोऽस्माकं मङ्गलं दिशतु, तमस्मिन् यज्ञे वयमावाहयामः'[१०३] । अथ चान्यत्रास्मिन्नेव वेदे—'सूर्यं इवाकाशमार्गे गमनशीलेऽथ च दीर्घैरश्वैर्युक्तै रथे समारूढमरिष्टनेमिं (नेमिनाथ) वयमावाहयामः'[१०४] । अपरत्र चास्मिन्नेव वेदे ऋषभदेवस्य जैनाद्यतीर्थंकरस्याह्वानस्यायं प्रकारो विद्यते—'सकलैः पापैः मुक्तं, अहिंसकव्रतीनामाद्यं, राजानामादित्यस्वरूपं, ऋषभमहमावाहयामि सोऽस्मान्. बुद्धीन्द्रियात्मबलानि प्रददातु' ।[१०५] अस्य पिता नाभिर्माता च मरुदेवी । नाभिराजा मनु आसीत्, मनुनैव मानवशब्दः प्रचलितः, वैदिकधर्मेऽपि ऋषभं चतुर्विंशत्यवतारेष्वष्टमोऽवतारः स्वीकृतः । अस्यैव ऋषभदेवस्यान्येषु वेदेषु अथर्वापेक्षया प्राचीनतरेषु भक्त्या संस्मरणं विद्यते-तथाहि-यजुर्वेदे पंचविशतितमेऽध्याये ऋषभाय पवित्रत्वान्नमस्कृतम् ।[१०६] अस्मिन्नेवाध्याये नेमिनाथस्यापि स्मरणं[१०७] सम्मानयुक्तं वर्तते ।

अस्यैव ऋषभस्योल्लेखो वेदेषु प्राचीनतमे ऋग्वेदेऽपि प्रथमेमण्डलेऽवलोक्यते—'मिष्ठभाषिणं, ज्ञानिनं, स्तुत्यं ऋषभं पूजासाधकैर्मंत्रैर्वर्धयामहि वयम्[१०८] ।

जैनास्तदितरधर्मावलम्बिनश्च जैनतीर्थंकरान् अर्हन्नितिपदेन सम्बोधयन्ति । ऋग्वेदस्य रचनाकालं यावत् अर्हद्भि. कियती प्रतिष्ठाधिगतासोदित्यस्यानुमानं विज्ञै. ऋग्वेदस्यैभिरुल्लेखैर्विज्ञेयम्—ऋग्वेदस्याद्ये मण्डलेऽर्हतः बुद्धि प्रशंस्य, तत्संसर्गमपि मन्त्रकृताभिलषितम्, तद्यथा—'भाः अर्हन् । त्वं ब्रह्मासि, यत्स्वबुद्ध्येयन्महान्तं जगत् चक्रं संचालयसि, तवेयं बुद्धिरस्माकं कल्याणाय भवतु, वयं तव सन्मित्रवत् सदा संसर्गमभिलषामः'[१०९] ।

अथ चास्यैव द्वितीये मण्डलेऽर्हन्तं बलवन्तम् स्वीकृतम्—'भोः अर्हन् । त्वं धर्मरूपिणः बाणान्, समुपदेशरूपाणि चेमान्यनन्तज्ञानादिरूपाभूषणानि धारयन्नसि, जगत्प्रकाशकं केवलज्ञानं चाप्तवान्नसि, जगज्जीवानां त्रायकोऽसि, कामक्रोधादिशत्रुसमूहाय भयङ्करोऽसि, अतएव त्वत्सदृशः, न कोऽप्यन्यो बलवान् विद्यतेऽत्र'[११०] ।

एवं च चतुर्थे मण्डले—'यो मनुष्याकारोऽनन्तदानदाता सर्वज्ञश्चार्हन् विद्यते, सः स्वपूजकैरेव स्वपूजां कारयति'[११०]। अन्यच्च पञ्चमे मण्डले—'समुद्र-सदृशादर्हन्ताज्ज्ञानांशं सम्प्राप्य देवा'[१११] अपि पूज्यन्ते' अपरञ्च-द्वितीये मण्डले—'हे अग्निदेव ! अस्यां वेद्यां मनुष्यात् प्रागर्हद्देवस्य मनसा पूजनं दर्शनं च कुरु. तत आह्वानं कुरु. तदनन्तरं पवनोऽच्युतेन्द्रादिदेवानामिव तत्पूजां कुरु'[११२]। अस्य पञ्चमे,[११४] सप्तमे[११५] च मण्डले उभयत्र अन्यत्रापि[११६] अर्हत्पदयुक्तानि मंत्राणि दृष्टिपथमायान्ति ।

सन्दर्भोल्लेखाः

१. ऋवे-१०।१२६॥ २. यवे-(ईशो) अ-४० ३. मभा-वनपर्व ३१३।११७॥
४. ब्रसू-२।१।११॥ ५. कठो-२।६॥ ६. योदृस-१४५॥
७. परिव्राट्कामुकशुनां एकस्यां प्रमदातनौ ।
कुणपः कामिनी भक्ष्यस्तिस्र एता हि कल्पनाः ॥
८. न्याकुच-द्वितीयो भागः-प्राक्कथन ॥ ९. तसू-१।२॥
१०. ईशो-५॥ ११. रमका ।
१२. अष्टा-अस्ति नास्ति दिष्ट मतिः ४।४।६०॥
१३. काशिका-अस्ति नास्ति दिष्ट मतिः ४।४।६०।१६१०॥
१४. मस्मृ-योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयात् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यः नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ २।११॥
१५. छान्दो-६।२।१॥ १६. श्रीभगी-१६।८॥ १७. छान्दो-६।२।१॥
१८. वैसूशांभा-२।२।३८॥
१९. कठो-येय प्रेते विचिकित्सा, मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ १।१९॥
२०. ब्रसू-तर्कपाद २।११-१२॥ २१. मस्मृ-४।१२४॥
२२. श्रीभगी-१०।२२॥ २३. ऋवे-१०।४४।६॥ २४. मुको-१।२।७॥
२५. मुको-१।१।५॥ २६. श्रीभगी-८।२४-२५॥ २७. श्रीभगी-८।२८॥
२८. श्रीभगी-११।५३॥ २९. श्रीभगी-९।२०-२१॥ ३०. श्रीभगी-२।४२॥
३१. श्रीभगी-२।४५॥ ३२. श्रीभगी-२।५३॥ ३३. ऋवे-१०।२।२७।१६॥
३४. अष्टा—अधिरीश्वरे १।४।९७॥, स्वामीश्वराधिपतिः २।३।३९॥, यस्मादधिक यस्य चेश्वरवचन तत्र सप्तमी २।३।९॥, ईश्वरेतोसुनकसुनौ ३।४।१३॥, तस्येश्वरः ५।१।४२॥

३५. पाम—तद्यथा लोक ईश्वर आज्ञापयति ग्रामादस्मान्मनुष्या आयन्तामिति ॥

३६. पायोद-१।२४॥ ३७. न्याद-४।१।१९॥ ३८. श्रीभगी-१६।१४॥

३९. श्रीभगी-१८।६१॥ ४०. वैसू-धर्मविशेषप्रसूताद्'''निःश्रेयसाधिगमः १।१।४॥

४१. न्यासू-प्रमाणप्रमेयसंशय'''निःश्रेयसाधिगमः १।१।१॥ ४२. सांका-२॥

४३. पायोद-१।२॥ ४४. पायोद-१।३॥ ४५. ब्रसूशांभा-२।२।३७॥

४६. सोऽयं धर्मो यदुद्दिश्य विहितस्तदुद्देश्येन क्रियमाणस्तद्धेतुः श्री गोविन्दार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुरिति ॥

४७. षस—जैमिनीयाः पुनः प्राहु'''मानं वचो भवेत् ॥

४८. अथापि वेदहेतुत्वात्'''सार्वज्ञं मानुषस्य किम् ॥

४९. द्रष्टव्य-बआध—पृष्ठ २३। ५०. OXHISY 1, P. 75

५१. वर्धमानस्य माता त्रिशला तथा च बिम्बसारस्य राज्ञी (पत्नी) चेलना परस्पर सहोदरे भगिन्यौ एवं च चेटकराज्ञः पुत्र्यावास्ताम्।

५२. CAMHISY 1, P. 157. ५३. CAMHISY 1. P. 160-61, 69.

५४. Ibide P. 164 ५५. सराकोनाम श्रावकशब्दस्यैवापभ्रंशशब्दः।

५६. मि० गेट सेंसर्सरिपोर्ट। ५७. मि० सरसली। ५८. एव कूपलेड।

59—A. S.B—1868, No 35. They are represented as having great scruples against taking life. They must not eat till they have seen the Sun and they venerate Parshwanath.

The Jain images are a clear proof the existence of the Jain Religion in these parts in old times.

60—Journel Assı.—1840, No.—696.

६१. बंगाल स्थनालौजी में कर्नल डेलटन ॥

62—1—INTHEJAB—There can not longer by any doubt that Parshwanath was a historical personage. According to the jain tradition he must have lived a hundred years and dıed 250 years before Mahavira. His period of activity there for corresponds to the 8th century B. C.

The perents of Mahavira were followers of relegious of Parshwa... The age we live in there have appeared 24 Prophets Thirthankeras) of jainism. They are ordinarily called Tirthankaras. With the 23th Parshwanath. We enter in to the religion of reality.

63—Hem. V. V. -50-51.

64—Lesson-1A2, P. 261.

65—Ibid.-P.-383. No. -3. 66—Ibid P. 371

67. 1-INPHIL—There is evidence to show for back as the first century B. C. there were people who were wershiping Rishabha Deva, the first Thirthankera. There is no doubt that Jainism prevailed even before Brahmana or Parshwa Nath.

The Yajurved mentions the name of three Thirthankeras—Parshwa, Ajitnath, and Arishtanemi. The Bhagwat Puran indorses the view that the Rishabha was the founder of Jainism. -vol.-1, P. 287-.

2-TJSM—IN—The discoveries have to very large extant supplied corroboration to the written Jain tradition and they offer jangible inconvertable proof of the antiquity of the presents from. The series of twenty four Pontiffs [Tirthankaras] each with his distinctive emblem was evidently firmly believed that begining of the christian era, P.-6.

६८. श्रीभा-स्कन्ध १, अध्याय ३, श्लोक १३ ॥

६९. श्रीभा-स्कन्ध २, अध्याय ७, श्लोक १० ॥

७०. श्रीभा-स्कन्ध ५, अध्याय ३, श्लोक २० ॥

७१. श्रीभा-स्कन्ध ५, अध्याय ५, श्लोक २८ ॥

७२. श्रीभा-स्कन्ध ५, अध्याय ६, श्लोक १९ ॥

७३. श्रीभा-स्कन्ध ५, अध्याय ४, श्लोक ९ ॥

७४. मापु-अध्याय ४५॥ श्लोक ३८-४१ ॥

७५. कूपु-अध्याय ३९ ॥ श्लोक ३७-३८ ॥

७६. अपु-अध्याय १०७ ॥ श्लोक १०-१३ ॥

७७. अपु-काश्यपवंशवर्णने ३ ॥

७८. वापु-(पूर्वार्द्ध) अध्याय ३१ । श्लोक ५०-५१-५२॥

७९. लिपु-अध्याय ४७ श्लोक १९-२४ ॥

८०. (क) शिपु-अध्याय ५१ ।

(ख) अथ च तृतीयशतरुद्रसहिताया चतुर्थेऽध्याये । श्लोक ३५,४७,४८ ॥

८१. ब्रपु-पूर्वार्धेऽनुषगपादे-चतुर्थेऽध्याये ५९-६०-६१ सख्याका. त एव श्लोका सन्ति ये वायुमहापुराणे ३२ अध्याये ५०-५१-५२ सख्याका. श्लोकाः ॥

८२. स्कपु-माहेश्वरखण्डीये कौमारखण्डे अध्याय ३७, श्लोक ५७ ॥

८३. विपु-द्वितीयेऽशे प्रथमेऽध्याये । श्लोक २७-२८ ॥

८४. विपु-तृतीयखण्डे ३४१ अध्याये ।

८५. स्कपु-सेतुमाहात्म्ये ५२ अध्याये, श्लोक २२६-२३१ ॥

८६. स्कपु-काशीखण्डे ३७ अध्याये, ७६,७७ ॥

८७. स्कपु-तृतीयखण्डे ३८ अध्याये, ७,८ ॥

८८. पपु-सृष्टिखण्डे १३ अध्याये, ४६,५० ॥

८९. पपु-भूमिखण्डे ३७-३८ अध्याययोः श्लोकात् १५,२०,२१ तथा ५८,५९ ॥

९०. मभा-रेवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलेऽचले ।
ऋषीणामाश्रमादेवमुक्तिमार्गस्य कारणम् ।

९१. *वैशम्पायनसहस्रनाम्नि-कालनेमिर्महावीरः शूर. शौरिर्जिनेश्वर, इत्यादि ।*

९२. बारा-बालकाण्डे १३ सर्गे, श्लोक ८ ।

९३. मस्मृ-कुलादिबीजं सर्वेषां प्रथमो विमलवाहनः ।
चतुष्मान् यशस्वी चाभिचन्द्रोऽथ प्रसेनजित् ।
मरुदेवी च नाभिश्च भरतः कुलसत्तम ॥

९४. शत्र-एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षम. ॥

अशीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि ।
शयीमही महीपृष्ठे कुर्वीमहिकिमीश्वरैः ॥

पाणिः पात्र पवित्र भ्रमणपरिगत भैक्ष्यमक्षय्यमन्न,
विस्तीर्णं वस्त्रमाशासुदशकममल तल्पमस्वल्पमुर्वी ।
येषां निस्सगतांगीकरणपरिणति स्वात्मसन्तोषिणस्ते,
धन्याः सन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्मनिर्मूलयन्ति ॥

९५. ज्ञा-साम्यभावप्रकरणे-२८-२९ ॥ ९६. योवा-१५ सर्गे । ८ ॥

९७. जाउ-षष्ठसूत्रम्-यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो—सः परमहसो नामेति ॥

९८. पचमोपदेशे-देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः'''धरोभूत्वेत्यादिः ॥
मुनि. कौपीनवास. स्युर्नग्नो वा '' जातरूपधरो भूत्वेत्यादि ॥ ३२ ॥

९९. मैयो १३ कारिकाया-देशकालविमुक्तोऽस्मि'''दिगम्बरसुखोऽस्म्यहमित्यादि ।

१००. शाल्यो-अतिमेभागे-दत्तात्रेय शिवं शान्तमिन्द्रनीलनिभ प्रभुम् ।
आत्ममायारत देवमवधूतं दिगम्बरम् ॥ इत्यादि ।

१०१. ससो-देहमात्रावशिष्टो, दिगम्बर' आदिजातरूपधरोभूत्वेत्यादि । अथ च संन्यस्य जातरूपधरो भवति, स ज्ञानवैराग्यसन्यासी, इत्यादि ॥

१०२. तुरीउ-सर्वमप्सु संन्यस्य दिगम्बरो भूत्वेत्यादि ॥

१०३. अवे-का ७ अ० ८ सू० ८५ । १०४. का २०, अ० ६, सू० १४३ ।

१०५. कां० १६ अ० ५ सू० ४२ मंत्र ४ अहोमुचं ऋषभं यज्ञियानां'''इन्द्रियेण इन्द्रियदत्तमोज: ॥

१०६. यवे-२५ अध्याये-ॐ नमोऽर्हतो ऋषभो वा ॐ ऋषभं पवित्रं इत्यादि ॥

१०७. यवे-२५ अध्याये-ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि: स्वाहा । वामदेवशान्त्यर्थमुपविधीयते सोऽस्माकं अरिष्टनेमि: स्वाहा ॥

१०८. ऋवे-१।२४।१९०।१॥ १०९. १।१५।६४।१॥

११०. ऋवे-२।४।३३।१०॥

१११. ऋवे-चतुर्थ मण्डले-अर्हन्तायै सुदानवो नरो आशा–अर्चामरुद्भ्य: ॥५॥

११२. ऋवे-५।६।८६।५॥ ११३. ऋवे-२।१।३।३॥

११४. ऋवे-५।१७।२।२॥ ११५. ऋवे-७।२।१८।२२॥

११६. ऋवे-अष्टक १, अध्याय ६ वर्ग १६ मत्त-६

जैनदर्शनस्य संक्षिप्त-परिचयः

द्वितीयोऽध्यायः

जैनदर्शने द्रव्य-व्यवस्था, तदीयं महत्वञ्च

भारतीय-दर्शनेषु यानि खलु नास्तिकदर्शनानि स्वीक्रियन्ते शेमुषीमद्भिस्तेषु यद्यपि जैनदर्शनस्य प्रमुख स्थानम्, तथापि तस्य सन्ति केचन् विशिष्टाः सिद्धान्ताः, ये सम्प्रति वैज्ञानिकै अपि याथातथ्येन स्वीकृताः। तेषु सिद्धान्तेषु प्रामुख्येन स्याद्वादस्य (अपेक्षावादस्य), तद्वाचकस्य सप्तभङ्गाख्यस्य, द्रव्यान्तर्निहितस्य धर्मद्रव्यस्य च समर्थनं बहुशः पाश्चात्यैर्वैज्ञानिकैर्विधत्तम्।

दर्शनेषु तावत्प्रमाण-प्रमेययोरेव विवेच्यविषयत्वम्, किन्त्वत्रास्मिन् शोध-प्रबंधे प्रमेयभूतेषु द्रव्येषु प्रमुखस्यात्मद्रव्यस्यैव वक्ष्यमाणत्वात्, जैनदर्शन-स्यापि प्रमेयविषयकः संक्षिप्तः परिचयो दीयतेऽस्मिन्नध्याये। तत्र जैनदर्शने स्वीकृतानां षड्द्रव्याणा व्यवस्था, तस्या महत्वं, द्रव्याणा विवेचनम्, इतर-दर्शनाभिमतद्रव्याणाञ्च कथ जैनैः षड्द्रव्येष्वन्तर्भावो क्रियते, एषां षड्विधा-नामपि द्रव्याणामनेकधर्मात्मकत्वात्कथं स्याद्वादमुखेन तद्व्यवहारो शक्यः, स्याद्वादोऽपि कथं सप्तभङ्गमाध्यमेन तद्व्यवहरति, कीदृशी च तत्र विवक्षा नयानुसारं स्थापितेति विवेचनेन जैनदर्शनस्य प्रमेयविषयक एव संक्षिप्तः परिचयो विद्यते।

द्रव्यस्य लक्षणम्

परिणमनशीलस्य द्रव्यस्य सामान्यं लक्षणम्—'उत्पाद - व्यय - ध्रौव्या-त्मकत्वम्'[1] अस्ति। अर्थाद्द्रव्यमुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षणतया स्वरूपास्तित्वं विदधाति। लक्षणेनानेनैकस्मिन् द्रव्ये स्वभावेनैव विद्यमानौ परस्परविरुद्धा-वुत्पादव्ययौ स्तः। आभ्यामेव स्वभावभूताभ्या प्रत्येक द्रव्यं प्रतिक्षणमुत्पद्यते विनश्यते च। पूर्वपर्यायदृष्ट्या विनश्यते, उत्तरपर्याय दृष्ट्या चोत्पद्यते, इत्थं पूर्वपर्यायस्य विनाश एवोत्तरपर्यायस्योत्पादः। एवं चानयोरुत्पादव्यययोर्विद्य-मानयोरपि द्रव्यस्य ध्रौव्यं सुनिश्चितम्भवति, यत्परिवर्तनशीलस्याप्यस्यानन्त-कालं यावदस्तित्वं न हीयते-स्वरूपान्न च्यवते, तस्माद् ध्रौव्ययुक्तं भवति।

प्रत्येकं द्रव्य गुणपर्यायाणामाधारभूतं भवति,[१] द्रव्यस्वभावाश्च गुणाः, अतो द्रव्यादपृथग्भूताः, एषामेवपरिणामाद् द्रव्याणां परिणमनं लक्ष्यते । एषां गुणानां त्रिकालावस्थाः पर्यायाः । गुणाश्च प्रतिक्षणं पर्यायपरिणतस्वभावः । अतएव प्रतिणक्षमेकं पर्यायं परित्यजति द्वितीयं च प्रतिग्रह्णाति ।

द्रव्यस्य गुणपर्यायात्मकत्वम् (सामान्यविशेषात्मकत्वम्)

द्रव्यस्य सामान्यविशेषात्मकं विशेषणं धर्मरूपं वर्तते, यच्चानुगतप्रत्ययस्य व्यावृत्तप्रत्ययस्य च विषयः । वर्तमानं प्रत्यतीतस्य, भविष्यन्तं प्रति च वर्तमानस्योपादानकारणत्वेन त्रयाणामपि क्षणानामविच्छिन्नकारणकार्य-परम्परा सिध्यति ।

द्रव्यस्य न केवल सामान्यात्मकत्वम्, नापि च केवलं विशेषात्मकत्वम्, किन्तूभयात्मकत्वम् । यदि केवलमूर्ध्वतासामान्यात्मक द्रव्यं (सर्वथा नित्योऽविकारि) स्वीक्रियते, तदा त्रिकाले तस्य सर्वथैकरसत्वमपरिवर्तनशीलत्वम् कूटस्थत्वञ्च सिद्ध्येत् । ईदृशे च पदार्थे सति परिणामाभावाज्जगतः समस्त-व्यवहाराणामुच्छेदः, सर्वासामपि क्रियाणां फलरहितत्वम्, पुण्य-पाप-बन्ध-मोक्षादीना च व्यवस्थाया. विनाशो भविष्यति । अतस्तस्मिन् द्रव्ये परिवर्तनं त्ववश्यमेव भवितव्यम् । यतो हि वय नित्य प्रति प्रत्यक्षं पश्यामः यत्कश्चन् बालकः द्वितीयश्चन्द्र इवाहरहः वर्धते, शिक्षामाप्नोति, विकासञ्च लभते । जडस्य जगतोऽपि विचित्राः परिणामाः सन्त्यस्माकं समक्षमतो द्रव्यस्य सर्वथा नित्यत्वात्तेषु क्रमेण युगपद्वा केनापि प्रकारेणार्थक्रियाकारित्वं न स्यात् । अर्थक्रियायाश्चाभावे द्रव्यस्य सत्तापि विनाशं लभेत् ।

एवमेव यदि द्रव्य केवलं पर्यायात्मकं विशेषात्मकं वा स्वीक्रियते, अर्थात्पूर्वक्षणपर्यायस्योत्तरक्षणपर्यायेण सह कश्चनापि सम्बन्धो न स्वीक्रियेत तदादान-प्रदान-गुरु-शिष्यादिव्यवहाराः, बन्ध-मोक्षाद्यवस्थाश्च समाप्ताः स्युः । कार्यकारणभावाभावेऽर्थक्रियापि न स्यात् । अतएव द्रव्यं सामान्य-विशेषात्मकं द्रव्यपर्यायात्मकं[२] वाभ्युपगन्तव्यम् ।

द्रव्यस्य सदसदात्मकत्वम्

प्रत्येकं द्रव्य स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावान् नाक्रामति, न च परद्रव्यक्षेत्रकाल-भावानवाप्नोति, तस्मात् स्वद्रव्याद्यपेक्षया द्रव्य सत्, परद्रव्याद्यपेक्षया चासत् । द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानामिदं चतुष्टयमेव स्वरूपचतुष्टयः । प्रत्येकञ्च द्रव्यं स्वरूपचतुष्टयेन सत्, पररूपचतुष्ट्येन चासद्भवति । यदि स्वरूपचतुष्ट-येनेव पररूपचतुष्टयेनापि सत्ता स्वीक्रियेत तदा स्वपरयोः भेदं भित्वा द्रव्यस्य

पररूपताया अपि प्रसङ्गः प्राप्नुयात्। अथ च पररूपचतुष्टयेनेव स्वरूपचतुष्टयेनापि यद्यसत्स्वीक्रियेत तदा निःस्वरूपत्वादभावात्मकतायाः प्रसङ्गः स्यादतः लोकव्यवस्थायै प्रत्येकं द्रव्यं स्वरूपेण सत्पररूपेण चासदेव व्यवतिष्ठते[४]।

द्रव्यस्य एकानेकात्मकत्वम्

वस्तुतः स्वतंत्रसिद्धयोः पृथक्द्रव्ययोर्नैकात्मकत्वं घटतेऽपितु व्यवहारार्थमेव तयोरेकत्वं स्वीक्रियते। यथाहि—पुद्गलद्रव्यस्यानेकेऽणवो स्कन्धावस्थां प्राप्ते सति काञ्चित्कालावधिं यावदेकसत्तात्मकाः भवन्ति, तत्र तावत्तेषां द्रव्यदृष्ट्यैकत्वं, गुणपर्यायदृष्ट्या चानेकत्वम्। इत्थमेको मनुष्यः (जीवः) बाल-युवा-वृद्धावस्थापेक्षयानेकात्मकोऽनुभूयते। किन्तु यथा द्रव्यं गुणपर्यायैः, संख्या-संज्ञा-लक्षण-प्रयोजनाद्यपेक्षाभिश्च भिन्नमपि गुणपर्यायाणां द्रव्यादपृथक्त्वात्, गुणपर्यायाणां पृथग्विवेचनाशक्यत्वाद्वाभिन्नम्[१] भवति।

सर्वेषामपि द्रव्याणां सत्सामान्येनैकत्वम्, स्वस्वरूपचतुष्टयत्वेन चानेकत्वम्। इत्थमेवेदं समग्रमपि विश्वमनेकात्मकमपि व्यवहारार्थं संग्रहेणैकमेव कथ्यते। एकं हि द्रव्यं स्वगुणपर्यायैः अनेकात्मकम्,[१] एक एवात्मा हर्ष-विषाद-सुख-दुःखज्ञानादिभिरनेकरूपात्मकोऽनुभूयते।

द्रव्यमन्वयरूपम्, पर्यायाश्च व्यतिरेकरूपाः। द्रव्यमेकं, पर्यायाश्चानेकाः। द्रव्यस्य प्रयोजनमन्वयज्ञानं, पर्यायप्रयोजनं च व्यतिरेकज्ञानं। द्रव्यस्यानाद्यनन्तत्वम्, पर्यायाणाञ्च प्रतिक्षणं विनाशशीलत्वम्। इत्थं द्रव्यस्यैकत्वेऽपि यदानेकात्मकता प्रतीति सिद्धा वर्तते, तन्नात्र कश्चनापि विरोधो संशयो वा।

द्रव्यस्य भावाभावात्मकत्वम् (अनन्तधर्मात्मकत्वम्)

द्रव्यस्य (वस्तुनः) अनन्तधर्मात्मकत्वविषये बहुधा जनाः विवदन्ते, यत् घटे यदा अस्तित्वं, तदा कथं तस्य नास्तित्वम्? घटस्य यदैकत्वम्, तदा कथमनेकत्वं तस्य? किन्त्वत्र विचारे कृते सति ज्ञायते—यद् घटो घट एव न वस्त्रम्, नापि किञ्चिदन्यत्। अस्यायमभिप्रायो वर्तते, यत् घटो तद्भिन्नानन्तपदार्थात्मको यदि नास्ति, तद् 'घटः स्वरूपेणास्ति, पररूपानन्तपदार्थात्मकाभावात् पररूपात्मको नास्ति' यदि नेत्थं स्यात्, तदा घटः पट एव स्यादन्यत्कश्चिद्वा स्यात्। अत्रेदं पररूपव्यावर्तकं नास्तित्वमेव घटस्यास्तित्वं स्थापयति। अस्मिन्नेव घटे रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-लघुत्व-दीर्घत्व-सूक्ष्मत्वादयो गुणधर्माः सन्ति। एषामपेक्षया तु घटोऽनेकधर्मात्मको वर्तते, यथा खलु घटेऽनेके

धर्माः गुणा वा विद्यन्ते, तथैव प्रत्येकस्मिन् द्रव्ये द्रव्यत्वादेकत्वेऽपि परस्परं विरुद्धा अनेकधर्मगुणाः स्पष्टमेव प्रतिभासन्ते। अतएवात्र संशयविरोधयुक्तेभ्यो धर्मकीर्तिनेदं प्रतिपादितम्—

'यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्'[*]।

अतः द्रव्यस्य स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया भावत्वम्, परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया चाभावत्वमपि वर्तते। न केवलं भावत्वेन नाप्यभावत्वेन वा व्यवस्था भवति, तथाहि—यदि द्रव्यवत् पर्यायोऽपि केवलं भावरूप एव स्वीक्रियेत तदा प्राक्-प्रध्वंस-अन्योन्य-अत्यन्ताद्यभावानामभावात्पर्यायाणामप्यनाद्यनन्तत्व स्यात्तदा त्वेकं द्रव्यमन्यरूपं भूत्वा प्रतिनियतद्रव्यव्यवस्थामेव समाप्नुयात्। तथाहि—

१—**प्रागभावः**—कार्यं कारणादुत्पद्यतेऽतः किञ्चिदपि कार्यमुत्पत्तेः प्राक् असद्भवति। उत्पत्तेः प्राक्कार्यस्य योऽभावः स एव प्रागभावः, अभावोऽयं भावान्तररूपः। द्रव्याणामनाद्यनन्तत्वात् निश्चितसंख्यात्मकत्वादन्यूनाधिकत्वाच्च द्रव्यरूपेण कारणत्वम्, पर्यायरूपेण च कार्यत्वम्, यतो हि द्रव्याणि नोत्पद्यन्ते, पर्याया एवोत्पद्यन्ते विनश्यन्ति च। अतो यः पर्याय उत्पद्यमानो वर्तते, न स उत्पत्तेः प्राग्वर्ततेऽतोऽत्र यस्तस्याभावः, स एव प्रागभावः। प्रागभावोऽय पूर्वपर्यायरूपो भवति। इत्थमत्यन्तसूक्ष्मकालदृष्ट्यापि पूर्वपर्याय एवोत्तरपर्यायस्य प्रागभावः, पूर्वपर्यायस्य च तत्पूर्वपर्यायः। अनया सन्तत्या चायमनादिर्भवति। यद्यत्र कार्यपर्यायस्य प्रागभावोऽस्वीक्रियेत तत्कार्यपर्यायाणामनादित्वाद्द्रव्येषु त्रिकालवर्तीना सर्वेषामपि पर्यायाणामेकस्मिन्नेव काले सद्भावः स्यात्, स च प्रतीतिविरुद्ध।

२—**प्रध्वंसाभावः**—द्रव्यमविनाशि, पर्यायाश्च विनाशशीलाः, कारणं हि विनश्य कार्यरूपमभिगच्छत्यतः कारणपर्यायस्य नाशो कार्यपर्यायरूपः, कश्चनापि विनाशो नाभावरूपोऽपितूत्तरपर्यायरूप एव भवति, अस्यायमाशयः-यत्पूर्वपर्यायस्य नाश सर्वदोत्तरपर्यायरूप एव भवति। यद्ययं प्रध्वंसाभावोऽपि न स्वीक्रियेत तदापि सर्वकार्यपर्यायाणामनन्तत्व स्यात्।

यदीदं शङ्क्यते-यत्पूर्वपर्यायस्य विनाश उत्तरपर्यायरूपः, तदुत्तरपर्यायस्य नष्टे (पूर्वपर्यायशस्य विनाशे) पुनः पूर्वपर्यायेण भाव्यम्? विनाशनाशस्य सद्भावरूपत्वात्? तन्न समीचीनम्, यतो हि—कारणोपमर्दनात्कार्योत्पत्तिस्तु जायते, किन्तु कार्योपमर्दनेन न कारणोत्पत्तिर्भवति, उपादानस्यो-

पमर्दनेनोपादेयस्योत्पत्तित्वात् । अत्र प्रागभाव-प्रध्वंसाभावयोश्चोपादानोपादेय-सम्बन्धो विद्यते । अतः 'यदतीतमतीतमेव तत्' इति नियमानुसारं विनष्टस्य प्रागभावस्य प्रध्वंसाभावनाशेन न पुनरुज्जीवनम् शक्यम् ।

३—**इतरेतराभावः**— (**अन्योन्याभावः**)—स्वभावान्तरात् स्वस्वभावस्य व्यावृत्तिः, एकस्य पर्यायस्यान्यस्मिन् पर्यायेऽभावो वा, एकस्य स्वभावस्य अन्यरूपाभावो वा, स्वभावानां प्रतिनियतता वान्योन्याभावः । यथाहि—घटस्य पटे, पटस्य च घटे, वर्तमानकालिकोऽभावः । कालान्तरे तु घटपरमाणवो मृत्तिका-कार्पास-तन्त्वादिपर्यायानधिगम्य पटपर्यायमधिगन्तु क्षमाः, किन्तु वर्तमाने तु घटो न पटः, इयमेव या वर्तमानकालिका व्यावृत्तिः सैवान्योन्याभावः ।

यस्याभावे कार्योत्पत्तिः स प्रागभावः, यस्य भावे च कार्यस्य विनाशः सः प्रध्वसाभावः, अत इतरेतराभावस्य अभावेन भावेन वा, उत्पत्या विनाशेन वा, सह सम्बन्धाभावान्न प्राग्प्रध्वंसयोः सतोः अन्योन्याभावस्यानावश्यकता, वर्तमानपर्यायाणा प्रतिनियतस्वरूपव्यवस्थापकत्वात् । यद्ययमप्यवमन्येत तत्कस्यचिदपि पर्यायस्य सर्वात्मकत्वस्य सम्भवः स्यात्, अतोऽयमप्यहेयः ।

४—**अत्यन्ताभावः**—एकस्य द्रव्यस्यान्यस्मिन् त्रैकालिको योऽभावः, स एवात्यन्ताभावः । यथाहि—ज्ञानस्यात्मनि यत्तादात्म्यं, न स कदापि पुद्गले सम्भवति । अत्यन्ताभावाभावे तु न कस्यचिदपि द्रव्यस्यासाधारणो भावः स्वरूपोऽवशिष्टः स्यात्, यतो हि—सर्वं सर्वात्मकं भवेत् । अत्यन्ताभावादेवैकं द्रव्यं नान्यरूपं भवति, द्रव्ययोः सजातीय-विजातीययोः प्रतिनियतस्वाखण्ड-स्वरूपत्वान्न कदापि एकसत्तात्मकं मिश्रणं भवति ।

इमे चत्वारोऽप्यभावाः वस्तुनो भावरूपात्मकत्वाद्धर्माः । एषामभावे स्वीकृते, द्रव्याणां केवलं भावात्मकत्वे वा स्वीकृते सत्युपर्युक्ताः दोषाः बलात् समायान्ति, अतोऽभावांशोऽपि भावांशवद्वस्तुनो धर्मः, इत्थं द्रव्यं भावाभावात्मकम् ।

यदि द्रव्यस्य (वस्तुनो) अभावात्मकत्वमेव स्वीक्रियेत, तदा बोध-वाक्ययो अभावे जाते 'अभावात्मकत्वस्य तत्त्वस्य' स्वयमेव प्रतीतिरसिद्धा स्यात्, परप्रतिपत्तिश्चापि न स्यात् । स्वप्रतीतेः साधनं बोधः, परप्रतिपत्तेश्च साधकं वाक्यम्, अनयोरभावे स्वपक्षसाधनं, परपक्षदूषणं च कथं शक्नुयात् ? इत्थं विचारे कृते सति ज्ञायते यत्प्रत्येकमपि द्रव्यं भावाभावात्मकमेव भवति ।

द्रव्यस्य नित्यानित्यात्मकत्वम्

द्रव्यस्य सर्वथा नित्यत्वे स्वीकृते सति तस्मिन् परिणमनाभावादर्थ-क्रियायाः अभावो स्यात्, अर्थक्रियाकारित्वाभावे तु पुण्य-पाप-बन्ध-मोक्षादि-व्यवस्थाः विनष्टाः स्युः, अथ च जगतः प्रतिक्षणभाविनः परिवर्तनादयोऽप्य[illegible]ाः स्युः ।

सर्वथाऽनित्यत्वे च स्वीकृते पूर्वपर्यायस्योत्तरपर्याये असम्बन्ध, आदान-[illegible]स्मृति-प्रत्यभिज्ञादिव्यवहाराश्च उच्छिन्नाः स्यु, कर्तृकर्मफलावाप्तेश्च [illegible]भावोऽपि स्यात् ।

[illegible] सर्वथा नित्ये पक्षे कर्तृत्वासम्भवस्तर्हि सर्वथाऽनित्ये पक्षे कर्ता कश्चिद्, भोक्ता च कश्चिदिति स्यात् । अथ चोपादानोपादेयमूलक कार्य-कारणभावोऽपि न घटते ।

अतः लोक-परलोक-कार्य-कारणभावादिव्यवस्थायै द्रव्येषु तेषां मौलि-कतया अनाद्यनन्तरूपस्य द्रव्यत्वस्य चाधारो ध्रुवत्वमेव स्वीकरणीयम् । नैनं विना द्रव्यस्य द्रव्यत्व सुरक्षित स्यादतः प्रत्येकमपि द्रव्यं स्वीयानाद्य-नन्तधारायां प्रतिक्षणमेव सदृश-विसदृश-अल्प-सदृश-अर्धसदृशादिरूपेण परिण-ममानं न कदापि समूलोच्छेदं विनाशं वाधिगच्छति । न कदापीदं परिण-मनचक्रमवरुद्धं भवति, न कदापि किञ्चिदपि द्रव्यं समाप्तिमधिगच्छति, अतः प्रत्येकमपि द्रव्यं नित्यानित्यात्मकमेव विद्यते ।

यन्नित्यं तत्कथमनित्यं स्यात् ? इत्यपि शङ्का न कर्त्तव्या, यतो हि—दृश्यते जगति यत्कश्चन अपि पुरुष स्वीयासु बाल-युवा-वृद्धाद्यवस्थासु परिवर्त-मानोऽपि स्वीयमस्तित्वमेकमेवानुभवति, येनैषु परिवर्तनेष्वपि तस्यैकरूपता तिष्ठति । यदेदृशी वस्तुस्थितिस्तदोपर्युक्तं शङ्कन व्यर्थमेव प्रतिभाति, यतो हि परिवर्तनाधारभूता सन्तानपरम्परा द्रव्यस्यानाद्यनन्तत्वं विना न घटते, इयमेव तस्य नित्यता यत्तदनन्तेषु परिवर्तनेषु सत्स्वपि विद्यतेऽतीतांश्च संस्कारान् गृह्णन्, परित्यजश्च वर्तते, आगामिनञ्च प्रत्येक क्षणं समतीत्या-ग्रेऽपि वत्स्यति ।

यथा खलु 'यः स्वयमन्तिम. स्यात् तदनन्तरगामी च न कश्चन, एता-दृशस्य कस्यचिदपि कालक्षणस्य कल्पनाप्यशक्या' एतदिव विश्वस्य जगतो-ऽणु-परमाणु-जीवादिषु कश्चनैको सर्वे वा कस्मिश्चित् काले निर्मूला अतएव समाप्ताः स्यु.' इयमपि कल्पनाशक्या । नेयं कल्पना बुद्धेः परा, यतो हि—

'अमुकस्मिन् क्षणेऽमुकस्य द्रव्यस्यामुकावस्था भविष्यतीति' परिवर्तनस्य प्रकारविशेषस्तु ज्ञातुमशक्यः, किन्तु द्रव्यस्य भविष्यति प्रत्येकस्मिन्नपि क्षणे यत्किञ्चित्परिवर्तनमवश्यमेव भाव्यमिति तु सुस्पष्टतया प्रतीयते बुद्ध्या'।

अतो द्रव्यस्य मौलिकत्वात्तस्य समाप्तेरभावः, यतो हि द्रव्यं परिणामिनित्यं, प्रतिक्षणञ्च त्रिलक्षणम्। प्रत्येकस्मिन् क्षणे तत् पर्यायैकयुक्तं भविष्यत्येव। यथा खलु स पर्यायोऽतीतपर्यायं विनाश्य स्वयमस्तित्वमागतः, तथैवोत्तरपर्यायं समुत्पाद्य स्वत एव विनङ्क्ष्यति। अतीतस्य व्ययः, वर्तमानस्योत्पादः, द्वयोश्च द्रव्यरूपेण ध्रौव्यमस्त्येवेयमेव त्र्यात्मकता वस्तुनो वस्तुत्वम्। इदमेव स्वामिना समन्तभद्रेण[8] कुमारिलभट्टेन[9] च प्रतिपादितम्।

पातञ्जलमहाभाष्येऽपि[10] वस्तुनो त्र्यात्मकतायाः समर्थनं शब्दार्थमीमांसाप्रकरणे समुपलभ्यते, यदाकृतिनाशेऽपि पदार्थसत्तावशिष्यते। यद्यप्येकस्मिन्नेव क्षणे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्याणां परस्परविरुद्धत्वं प्रतिभाति, किन्तु विचारे कृते सति विरोधः शाम्यति। यतो हि नैनं विना तत्वस्वरूपनिर्वाहो भवेत्।

द्रव्यस्य भेदाभेदात्मकत्वम्

गुणगुणिनोः, सामान्यसामान्यवतोः, अवयवावयविनोः कारणकार्ययोस्सर्वथा भेदे सति गुणगुण्यादिभावा न स्युः। सर्वथाभेदेऽपि 'अयं गुणः, अयं च गुणी' अयमपि व्यवहारो न सम्भवेत्। यद्यवयवी अवयवेभ्यो भिन्नस्तदवयवी स्वावयवेषु सर्वात्मनैकदेशेन वा तिष्ठति? सर्वात्मना चेत्तर्हि—अवयवसंख्याकाः अवयविनोऽपि स्युः, यद्येकदेशेन तदवयवसंख्याकाः तस्य प्रदेशाः स्वीकरणीयाः।

इत्थं सर्वथा भेदेऽभेदे वानेके दोषाः समायान्ति। अतः यद् द्रव्यं स एवाभेदः, यश्च गुणः पर्यायो वा स एव भेदः। पृथक् सिद्धयोर्द्रव्ययोर्यथा भेदः काल्पनिकस्तथैवैकस्य द्रव्यस्यापि स्वगुणपर्यायाभ्यां भेदो केवलं व्यवहारार्थमेव कल्प्यते। यतो हि, गुणेभ्यः पर्यायेभ्यो वा पृथक् न द्रव्यस्य किञ्चित् स्वतः अस्तित्वं वर्ततेऽतस्तत्त्व भेदाभेदात्मकमेव स्वीकरणीयम्। एवमेवान्यानन्यात्मकत्वं[11] पृथक्त्वापृथक्त्वात्मकत्वं[12] वा तत्त्वस्य समन्तभद्राचार्येण व्याख्यातम्।

यथैकः कश्चन पुरुषः विभिन्नापेक्षाभिः कर्तृ-कर्म-करणादिरूपेण व्यवहरति, परं तस्य स्वरूपं तु स्वतः सिद्धमेव यथा भवति तथैव धर्म-धर्मिभावस्या[13]-पेक्षिकत्वेऽपि द्रव्यस्यापि स्वरूपं स्वतः सिद्धम्।

अस्य केवलमयमेव निष्कर्षः—यद्द्रव्यस्यानन्तगुण - पर्याय - धर्मेभ्यः पृथक्स्वतंत्रास्तित्वाभावात्प्रत्येकस्यापि द्रव्यस्याखण्डस्य व्यवहारार्थमेवानेक-

धर्मादीनां विश्लेषणं विद्यते। नापि तेषां धर्मादीनां द्रव्याद् व्यतिरिक्ता काचित्सत्ता वर्तते।

द्रव्य-व्यवस्था

जैनदर्शने विभिन्नैराचार्यै. द्रव्याणां विवेचनं विभिन्नैर्दृष्टिकोणैः कृत विद्यते, तेषु प्रमुखानां सिद्धान्तानामत्र विवेचनं क्रियते।

द्वे द्रव्ये

विश्वस्य मूले मुख्यत जीव· (Soul) अजीवश्च (Non Soul) एव विद्येतेऽनयोरेव सर्वत्र सम्मिश्रणम्। अनयोरेतेन सम्मेलनेन निर्मितैर्बन्धनैर्जीवः नानासंसारिदशामनुभवति। यदीय सम्मिश्रणधाराऽवरुद्धा स्यात्तदोत्पन्नान् बन्धनान् विनश्य जीव स्वीया शुद्ध-बुद्ध-मुक्तावस्थामाप्तु शक्नुयात्"। इत्थमत्र संक्षेपत द्वे एव द्रव्ये। अनयोर्ज्ञानरूपो जीवः, अज्ञानरूपश्चाजीव। पद्मनन्दिनाप्येतदेवोक्तम् चिदचिच्चेति द्वे परमतत्वे" (Ultimate reality)

केचन च द्रव्याणामस्तिकायानस्तिकायरूपेण भेदमभिदधन्ति। अत्रास्तिकायपदेन तेषामेव ग्रहणं भवति येषामस्तित्वं बहुप्रदेशयुक्तत्वञ्चस्ति। यथाहि—जीवः (Soul), पुद्गल (Matter), धर्म. (Motion), अधर्मः (Rest), आकाशश्चेति (Space)। इमे सर्वेऽपि स्वीयेनास्तित्वेन सहैव बहुप्रदेशात्मकत्वात् काय इवाकाशे स्वस्वरूपानुसारं अवगाहन्ते, किन्तु कालोऽस्तित्वात्मकोऽपि बहुप्रदेशित्वाभावादकायवान्। इत्थं केवल काल (Time) एवानस्तिकाय, अन्ये चास्तिकाया। डा० रामनाथशर्मणापि सिद्धान्तोऽय स्वीकृत"।

पञ्च द्रव्याणि

अन्ये च जैनदार्शनिका. जीवाजीवतत्त्वानामन्यदेव वर्गीकरणं कुर्वन्ति। येन केवलं पञ्चास्तिकायानामेव द्रव्यत्वेन स्वीकार, ते च यथा—जीव, धर्मोऽधर्म., आकाश, पुद्गलश्चेति। एषा पञ्चानामपि द्रव्याणा त्रिकालवर्तिना कालेन सम्बन्ध', त्रिकालस्थितत्वात्। अतोऽस्तिपदेनैषां स्थितेः (Existence) यथा बोधो भवति तथैव काय इव प्रदेशप्रचयत्वमप्येषा कायपदेन बुद्ध्यते। यतो हि समस्तमपि वस्तुजात यस्मिन् कस्मिन् वा देशे काले, (Time or Space) तिष्ठत्येव कालस्य द्रव्यत्वेनास्वीकारस्य विवेचनमग्रे करिष्यते।

षड्द्रव्याणि

दिगम्बराचार्यास्तु पञ्चास्तिकायातिरिक्तं कालमपि द्रव्यरूपेण स्वीकृत्य

षड्द्रव्याणीति[19] स्वीकुर्वन्ति । तेषाम्मतानुसारं कालस्यापि द्रव्यलक्षणयोगा-देकप्रदेशित्वेऽपि (अनेकप्रदेशित्वाभावेऽपि), द्रव्यत्वमस्ति (Substance) एव । गुणैः पर्यायैश्च युक्तं[16] द्रव्यं, तत्र स्वयं गुणरहिताः द्रव्याश्रिताः गुणाः (Qualisties or Attributes) । यथा जीवस्य ज्ञानं, पुद्गलस्य रूपादयः, धर्मस्य गतिः, अधर्मस्य स्थितिः, आकाशस्यावगाहः, कालस्य च वर्तनाहेतुत्वम् ।

द्रव्यस्योपर्युक्तरूपेण परिणमनं (भिन्नावस्थासु परिणमनं) पर्यायः (Action) । यथाहि—जीवस्य घटादिज्ञानं, सुखं क्लेशादयश्च, पुद्गलस्य मृत्पिण्डघटादयः, धर्मादे. गत्यादिविशेषाः । इत्थ कालेन सह षड्द्रव्याणीति प्रसिद्धम् ।

सप्ततत्त्वानि

तत्त्वानि सप्तविधानि, तथाहि—जीवः (Soul) अजीवः (Non-Soul) आस्रवः (Inflow), बन्धः (Bondage) सम्वरः (Stoppage), निर्जरा (Shedding) मोक्षश्चेति[17] (Liberation) । उपर्युक्तेषु षड्द्रव्येषु प्रथमो जीव', शेषास्त्वजीवाः (अजीवस्यैव भेदाः) सन्ति । अतः जीवाजीवयोरति-रिक्तमपि कैश्चिदाचार्यैः एषां पञ्चानामपि विश्लेषणं कृतम् ।

द्रव्य-व्यवस्थायाः महत्त्वम्

पदार्थव्यवस्थादृष्ट्येद जगत् षड्द्रव्यमयं वर्तते, किन्तु मोक्षार्थिने येषां पदार्थानां ज्ञानस्यावश्यकतापेक्षा वास्ति, तानि सप्ततत्त्वानि प्रागुक्तानि एव सन्ति । मोक्षप्राप्त्यै जगत., जगद्धेतो., मोक्षस्य, मोक्षोपायानाञ्च ज्ञानं तथैवा-वश्यक विद्यते यथा खलु कस्मैचन व्याधिग्रस्ताय व्याधिमुक्त्यर्थं व्याधेः, व्याधिहेतो', व्याधिमोक्षस्य, व्याधिमोक्षोपायानाञ्च ज्ञानमावश्यकम् । विश्व-व्यवस्थाया. तत्त्वनिरूपणस्य चोद्देश्यानि पृथक्पृथगेव सन्ति । तत्त्वज्ञानान्मो-क्षावाप्तिस्तु विश्वव्यवस्थाया ज्ञानाभावेऽपि शक्या, किन्तु विश्व-व्यवस्थायाः समग्रमपि ज्ञानं तत्त्वज्ञानाभावे निरर्थकमेव स्यात् । इत्थमात्मा बद्ध, एभिर्हे-तुभिर्बद्धः, बन्धश्चाय भेद्यः, एभिश्चोपायैर्भेद्य', एषु चतुर्षु एव भारतीयै-दर्शनिकैः तत्त्वज्ञानस्य परिसमाप्ति' कृता । भगवता बुद्धेनापि एषामेव चतुर्णां रूपान्तरेण दुःख, समुदयः, निरोधो, मार्गश्चेति चतुःसत्यानां विवेचनं कृतम् ।

मोक्षार्थिने तु क. मोक्ष. ? इति ज्ञानमावश्यकम्, यस्य प्राप्त्यै सः प्राप्तान् अपि सुखान् परित्यज्य स्वेच्छया साधना-कष्टमनुभवितु सन्नद्धो

भवति। किन्त्वात्मनः स्वतन्त्रस्वरूपस्य ज्ञानं विना, तस्य सुखदस्वरूपस्य च ज्ञानं विना केवलं परतन्त्रतामपाकर्तुं तादृशस्योत्साहस्य भावो न स्यात् येन मुमुक्षुः तपसः साधनायाश्च कष्टान् स्वेच्छया सहितुं प्रयतते। अतस्त-स्याधारभूतस्यात्मनः स्वरूपस्य ज्ञानं मोक्षार्थिने सर्वप्रथममावश्यकम्। यतश्चात्मा बद्धः, अतएव मुमुक्षुः स्वभावतो भवति। अतएव भगवता महा-वीरेण बंधास्रवसंवरनिर्जरामोक्षादीनां ज्ञानेन सहैव जीवतत्त्वस्यापि ज्ञान-मावश्यकमिति कथितम्, यतो हि जीव एव संसारी भवति, स एव बन्ध-मधिगच्छति, स एव च बन्धान् विदीर्य मोक्षमवाप्नोति।

बन्धश्च जीवाजीवयोर्द्वयोर्द्रव्ययोर्भवति, अतो यस्याजीवस्य सम्पर्केण जीवस्य विभावपरिणतिः, रागद्वेषसन्ततिः, यैश्च कर्मपुद्गलैः बन्धः स्वस्व-रूपाद् भ्रंशन च जायते, तस्याजीवतत्त्वस्यापि ज्ञानमावश्यकमपेक्षितञ्च। अस्यायमेवाभिप्रायो वर्तते—यज्जीवाजीवादीनां सप्तानामपि तत्त्वानां मोक्षाय सर्वप्रथमं ज्ञातव्यत्त्वाद् दर्शनेषु एषा तत्त्वाना महत्वं वैशिष्ट्यं च जैनदार्शनिकैः स्वीकृतम्।

जैनदर्शने द्रव्य-विवेचनम्

जैनदर्शने जीवोऽजीव. धर्मोऽधर्म आकाश पुद्गलश्चेति षड्द्रव्याणि सन्ति, इति पूर्वमेवाभिहितम्। एषु प्रथमस्य जीवद्रव्यस्यैव विवेचनमस्य शोध-प्रबन्धस्य मूलभूतो विषय. तस्यैवाग्रे वक्ष्यमाणत्वात् तत्प्रयोजनभूतानां शेषाणां पञ्चाना द्रव्याणा विवेचन क्रियते।

पुद्गलः (Matter)

पुद्गलद्रव्यस्य सामान्यलक्षणम्—'रूपरसगन्धवर्णवन्त' पुद्गलाः',[१०] 'पूरणाद् गलनाद्वा पुद्गलः' इति। अत्र पूरणम्—द्व्यणुकादिस्कन्धेषु तस्य मिलनम्, गलनं च स्कधात्पृथक्भवनम्। इत्थ य उपचयापचयमवाप्नोति सः पुद्गल। समस्तमपीद दृश्यमान जगत् पुद्गलविस्तर एव। मूलतस्तु पुद्गल-द्रव्य परमाणुरूपमेव। परमाणूनां सघातेन यत्स्कन्धस्योत्पत्तिर्जायते तत् सयुक्त पुद्गलद्रव्य भवति। इमे पुद्गलपरमाणवः स्वबन्धनशक्त्या याव-न्मिलिता सन्ति तावत् स्कन्धपदभाजो भवन्ति। एषां स्कन्धानामुत्पत्तिः विघटनञ्च परमाणूना भेदसघातेभ्य एव भवति। अस्य चेमे चत्वारः प्रमुखाः गुणा भवन्ति—रूपम् (Colour), रस· (Taste), गन्ध· (Smell), स्पर्श-श्चेति (Touch)।

पुद्गलस्य चत्वारो भेदाः

पुद्गलद्रव्यस्य चत्वारो भेदाः भवन्ति—१-स्कन्धः, २-स्कन्ध-देशः, ३-स्कन्धप्रदेशः, ४-परमाणुश्चेति[11]। तत्रानन्तानन्तैः परमाणुभिर्युक्तः स्कन्धः, स्कन्धार्धो स्कन्धदेशः, तदर्धश्च स्कन्धप्रदेशः। परमाणुश्च सर्वथाऽविभागी सूक्ष्मतमश्च भवति[12]। इन्द्रियाणि, शरीरं, मनः, इन्द्रियविषयाः, श्वासोच्छ्वासादयश्चास्यैव विविधाः परिणामाः[13]।

स्कन्धभेदाः

स्कन्धः स्वपरिणमनक्रियया षड्विधो भवति—(१) स्थूल-स्थूलाः (Gross-Gross) (२) स्थूलाः (Gross) (३) स्थूलसूक्ष्माः (Gross-Fine) (४) सूक्ष्म-स्थूलाः (Fine-Gross) (५) सूक्ष्माः (Fine) (६) सूक्ष्म-सूक्ष्माः (अतिसूक्ष्माः) (Fine-Fine) इति।

१—**अतिस्थूलाः** (Gross-Fine)—ये स्कन्धाः छिन्नतां भिन्नतां वाप्ताः सन्तः पुनर्मिलितुमशक्तास्ते स्थूलस्थूलाः। यथाहि—काष्ठ-शिला-पर्वत-पृथिव्यादयः।

२—**स्थूलाः (बादराः)** (Gross)—ये च स्कन्धाः छिन्नतां भिन्नतां वाप्ताः सन्तः स्वत एव मिलनक्षमास्ते स्थूलाः। यथा—दुग्ध-तैल-जलादयः।

३—**स्थूलसूक्ष्माः** (**बादरसूक्ष्माः**) (Gross-Fine)—येषां स्कन्धानां स्थूलत्वं केवलं दृष्टिपथमेवायाति, किन्तु न ते कदापि छेद्याः भेद्याः वा भवन्ति। ते बादरसूक्ष्मा इत्युच्यन्ते। यथाहि—छाया-आतप-अन्धकार-प्रकाशप्रभृतयः।

४—**सूक्ष्म-स्थूलाः** (**सूक्ष्मबादराः**) (Fine-Gross)—ये च स्कन्धाः सूक्ष्मत्वे सत्यपि स्थूला इव प्रतीयन्ते, ते चतुरिन्द्रियविषयाः स्पर्श-रस-गन्ध-शब्दाः सूक्ष्म-स्थूलाः भवन्ति।

५—**सूक्ष्माः** (Fine)—ये सूक्ष्मत्वान्नेन्द्रियग्राह्यास्ते कर्मवर्गणादयः सूक्ष्मस्कन्धाः भवन्ति।

६—**अतिसूक्ष्माः** (**सूक्ष्मसूक्ष्माः**) (Fine-Fine)—कर्मवर्गणाभ्योऽपि सूक्ष्माः द्व्यणुकस्कन्धं यावत् सर्वेऽपि स्कन्धाः सूक्ष्मसूक्ष्माः (अतिसूक्ष्माः) भवन्ति।

परमाणुः (Atom)

परमाणुः परमातिसूक्ष्मः[14], अविभागी[15] चास्ति। शब्दकारणोऽपि सन्

स्वयमशब्दः, शाश्वतोऽपि सत्युत्पादव्ययुक्तो भवति[१६]। प्रत्येकस्मिन् परमाणौ स्वभावत एवैकरसरूपगन्धाः, द्वे स्पर्शे च भवन्ति। अर्थात् श्वेतरक्तनीलपीतकृष्णवर्णेषु कश्चनैको रूपः (वर्णः) परिवर्तनशीलो भवति, मधुराम्लकटुकषायतिक्तेषु कश्चनैको रसः परिवर्तनशीलः, सुगन्ध-दुर्गन्धयोः कश्चनैको गंधोऽप्यवश्यमेव भवति। शीतोष्ण-स्निग्धरूक्षयोश्चैकैकः कश्चनापि स्पर्शः, अर्थात् द्वौ स्पर्शौ प्रत्येकं परमाणौ भवतः, शेषाः मृदुकर्कशाः गुरुलघू चेमे स्पर्शाः, स्कन्धावस्थायामेव भवन्ति, न तु परमाणौ। अयमेकप्रदेशिपरमाणुः स्कन्धानां सयोजकत्वाद् हेतुः (कारणं), विभाजकत्वाच्च कार्यमप्यस्ति। अतः पुद्गलस्य परमाणुरूपावस्था स्वाभाविकी, स्कन्धरूपा चावस्था विभावपर्य्यायियुक्ता भवति।

रूपिणः पुद्गलाः

पुद्गलः रूपिद्रव्यम्, अन्ये च सर्वेऽरूपिणः, इदमेवास्यान्येभ्यः पार्थक्यम्। द्रव्यमिदं वर्ण - गन्ध - रस - स्पर्शात्मिकत्वात्, इन्द्रिय-ग्राह्यत्वाच्च रूपी (Material)। पुद्गलस्येमे मूर्तगुणाः परमाणुतः पृथ्वीस्कन्धं यावत्सर्वत्रापि प्राप्यन्ते, इमे च सर्वेऽपि रूपिणः[१७] सन्ति।

अत्रेदमवधारणीयम्-यदस्मिन् वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शाश्चत्वारोऽपि गुणाः सर्वदैव तिष्ठन्ति, न कदापि कुत्रापि एको द्वौ त्रयो वा। इदं तु सम्भाव्यते यदेकस्मिन् काले एकः प्रमुखः इन्द्रियग्राह्यो वा स्यात्, अपरे तु गौणाः, अतीन्द्रियाः वा स्युः, परं न तत्रेषु कस्याप्यभावो सम्भाव्यते। अस्य सिद्धान्तस्य समर्थनमाधुनिकेन विज्ञानेनापि कृतं विद्यते। तथाहि—वैज्ञानिकैः हाइड्रोजननामको वायुः (Hydrogen) नाइट्रोजन (Nitrogen) नामको वायुश्च (Gas) वर्ण-गंध-रसरहितोऽभिहितः[१८]। परन्त्वनेन कथनेन नानयोरेषां गुणानां सर्वथाभावो गृहीतुं शक्यते, यतो ह्यनयोः वाय्वोरेकः स्कन्धपिण्डः अमोनिया' (Amonia) नामको विद्यतेऽस्मिन् हाइड्रोजननामकस्य वायोरेकोऽंशः, नाइट्रोजननामकस्य वायोश्च त्रयोऽंशाः भवन्ति। स्कन्धे चास्मिन् वैज्ञानिकैः रसगन्धयोः स्वीकारः कृतो[१९] विद्यते। विज्ञानस्यायं सर्वमान्यः मूलभूतश्च सिद्धान्तः 'यन्नासतः उत्पत्तिः सतश्च विनाशो जायते', अनेनैव सिद्धान्तेन 'अमोनिया' स्कन्धे वर्तमानयोः रसगन्धयोः स्वीकारे कृते सति कथमुपर्युक्तयोः वाय्वोरस्वीकारः स्वीक्रियते, यतो ह्यनयोरेव परिणामोऽमोनियास्कन्धः, नान्यः कश्चित्।

किञ्च,—यद्यनयोर्वाय्वोर्नेमौ गुणौ विद्येते, तत्कथमनयोः परिणामे

(Resultant) अमोनियास्कन्धे इमौ गन्धरसौ स्याताम्? न कश्चनाप्येतादृशो गुणो वर्तते यस्य परमाणावभावे सति स्कन्धे सत्ता स्यात्। अतोऽनेन यथानयोर्वायवो रसगन्धौ सिध्येते, तथैव वर्णोऽपि साध्यः स्यान्नत्वसाध्यः। अस्य केवलमयमेवाशयः यत् पुद्गले सर्वत्रैव वर्णरस-गन्ध-स्पर्शानां साम्येनास्त्यस्तित्वम्, न तु कस्याप्यभावेन।

शब्दस्य पुद्गलपर्यायत्वम्

पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायाः—शब्दः (Voice), बन्धः (Bondage), सौक्ष्म्यं (Fine-ness), स्थौल्यं (Gross-ness), संस्थानं (Figure), भेदः, तमः, छाया, आतपः (Hot-Light), उद्योतादयः (Cold-light)[10] च। वैशेषिकादिभिश्शब्दमाकाशगुणमभिहितम्, किन्त्वाधुनिकविज्ञानेन विविधैर्यन्त्रैश्शब्दं संग्राह्य तस्य पौद्गलिकत्व साधितम्। शब्दः पौद्गलिकैरेव यन्त्रैर्ग्रह्यते, पौद्गलिकेनैव यन्त्रेण धार्यते, पौद्गलिकैरेव पदार्थैरवरुध्यते, कर्णपटलादीन् (पौद्गलिकान्) एव विदारयति, पौद्गलिकमेव वातावरणमनुकम्पयति, अतएवायमपि पौद्गलिकः सिध्यति।

अथ स्कन्धानां पारस्परिकसंघर्षात्, संयोगात्, विभागाद्वोत्पद्यते, जिह्वातात्वादीना सयोगादपि नानाप्रकारकाः प्रायोगिकशब्दा उत्पद्यन्ते, अस्योत्पादकानि निमित्तकरणान्युपादानकारणानि च पौद्गलिकान्येव सन्ति। यदा स्कन्धाभ्यां संघर्षात्कश्चन शब्द उत्पद्यते, तदा सः स्वशक्त्या पार्श्ववर्तिनः स्कन्धानपि शब्दायमानान् करोति, यथाहि—जलाशये पाषाणखण्डे प्रक्षिप्ते समुत्पन्नः प्रथमस्तरङ्गः स्वीयगतिशक्त्या स्वपार्श्ववर्तिनं जलमपि क्रमशस्तरङ्गयति, अथ चाय क्रम येन केन प्रकारेण स्ववेगानुसारमतिदूरमपि जलमतिक्रामति। इत्थं शब्दो नाकाशगुणोऽपितु पुद्गलपरिणाम एव।

शब्दस्य पुद्गलगुणत्वनिरसनम्

अत्रायम्प्रश्नः—यद्यथा वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शा पुद्गलगुणास्तथैव शब्दस्यापि पौद्गलिकत्वे सिद्धे कथं न पुद्गलगुणत्व स्वीक्रियते, यतो हि यथा वर्णादयो क्रमशश्चक्षुरिन्द्रियादीना विषयास्तथैव शब्दोऽपि श्रोत्रेन्द्रियविषयः। तन्न समीचीनं प्रतिभाति, यतो हि गुणा द्रव्यस्य आधारभूताः तल्लिङ्गाः[11] भवन्ति, अत शब्दो न पुद्गलगुणः नापि स पुद्गलद्रव्ये सर्वदा प्राप्यते। अतः स पुद्गलपरिणाम एव भवितु शक्नोति, यतश्च स पुद्गलस्कन्धानां पारस्परिकसघर्षादुत्पद्यते।

यदि शब्दस्य पुद्गलगुणत्वं स्वीक्रियेत तदा सर्वदा पुद्गलश्शब्दरूप एव स्यात्, किन्तु नैतादृशो वस्तुतः दृश्यतेऽतः शब्दस्य पुद्गलगुणत्वं नोचितम्, नापि स्वीकर्तुं शक्यते ।

धर्मद्रव्यम् (Medium of Motion)

अनन्तेऽस्मिन्नाकाशे लोकस्याकारं निश्चेतुमिदमावश्यकं यत्काचिदेतादृशी विभाजिका रेखा मौलिकाधारयुक्ता भवितव्या, यया जीवपुद्गलानां गमन तावदेव स्यान्न तस्या बहि. । आकाशमेकममूर्त्तमखण्डमनन्तप्रदेशि, सामान्यसत्तया च सर्वत्र स्थित द्रव्यमतोऽस्य निर्धारितप्रदेशं यावदेव जीवपुद्गलाना गमन स्यान्न तदग्रे, इत्यात्मके नियन्त्रणे नाकाश. क्षम., यतो हि तस्मिन् प्रदेशभेदत्वेऽपि न स्वभावभेदो विद्यते । जीवपुद्गलास्तु स्वत एव गतिस्वभावा , अतो न तेषा स्वतः स्थिते. प्रश्न., अस्मात्कारणादेव जैनाचार्यैः लोकालोकविभागार्थमाकाशसदृशमेकममूर्तिक निष्क्रियमखण्ड धर्मद्रव्य स्वीकृतम् । यश्च गतिशीलाना जीवपुद्गलाना गमनक्रियायां साधारणो हेतुः । नाय धर्म कञ्चनमपि द्रव्य सचोद्य सचालयत्यपितु ये गतिमन्त पुद्गलजीवास्तेऽनेन माध्यमेनाश्रयं गृह्णन्ति । लोकान्तस्त्विदं द्रव्यं सामान्यं, परं लोकान्ते तु नियन्त्रकरूपेण स्पष्टं परिज्ञायते, यद्धर्मद्रव्यमप्यस्तित्ववान्, येन सर्वेऽपि पुद्गलजीवा· स्वीय गमन तावत्पर्यन्तमेव विधातु शक्ता·, नाग्रेऽपि ।

धर्मशब्दस्य द्रव्यवाचकत्वम्

वर्धमानमहावीरेणोक्तम् द्रव्यं व्याख्याययता, यत्—'गुणाश्रयो द्रव्यम',[१२] अनेनेद सुस्पष्ट भवति यदत्र धर्मशब्दः नात्मशुद्धिसाधन.[१३], नापि कर्त्तव्यगुणवाचि वास्ति । अपितु धर्मद्रव्यमेक[१४], लोकव्याप्त, शाश्वत, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शशून्यञ्च, जीवानामणूनाञ्च गतिक्रियाया सहायकम्[१५] । जीवाना गमनागमने, भाषणोन्मेषौ, मानसिक-वाचिक-कायिक्या· वान्या. प्रवृत्तयोऽपि धर्मेणैव सम्पाद्यन्ते[१६] ।

धर्मद्रव्यस्यावश्यकता

धर्मास्तिकायस्य कल्पन न केवल वागाडम्बरमात्रमित्यस्य विश्लेषणं जैनदार्शनिकैरित्थ कृत विद्यते—जैनदर्शनस्येयं मान्यता, यदाकाशमनन्तं, विश्वञ्च तदेकदेशवर्ति, यदीत्थ न स्यात्तर्हि विश्वस्यैकैको परमाणुरनन्तेऽस्मिन्नाकाशे प्रकीर्ण स्यादथ चास्य विश्वस्य सघटनमप्यसम्भव स्यात् । अतः वर्तते कञ्चनैतादृशमेक द्रव्य यच्च लोकपरिमित, गतिक्रियायां सहायकञ्चास्ति । इयमेवास्त्यस्य धर्मद्रव्यस्यापेक्षा ।

धर्मद्रव्यस्य स्वतंत्रं कल्पनम्

आत्मा अणुश्चेमौ द्वावेव गत्यात्मकौ। स्वगतेरुपादानकारणे त्विमावेव; परं निमित्तं कारणं किम्? पृथ्वी-जलादीनि न लोकपरिमितानि, गतिस्तु सम्पूर्णे लोके एव दरीदृश्यते, वाय्वादयस्तु स्वत एव गतिशीलाः, आकाशश्च लोकालोकव्याप्तः, परं न जीवपुद्गलानां गतिस्सर्वत्रैवालोक्यते? कालश्चापि गतिनिरपेक्षः, इत्थं निर्धारितेषु द्रव्येषु नैकमपि द्रव्य गतिमाध्यम प्रतीयते, अस्मात्कारणादेव धर्मद्रव्यस्य स्वतंत्रा कल्पना स्वाभाविका, बुद्धिगम्या चास्ति।

धर्मद्रव्यस्य सहायस्वरूपम्

आत्मनोऽणोश्च गतिक्रियायां जैनमनीषिभिः उदासीनमाध्यमरूपेण धर्मद्रव्यं निरूपितम्। धर्मद्रव्य कथ जीवपुद्गलानां गमने सहायको भवतीति कुन्दकुन्दाचार्यैर्निर्दिष्टम् 'धर्मास्तिकायो न तु स्वत गच्छति, नापि कञ्चन द्रव्य गमयति, तत्तु केवल गतिसाधनमात्रमेव, यथाहि जलं स्वयमगच्छन्, मत्स्यान्नप्यगमयन् तासा गतावनुग्रहशील, तथैव जीवपुद्गलेभ्यो धर्मद्रव्यमपि ज्ञेयम्'[१७]।

ईथराख्य ग्राधुनिको गतिमाध्यमः

गतिक्रियाया विश्लेषणे प्रवृत्तेराधुनिकैर्वैज्ञानिकै. प्राय द्विशताब्द-पूर्वमेन सिद्धान्तं परिज्ञाय 'ईथरद्रव्य' परिकल्पितम्। एकोनविंशतिशताब्दी यावत् वैज्ञानिके जगति द्रव्यस्यास्य न किमपि स्थानमासीत्। सृष्टेः प्रत्येकेष्वणुषु विचारशीलो वैज्ञानिकवर्गोऽस्या सृष्टे महत्वपूर्णनानेनाङ्गेनापरिचित एवासीत्। किन्तु, यदायं प्रश्न. समुपस्थित. यत्सूर्यादिग्रहनक्षत्राणां मध्ये वर्तमानेऽस्मिन् शून्यप्रदेशे कथमिमा प्रकाशकिरणाः एकस्मात्स्थानादन्यं स्थानं गच्छन्ति? कश्च तासां गतिमाध्यमः? कथञ्चायं भारवान् प्रकाश. (पूर्ववैज्ञानिकैः प्रकाश भाररहित एवाङ्गीकृत आसीत् किन्त्वद्यप्रभृतिः तैः प्रकाशः भारयुक्त. स्वीकृतः, अयमपि सिद्धान्तः जैनदर्शने पूर्वकालादेव विद्यते) माध्यमेन विनैवान्यं स्थान यावत् गच्छेत्? अस्यैव प्रश्नस्य समाधानरूपेण एभिः 'ईथरद्रव्य' कल्पितं, स्वीकृतञ्च—'यदीथरद्रव्य न केवलमाकाशीयग्रहनक्षत्र-मध्ये स्थिते शून्यस्थाने एव विद्यतेऽपितु सूक्ष्मतमस्य परमाणोरप्यन्तः शून्ये देशे विद्यते'।

ईथरसम्बन्धिप्राथमिकधारणास्विद प्रतिपादितमासीद् यदस्मिन् सघनत्वं, तरलत्वं भौतिकत्वञ्च वर्तते। परमस्या विंशतिशताब्द्यां जातैर्गवेष-

णाभिरीद्रव्यस्य तदेव स्वरूपं निश्चितं, यत् जैनदर्शने धर्मद्रव्यस्य स्वरूप विद्यते । ईथरद्रव्यस्य धर्मद्रव्येण कियत्साम्यं कियाश्च भेदो वर्तते, इति प्रदर्शनार्थमत्रे थरद्रव्यसम्बन्धिविदुषां सिद्धान्तानामुद्धरणानि कानिचित् प्रस्तूयन्ते । नेमिरसनमहोदयैरस्य विवेचनमित्थ कृतम्—'कीदृशमासीदिदमीथरद्रव्यम् ? इत्यात्मिकया विप्रतिपत्तयो विरोधा वा दृष्टिगोचरा अभवन्, यतो हीदं सिद्धमासीत्, यत् (१) ईथरद्रव्यं वायुभ्योऽपि तरलम् (२) लौहादपि सघनम् (३) सर्वत्राप्येकदृशम्, (४) अगुरुलघुत्वयुक्तमपि भारशून्यम्, (५) कश्मिश्चिदपि 'इलैक्ट्रान' (Electron) पार्श्वे पारदाख्याद्द्रव्यादपि भारवांश्चास्ति' ।[१८]

डेन्टनमहोदयैश्चापि एतद्विषये विलिखितम् यत्—'न्यूटनमहोदयेनाविष्कृतमीथरद्रव्य यद्यपि सघन विद्यते तथापि तस्मिन् सघर्ष विनैव स्वच्छन्दतया विहरन्ति पदार्था । अस्यात्यन्तकोमलत्वेऽपि न विभिन्नाकारा. भवितु शक्नुवन्ति, भ्रमणशीलत्वे चापि नास्य गतिर्दृष्टिगोचरीभवति । पदार्थेष्वस्य प्रभावो भवत्येव परं नास्मिन् पदार्थप्रभाव कथमपि सम्भवति, नास्य विभिन्ना स्कन्धा सन्ति, अतएव न वयमस्य पृथक्पृथगशान् अभिज्ञातुं शक्नुमः । स्थितानां नक्षत्राणामपेक्षयास्य निष्क्रियत्वेऽपि, नक्षत्राणा परस्परापेक्षया गतिशीलत्वमेव स्वीकृत विद्यते'[१९] ।

मैक्सबोर्नमहोदयैश्चैतद्विषयेऽभिहितम् यत्—'शतवर्षपूर्व ईथरद्रव्यमेकमवलेह्यपदार्थवत्तरल स्वीकृतमासीत्, यच्चातिलघु , गुरुश्चापि स्यात्, येन तत् द्रुतगत्या परावर्तु शक्नोतु' । पर निकल्सनमहोदयस्य प्रयोगेनापेक्षावादसिद्धान्तेन चेद ज्ञात यत् 'ईथर'—द्रव्यमन्येभ्यो भौतिकेभ्यो द्रव्येभ्यो पृथग्वर्ततेऽस्यापेक्षावश्यकता वा विद्युति, आकर्षणक्रियायाञ्चाप्यस्ति' ।[२०]

इत्थं बहुभि पाश्चात्यवैज्ञानिकै क्रमशः स्वीयेनानुसधानेनास्य स्वरूपविषये विवेचन कृतम् । यत्र धर्मद्रव्यस्वरूपात् किञ्चित्साम्य, किचिद्वैभिन्न्यञ्चाप्यासीत् । किन्त्वस्या शताब्द्या यद्वैज्ञानिकानामन्तिमो निर्णय सञ्जात , तत्र यत्स्वरूपमेभिरस्य निश्चितम्, तत्सर्वथा जैनदर्शने प्रतिपादितेन धर्मद्रव्येण साम्य भजते । तथाहि—'नास्येदं तात्पर्य, यदीथरद्रव्य नास्ति ? अस्माकमस्यापेक्षास्त्येव · गतेऽस्मिन शताब्दे प्रायश स्वीकृतमिदम्, यदीथरद्रव्यमेक पिण्डरूप, सघन, सामान्यद्रव्यवच्च गतिशीलमस्त्येव, कदेय विचारधारावरुद्धेति कथन कठिन · परमद्यन्तनमिदं स्वीकरणम्-यदीथरद्रव्य न भौतिक द्रव्य, अभौतिकत्वाच्चास्य प्रकृतिरपि सर्वथा भिन्ना·· पिण्डत्व-घनत्वादि

भौतिकगुणानां सर्वथाभावोऽप्यस्मिन् स्यात्, परमस्य स्वीया एव नवीनाः, निर्णयात्मकाश्च गुणाः स्युः''''ईथरद्रव्यस्याभौतिकमुदधिरिति' ।[१]

ईथर-धर्मद्रव्ययोः साम्यम्

अथ च प्रो० जी० आर० जैनमहोदयरीरद्रव्यस्य धर्मद्रव्यस्य च तुलनात्मके विवेचने सुस्पष्टतया प्रतिपादितं—'यदिदं सिद्ध, यद्धर्मद्रव्यं ईथरद्रव्यञ्चैतादृशमैक्यं भजेते, यत्ते द्वेऽप्यभौतिके, अपारमाणविके, अविभाज्ये, अखण्डे, आकाशवद्व्याप्ते, अरूपे, गतेरनिवार्यमाध्यमे, स्वस्थिते च स्तः' ।[२]

सुप्रसिद्धगणिताचार्यै प्रो० अलवर्टआइस्टीनमहोदयैरपि लोकालोकयोः मर्यादानिरूपणे स्वीकृतम्—'यल्लोकस्तु परिमितोऽलोकश्चापरिमित. । अतः लोकस्य परिमितत्वान्न काचन् द्रव्यशक्ति लोकाद्बहिर्गन्तु शक्नोति, तत्र तस्याः शक्ते. (या शक्ति गतौ सहायिका, तस्या) अभावात् ।

अनेनोपर्युक्तेन विवेचनेन परिज्ञायते, यदाधुनिकैर्वैज्ञानिकै· यत् 'ईथरद्रव्यं' परिकल्पितं, तस्य च ये गुणा· सन्ति, तेषां जैनै·परिकल्पितेन धर्मद्रव्येण सर्वथा साम्य जातम्, येन नेद कथनमनुचितं प्रतिभाति, यद्धर्मद्रव्यमेव सम्प्रति 'ईथर' इतिनवीननाम्नाधुनिकैर्वैज्ञानिकै साक्षात्कृत, वस्तुतस्तु एतदेव बहुकालाद् भारतीयवाङ्मये जैनै 'धर्मद्रव्यम्' इतिनाम्ना ग्रहीतं विद्यते ।

अधर्मद्रव्यम् (Medium of rest)

यथा जीवपुद्गलानां गतावपेक्षितम् धर्मद्रव्यं, तथैवैषां स्थितावप्यसाधारणकारणरूपेणाधर्मास्तिकायस्य कल्पना जैनदार्शनिकै कृता । धर्माधर्मौ द्वावेव सदृशौ विद्येते, यतश्च धर्म इवाधर्मोऽपि रूप-रस-गन्ध-स्पर्शशब्दादिरहितोऽमूर्तिक, निष्क्रिय, उत्पाद-व्ययाभ्या परिणमनशीलोऽपि नित्यो विद्यते । परन्त्वनयो· कार्यभेद स्वाभाविकस्तद्यथा—धर्मो यथा जीवपुद्गलानां गतावसाधारणो हेतुस्तथैवायमधर्मोऽपि जीवपुद्गलाना स्थितावसाधारणकारणत्वात् स्थितिलक्षणोऽस्ति[१] ।

जीवपुद्गलाना स्थितावयमुदासीनो हेतु वर्तते, यथाहि—वृक्षच्छाया गच्छन्तं कञ्चन् पथिक न बलात् स्थापयति, अपितु स्थितेभ्य पथिकेभ्य आश्रयमेव ददाति, यथा च पृथिवी गच्छत पशून् न गमनान्निवारयति, अपितु तेषां स्थितौ आधारमेव प्रददाति, तथैवायमधर्मोऽपि जीवान् पुद्गलाश्च न तु गमनान्निवारयति, नापि स्थित्यै प्रेरयत्यपितु तेषा स्थितौ वृक्षच्छाया-पृथिवीवदेवोदासीन साहाय्य प्रकरोति ।

अस्याप्यस्तित्वस्य ज्ञानं लोकसीमान्ते तदैव भवति, यदा लोकाद्बहिः धर्म-द्रव्यस्याभावान्न पुद्गलजीवा. तत्र गन्तु क्षमा., अतस्तत्र स्थितावयमधर्मोऽ-साधारणो निमित्तकारणो भूत्वा ताश्तत्रैव स्थापयति ।

अधर्मद्रव्यस्यापेक्षा

अधर्मद्रव्यातिरिक्त न किमप्येतादृशं द्रव्यं विद्यते, यः खलु जीवपुद्गलानां स्थितौ सहायकः स्यात् । तथाहि—यद्याकाश एव स्थितेः कारणं स्वीकरणीयः तदाकाशस्त्वलोकेऽपि वर्तते, अखण्डद्रव्यत्वेऽपि यदि सः लोकाद्बहिः जीवपुद्-गलाना स्थितौ सहायको न भवितु शक्नोति, तत्कथ लोके स. जीवपुद्गलानां स्थिते. कारण स्यात् ? अतएव स्थितेरसाधारणं कारणमधर्मद्रव्यं स्वीकृतम् जैनै. ।

इमौ द्वावपि धर्माधर्मौ शब्दौ न पुण्य-पापवाचिनौ, अपितु स्वतंत्रसिद्धौ पृथक पदार्थौ स्त । अनयोर्द्वयोरप्यसख्येया प्रदेशा. सन्ति । अत. बहुप्रदेशित्वात् अनयोरस्तिकायत्वमस्त्यस्मादेवेमौ 'धर्मास्तिकाय.' 'अधर्मास्तिकाय' इति संज्ञां भजेते ।

आकाशः (Space)

यस्मिन् जीवपुद्गलादिसमस्तद्रव्याणि युगपदेवावकाशप्राप्तानि सन्ति स एवा-काश इत्युच्यते" जैनदार्शनिकै. । यद्यपि पुद्गलादिद्रव्येष्वपि हीनाधिकरूपेण-परस्परमवकाशप्रदानं दृश्यते, तदपि समस्तेभ्यो द्रव्येभ्यो युगपदवकाशप्रदा-नादाकाश एव, नान्ये पुद्गलादय. । अस्यानन्ता. प्रदेशा. सन्ति । मध्ये चास्य चतुर्दशरज्वात्मक पुरुषाकारो लोकस्तिष्ठति, येनाकाश. लोकालोकविभागे विभक्त. । तत्र लोकाकाश. (Universe) असख्यातप्रदेशात्मक., किन्त्व-लोकाकाशस्तु (NonUniverse) अनन्तप्रदेशात्मकः, यत्र केवलमाकाश एव विद्यते । आकाशोऽय निष्क्रिय., रूपरस-गन्ध-स्पर्श-शब्दादिविरहितः, अतएवा-मूर्तिक सर्वव्यापकोऽखण्डश्चास्ति । यथाहि धर्मद्रव्यस्य गतिहेतुत्वम्, अधर्म-द्रव्यस्य च स्थितिहेतुत्वम्, तथैवास्यापि जीवपुद्गलेभ्योऽवकाशहेतुत्वमेवैको गुणो वर्तते ।

शब्दगुणकमाकाशम् ?

शब्द खलु पौद्गलिक इति पुद्गलविश्लेषणे प्रागेवोक्तम्, अतएव शब्दस्य पौद्गलिकत्वान्नाकाशस्य तद्गुणाधाररूपेणास्त्यस्तित्वम्, नापि पुद्गलद्रव्यस्य परिणामत्वेनाकाशस्य स्थिति., यतो ह्येकस्यैव पुद्गलद्रव्यस्य मूर्तामूर्तौ,

व्यापकाव्यापकौ, परस्परविरुद्धौ परिणामौ न स्याताम् । अथ च सम्प्रत्यपि वैज्ञानिकैः प्रयोगैराकाशे शब्दगुणस्य कल्पना निरसितेति सुविदितमेव वर्तते प्रायः सर्वैः ।

आकाशजन्यं साहाय्यम्

आकाशस्य स्वभावः जीवपुद्गलधर्माधर्मकालेभ्योऽवकाशदानमात्रएव[५५] । द्रव्याणीमानि नाकाशप्रदेशान् दूरमपसृत्याकाशेऽनुप्रविशन्ति, अपित्वाकाशप्रदेशेष्वेव प्रविशन्तस्तिष्ठन्ति[५६] । यतश्चास्य प्रदेशाः षड्द्रव्यैः सर्वदाः स्फुटाः भवन्ति । यथा खलु सैन्धवं जले प्रक्षिप्त जलप्रदेशेष्वेव स्वस्थान ग्रह्णाति, तथैवेमानि द्रव्याण्यपि स्वीयं स्थानमाकाशप्रदेशेष्वेव प्राप्नुवन्ति ।

आकाशस्य विभेदौ

आकाशस्य द्वावेव भेदौ—(१) लोकाकाशः (Universe) (२) अलोकाकाशश्चेति (Non-Universe) । तत्र यस्मिन् भागे जीवपुद्गलादिद्रव्याणां स्थितिः, स. लोकाकाशः, लोकमर्यादातश्च यो बहिस्थितो द्रव्यविरहितोऽनन्ताकाशो विद्यते सोऽलोकाकाश इति ज्ञेयम् । अनेनेदं स्पष्टं भवति-यज्जीव-पुद्गल-धर्म-अधर्म-कालादिद्रव्याणि नाकाशविरहितानि स्थातु शक्नुवन्ति, परमाकाशस्त्वैर्भिविरहितोऽपि तिष्ठति ।

नाकाशः गति-स्थितिहेतुः

आकाशो यथा जीवपुद्गलादीनामाश्रयः, तथैवायमेतेषां गति-स्थितिहेतुरपि कथं न स्यात् ? आकाशः लोकेऽलोके चोभयत्रापि तिष्ठतीत्युपरि निर्दिष्टम् । जैनमान्यतानुसारञ्च सिद्धानां स्थानमूर्ध्वलोकान्तमेव । अस्य केवलमिदमेव कारणं यद्धर्माधर्मौ तावदेव वर्तेते । यद्याकाशमेव गतेः स्थितेश्च कारणं स्वीकुर्याम तत् सिद्धानामलोकेऽपि गमन स्यात्, गमनेन चानेन धर्मशास्त्रेषु, अर्हद्वचनेषु च परस्परं विरोध उत्पद्यतेऽत न गतिस्थित्योः हेतुराकाशस्तिष्ठति । तथा चाकाशस्य गति-स्थितिहेतुत्वाल्लोकाकाशस्यापि मर्यादावृद्धिः, अलोकाकाशमर्यादायाः हानिश्च सम्भवेदतएव नाकाशस्य गति-स्थितिहेतुत्वं संघटते ।

कालः (Time)

द्रव्याणामुत्पादादिरूपेण परिणमने सहकारिद्रव्यं कालद्रव्यमिति । तस्य च लक्षणम्-वर्तनाहेतुत्वम्-परिवर्तनकारणमिति[५७] । स्वयमेव परिणमन्निदमन्येषा-

मपि द्रव्याणां परिणामे सहायकमथ चास्मिन् लोके घटिका-होरा-पल-दिवस-रात्र्यादिव्यवहारस्य निमित्तकारण ज्ञेयम् । उत्पाद्-व्यय-सहित ध्रौव्यमपीदं रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादिरहितमतएवामूर्तिकम् । लोकाकाशस्य प्रत्येकस्मिन्नपि प्रदेशे एकैकस्य कालद्रव्यप्रदेशस्य स्वतत्रमस्तित्वमस्ति । द्रव्येषु परत्वापरत्वं, प्राचीनार्वाचीनत्वमप्येतत्कृतम् । गतागतानागतेतिव्यवहारोऽपि कालस्यैव क्रमिकपर्यायकृतो भवति ।

कालस्य स्वतत्र-द्रव्यत्वम्

किञ्चागमेषु दृष्टिपाते कृते सति ज्ञायते-यत्तेषु कालद्रव्य स्पष्टतयैव स्वतत्र-रूपेण स्वीकृतम्[८] । दिगम्बराचार्यैरपि काल· स्वतत्र द्रव्यमिति स्वीकृतम् । अस्मिन् विषये कुन्दकुन्दाचार्यै लिखितम् --'पञ्चास्तिकाया , षष्ठश्च काल., इत्थ षड्द्रव्याणि भवन्ति । तत्र काल परिवर्तनलिङ्गसयुक्त । षड्द्रव्याणि चेमानि त्रिकालभावपरिणतानि नित्यानि[९] सन्ति । सद्भावस्वभावाना जीवाना परिवर्तनेन य. ज्ञायते, नियमत स एव निश्चय· काल[१०] इति ।

अजीवादिद्रव्याणा रूप्यरूपिभेदयोर्मध्ये वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शरहितत्वादमूर्तत्वा-च्चास्यारूपित्वमेवास्ति[११] ।

कालस्यानन्तत्वम्

सख्यापेक्षया जीवा अनन्ता इति चतुर्थेऽध्याये वक्ष्यामि । धर्माधर्माकाशा-स्त्वेकैका एव, पुद्गला· अप्यनन्ता । किन्त्वत्र दिगम्बराचार्याणा मत भिन्न, तदनुसार तु लोकाकाशप्रदेशा यथासख्येयास्तथैव कालाणवोऽप्यसख्येया. सन्ति[१२] । श्वेताम्बराचार्येण हेमचन्द्रसूरिणापीदमेवोक्तम्[१३] । एतद्व्यतिरिक्तै-रन्यै. श्वेताम्बराचार्यैस्तु कालाणूनामनन्तत्वमेवाभिहितम्[१४] ।

कालस्य शाश्वताशाश्वतत्वञ्च

विगतेषु प्रत्येकेष्वपि समयेषु काल आसीत्, आगतेषु च समयेषु वर्तते, अना-गतेषु च प्रत्येकेष्वपि भविष्यति । कालद्रव्यमेकद्रव्यादन्य, अन्याच्चापरञ्चे-त्थमुत्पद्यतेऽतोऽनेनास्य सततप्रवाहेनास्य शाश्वतत्वम्, अनाद्यनन्तत्वञ्चास्ति[१५]। उत्पन्नञ्च कालद्रव्य विनश्यति, ततश्चान्यदेवोत्पद्यतेऽतोऽनेनोत्पाद-व्यय-क्रमेणास्याशाश्वतत्वमप्यस्ति ।

कालस्य शाश्वताशाश्वतत्वविषये दिगम्बराचार्याणामिदम्मत वर्तते यत्कालाख्य: 'निश्चयकाल ' नित्योऽविनाशी चास्ति, अन्यश्च य· समयरूपो 'व्यवहारकाल:', स तूत्पत्तिविध्वसशील समयपरम्परया च दीर्घांतरस्थायी[१६] वर्तते ।

कालस्य वर्तनाक्षेत्रम्

जम्बूद्वीपं मध्ये कृत्वा तत्परितः लवणोदधिः, लवणोदधेः परितः धातकीखण्डः, धातकीखण्डस्य च परितः कालोदधिः, तत्परितश्च पुष्करद्वीपो विद्यते। मानुषोत्तरपर्वतश्च पुष्करद्वीपस्य भागद्वयं विभाजयति। अत्र अर्धपुष्करद्वीप-सहितं कालोदधियावत्कं क्षेत्रं कालक्षेत्रमिति स्वीकृतं[५७] विद्यते। एतस्य नामान्तराणि सार्धद्विद्वीपं, मनुष्यक्षेत्रादीनि सन्ति। कालस्येदमेव क्षेत्रमुच्यते जैनदर्शनशास्त्रानुसारम्।

कालस्य क्षेत्रविस्तारः

अस्यायामविष्कम्भः पञ्चचत्वारिंशल्लक्षयोजनप्रमाणः[५८]। तत्र सूर्यादीनां गत्या कालस्य मानं निश्चीयते। मनुष्यक्षेत्रे यत्र सूर्यस्य गतिः (गमनं) तत्रैव कालस्य नक्तंदिवादिव्यवहारस्य प्रसिद्धिः। तस्माद्बहिश्च सूर्यस्य स्थैर्यत्वान्नैतन्मानसंभवः। कालस्यायं तिर्यक् विस्तारः। ऊर्ध्वञ्चास्य क्षेत्रं ज्यौतिष्चक्रं यावत् नवसहस्रयोजनं, अधश्च सहस्रयोजनं महाविदेहस्य द्विविजयं यावद्वर्तते। एतस्मिन्नेव क्षेत्रे कालस्य वर्तनम्, नैतस्माद्बहिर्भवति।

कालस्याधारः

जैन-ज्यौतिषविज्ञानानुसारं मनुष्यलोकस्य सूर्यचन्द्रादयो मनुष्यलोकेतरसूर्य-चन्द्रादिभ्यो भिन्ना भवन्ति। यतश्च मनुष्यलोकस्य सूर्यचन्द्रादयो गतिशीलाः मेरोः परितः निर्धारितया गत्या परिभ्रमन्तश्च सन्ति। नैतस्यां गतौ तीव्रता मन्दता वा कदापि सम्भाव्यते। मनुष्यलोकाच्च बहिःस्थिताः सूर्यचन्द्रादयो ज्यौतिष्का स्थिराः, अतएवागतिशीलाः भवन्ति[५९]। मनुष्यलोकस्थितानां सूर्यचन्द्रादीनां निश्चितगत्यैव मुहूर्ताहोरात्रपक्षादीनां निश्चयोऽस्मिन्नेव लोके जायते, नास्माद्बहिः। लोकादस्माद्बहिस्तु कालपरिज्ञानं मनुष्यलोके नियतेन कालव्यवहारेणैव शक्यम्, यतो हि कालविभागाय नियतगत्याधारो मुख्यः, सा च गतिः सूर्यचन्द्रादिज्यौतिष्कानामेव भवति, मनुष्यलोकाद्बहिःस्थितानां सूर्यचन्द्रादीनां गतिशून्यत्वान्न तत्र गतिः समुपलभ्यतेऽतः मनुष्यलोके नियतेन कालस्याधारेणैवान्यत्र कालव्यवहारः शक्यः स्यात्।

कालस्य भेदाः

कालस्य त्रयो विभागाः सन्ति-गतागतानागताः[६०] इति। आगते काले त्वेक एव समय उपस्थितो भवति, गते चानन्ताः समयाः व्यतीताः, अनागतेऽपि चानन्ताः समयाः भविष्यन्तीति।

जैनपदार्थविज्ञानानुसारं कालस्यैकऽंश. 'समय:' इत्युच्यते । कालस्य सूक्ष्म-तमोऽग्रमंश. सुतीक्ष्णेन शस्त्रेणापि छेदिते सति न छिद्यते[1] । समयस्य सूक्ष्मत्व-विषये शास्त्रेष्वित्थमुदाहृतं वर्तते—'तन्तुभिर्वस्त्रनिर्माणं भवति, एकस्मिंश्च तन्तावनेकानि लोमानि भवन्ति, यदा च वस्त्र छेत्तु भेत्तु वा कश्चित्प्रयतते, तदोपरिस्थ लोममेव प्रथमं भिद्यते, ततश्चाधस्थ लोमं, तदनन्तरञ्च तदधस्थं लोममित्थमेकैको तन्तुर्भिद्यते । क्रमेण चानेन सर्वेषु तन्तुषु भेदिते सति वस्त्रं भिद्यतेऽतोऽत्र प्रथमे लोमभेदने यो कालो व्यतीत:, सोऽसख्यातसमयात्मको भवति[1] ।

कालस्य स्कन्धाद्यभावत्वम्

कालस्य सूक्ष्मतमोऽंश: समय , आगतश्च काल सर्वदा समयात्मक एव भव-तीति प्रागेवोक्तम् । न कदापि द्वौ समयौ परस्पर मिलितौ तिष्ठत: । अस्मादेव कारणात्कालस्याणवो न स्कन्धरूप भजन्ते । स्कन्धस्तु सर्वदा समुदायात्मक एव भवति, किन्त्वतीता. समया. न कदापि सम्मिलिता: स्कन्धरूपा आसन् । वियुक्ताना पुद्गलपरमाणूना तु सम्मेलन सम्भाव्यते, पर समयाना समुदायस्य सम्भावनाऽनागतेऽप्यसम्भवा । अतोऽतीतेऽपि कालस्कन्धानामभाव आसीत्, वर्तमानेऽपि केवल समयस्यैव सत्वात् तदभाव., भविष्यत्यपि च सम्मेलना-भावादभावो[1] निश्चित: । अथ च कालस्य स्कन्धाभावादन्येषामपि देश-प्रदेशादीनामभाव. स्वत एव सिध्यति ।

कालस्यास्तिकायत्वाभाव:

जीवोऽस्तिकाय., धर्माधर्माकाशपुद्गलानामप्यस्त्यस्तिकायत्वम्[1], इत्थ षड्-द्रव्येषु पञ्चानामस्तिकायत्वमस्ति । कालस्यास्तिकायत्व नास्ति[1] । त्रिकाल-स्थितत्वादस्तित्व तु तस्मिन् वर्तत एव, किन्तु प्रदशशून्यत्वाद्बहुप्रदेशाभा-वाच्चास्मिन् कायत्वस्याभाव:[1] । कुन्दकुन्दाचार्यस्याप्ययमेवाभिप्रायो वर्तते[1] । जीव-पुद्गल-धर्म-अधर्म-आकाशादिषु कस्यचित्प्रदेशासख्येयत्व कस्यचिच्च प्रदेशानन्तत्व, किन्तु कालस्य तु प्रदेशत्वमेव नास्ति[1] ।

इतरदर्शनाभिमतद्रव्याणामन्तर्भाव:

चार्वाक-बौद्धयोर्द्रव्यविवेचनम्

भारतीयाना प्रमुखदर्शनाना येषा प्रथमेऽध्याये विवेचन कृत, तेषा सर्वेषामपि द्रव्याणा, तत्त्वाना, पदार्थाना वान्तर्भाव. जैनदर्शनेन स्वीकृतेषु द्रव्येष्वेव

जायते। न कस्यचिदपि पृथक्पदार्थस्यावश्यकतात्र वर्तते। कथमन्यैः स्वीकृतानां पदार्थानामत्रान्तर्भावो भवितुं शक्नोतीत्येतदर्थमेवात्र विवेचनं क्रियते। चार्वाकास्तावत् 'पृथिव्यापस्तेजोवायुस्तत्त्वानी'त्यभिदधन्ति। बौद्धदर्शनापेक्षया च तत्त्वविमर्शः विषयगतविषयिगतभेदेन द्विधा भवति। तत्र विषयगतापेक्षया 'असंस्कृतधर्माः, संस्कृतधर्माश्चे'ति द्वैविध्यम् जगतः धर्माणां स्वीकृतम्। असंस्कृतस्यार्थश्च—नित्यः, स्थायी, शुद्धः, सहेतुकश्चेति। इमे चासंस्कृतधर्माः त्रिविधाः—१—प्रतिसङ्ख्यानिरोधः, २—अप्रतिसंख्यानिरोधः, ३—आकाशश्चेति। अत्र प्रज्ञया राग-द्वेषादिधर्माणां पृथक् पृथक् विसंयोगः प्रतिसंख्यानिरोधः[६९]। प्रज्ञया विनैव यो निरोधो भवति स खल्वप्रतिसंख्यानिरोधः। अर्थात् स्वभावत एव सास्रवधर्माणां निरोधोऽप्रतिसंख्यानिरोधः इति[७०]। आकाशश्चावरणस्याभावः[७१]। संस्कृतधर्मास्तु-रूप-चित्त-चैतसिक-चित्तविप्रयुक्तश्चेति विभेदैश्चतुर्धाः भवन्ति। अत्रावरोधकः पदार्थः रूपः। अस्य पञ्चेन्द्रियाः, तेषां पञ्चविधाः विषयाः, अविज्ञप्तिश्चेत्येकादशभेदाः[७२] भवन्ति। इन्द्रियाणां तद्विषयाणाञ्चाघात-प्रतिघाताभ्यामुत्पन्नं चित्तमिति। मनः-विज्ञानादीन्यस्य नामान्तराणि[७३]। चित्तेन च सघनसम्बन्धस्थापकः मानसिकव्यापार एव चैतसिको धर्मः उच्यते। अयं च षट्चत्वारिंशद्विधः[७४]। ये च धर्माः रूपधर्मेषु चित्तधर्मेषु वाऽपरिगणितास्ते 'चित्तविप्रयुक्ताः' इत्युच्यन्ते। एते च धर्माः चतुर्दशविधाः भवन्तीति[७५]।

विषयिगतदृष्ट्या च जगतो विभागस्त्रिविधः—१-स्कन्धः, २-आयतनं, ३-धातुश्चेति। तत्र स्कन्धाः रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार-विज्ञानभेदेन पञ्चधा भवन्ति। मनःसहितानि पञ्चेन्द्रियाणि, तेषां विषयाश्चात्र ज्ञानाधारेण स्वीकृताः। अत एवैषां ज्ञानाधारत्वात् आयतनत्वमित्युक्तम्। अत्र मन आयतनातिरिक्तेष्वेकादशस्वायतनेषु प्रत्येकमेकैको धर्मः, मन आयतने च चतुष्षष्टिधर्मास्तिष्ठन्ति। अतएव मन आयतनं 'धर्मायतनमि'त्यप्यभिदधति बौद्धाः। बौद्ध-दर्शने धातुशब्दस्यार्थः स्वलक्षणोऽभिहितः। वसुबन्धुना च तानि सूक्ष्मतत्त्वानि येषां समूहात् ज्ञानसन्ततेरुत्पादो भवति) ज्ञानावयवत्वेन धातुशब्दं स्वीकृतम्। एते च ज्ञानावयवा (षड् इन्द्रियाणि, तेषां षड् विषयाः, तदुत्पन्नानि विज्ञानानि चेति) अष्टादशविधा भवन्ति[७६]।

वैशेषिकाणि द्रव्याणि

वैशेषिकैश्च द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाभावाश्चेत्येते सप्तपदार्थाः

स्वीकृताः। अत्रापि च पृथिवी-अप्-तेजो-वायु-आकाश-काल-दिक्-आत्म-मनांसीति नवद्रव्याणि स्वीकृतानि।

मीमांसकद्रव्याणि

मीमांसकाना मतेऽपि न्याय-वैशेषिकवदेव जगतः सत्ता स्वीकृता विद्यते। एतेषु शबरमहोदयै द्रव्य-गुण-कर्म-अवयवानामुल्लेखः स्वभाष्ये[७७] कृतः। प्रभाकरमहोदयैश्च द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-समवाय-संख्या-शक्ति-सादृश्यानां पदार्थत्वेन स्वीकारः 'प्रकरणपञ्चिकाया विहितः[७८]। अत्रैषा लक्षणानि भेदाश्च प्राय वैशेषिकसदृशा एव सन्ति। परञ्च कुमारिलमहोदयानुसारं भावा-भावभेदाभ्या पदार्थो द्विविध.। तत्र भावश्चतुर्विध—द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-भेदेन। अभावोऽपि प्राग्-अत्यन्त-ध्वस-अन्योन्यभेदैश्चतुर्विधो भवतीति। अत्र द्रव्यमन्धकारशब्दाभ्या वैशेषिकै स्वीकृतै नवभिश्च सहैकादशविधं सञ्जायते। केचन च सुवर्णमपि पृथक् द्रव्यत्वेनाभिदधति[७९]। किञ्चात्र मुरारिमिश्रैरनयो (प्रभाकर-कुमारिलयो.) मताद्भिन्न केवलं 'ब्रह्म' एवैकः पदार्थ. स्वीकृत। व्यवहारे तु घट-घटत्व-अनियताश्रयप्रदेशविशेषादयश्चत्वार एव पदार्था. स्वीकृता[८०]। अतएवास्मात्परवर्तिभिराचार्यै. ब्रह्मण एवैकप-दार्थत्वेन स्वीकाराद् 'ब्रह्ममीमांसे'ति पदेनाभिहितम्[८१] तत्।

सांख्यद्रव्याणि

सांख्यदर्शने तु त्रीण्येव व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञाख्यानि तत्त्वानि सन्ति। अत्राव्यक्तं, प्रकृति., प्रधान वेत्युच्यते। व्यक्तं त्रयोविंशद्विध कार्यकारणपरम्परायाञ्च प्रकृते परिणामस्वरूपं भवति। ज्ञश्चैक एव चेतन पदार्थ पुरुषापराख्य-श्चेति।

अन्येषां द्रव्याणि

योगशास्त्रे च केवलमेकमात्र 'चित्तम्' एव तत्त्वं बुद्ध्यपरनाम्ना स्वीक्रियते। अस्यैव विविधानां स्वरूपाणा तत्र विवेचन विद्यते। अद्वैत (शांकर) वेदान्ते तु केवल 'ब्रह्म' 'आत्मा' वैकमात्र तत्त्वम्। शैवदर्शने च केवलं शिवतत्त्व-मेवैकमात्र, परञ्च तदभिव्यक्ताना तत्त्वानामपेक्षया पञ्चविंशतिविधानि यानि साङ्ख्यदर्शने स्थूलभूतादय तत्त्वानि तान्येव सन्ति। केवलमयमेव विशेष, यदत्र पुरुष-प्रकृत्यो न साङ्ख्यवन्नित्यत्वं, स्वतंत्रत्व वा स्वीकृतमपितु मायापरनाम्नास्या अनित्यत्वं, परतन्त्रत्वञ्च स्वीकृतम्।

विशिष्टाद्वैतदर्शने च चित्, अचित् ईश्वरश्चेति त्रीण्येव तत्त्वानि सन्ति । अत्र चित्तत्त्वं जीवात्मा, यश्च देहेन्द्रियमनः-प्राण-बुद्धिभ्यः भिन्न एवास्ति । अयं च बद्ध-मुक्त-नित्यभेदेन त्रिविधः । अचित्तत्त्वं तु जडं, विकारयुक्तं भवति । शुद्ध-मिश्र-शून्यसत्त्वभेदेनेदमपि त्रिविधम् । चिदचित्तत्त्वयोः आधारभूतमीश्वरतत्त्वमिति ।

द्वैताद्वैतदर्शने च जीवात्मा, परमात्मा प्रकृतिश्चेति त्रीणि तत्त्वानि । एषां परस्परं पृथक्त्वमस्ति । अत्र जीवात्मप्रकृत्योर्न परमात्मानं विना काचित् स्थितिः भवितु शक्नोति । किन्त्वेषां परमात्मन. समुद्रवीचिवदभेदोऽत एवेमेऽभेद[२]वादित्वेनापि उच्यन्ते ।

पूर्णप्रज्ञ (द्वैतदर्शन)दर्शनानुसारं दश पदार्थाः—द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-विशिष्ट-अंशी-शक्ति-सादृश्य-अभावश्चेति । एषामवान्तरभेदेषु द्रव्यमेव केवलं विंशद्विधं भवति[३] । एवमन्यान्यपि विभिन्नभेदात्मकानि सन्तीति ।

एषां जैनद्रव्येष्वन्तर्भावः

इत्थं भारतीयदर्शनेषु द्रव्याणां पदार्थाना वा विवेचनस्य स्वस्वबुद्ध्या प्रतिपादकात्मकत्वाद्वैभिन्न्य युज्यत एव । परञ्चैषा पदार्थानां द्रव्याणामन्तर्भावः जैनैः स्वीकृतेषु जीव-पुद्गल-धर्माधर्म-कालाकाशेषु कथं सञ्जायत इत्यस्त्यत्र विवेचनीयम् ।

अत्र जैनदृष्ट्या पुद्गलस्य यत्स्वरूपं, तत्र चार्वाकैः स्वीकृतानां चतुर्णामपि भूतानामन्तर्भावः (रूप-रस-गन्ध-स्पर्शात्मकत्वात् पुद्गलस्य) सञ्जायते[४] । तथा च बौद्धैः स्वीकृतानां पदार्थानामाकाशं विहायान्येषामन्तर्भावो जीव-पुद्गलयोरेव भवति । यतश्च तत्र मन.—चित्तेन्द्रियादीना जैनदर्शनदृष्ट्या द्रव्य—भावात्मकत्वात् द्रव्यमनश्चित्तेन्द्रियादीना पुद्गले, भावमनश्चित्तेन्द्रियाणाञ्चभावात्मकत्वात् जीवेऽन्तर्भावो[५] जायते ।

यच्च वेदान्तदर्शने (तस्य सर्वासु शाखासु च) केवलं ब्रह्म एव तत्त्वतः स्वीकृतम्, यत्रकुत्रचिच्च मायादीनां वा स्वीकारः, तेषामपि सर्वेषां जीवे पुद्गले वान्तर्भावः सारल्येन सञ्जायते । केवलं वैशेषिकैस्तदनु च मीमांसकैरपि यानि विविधानि तत्त्वानि द्रव्याणि च स्वीकृतानि वर्तन्ते तेषामत्र विशेषेणोपस्थानम् क्रियते, यत्कथं तेषामन्तर्भावो कर्तुं शक्यते ।

वैशेषिकाः खलु पृथिव्यादीनि नवद्रव्याणि स्वीकुर्वन्ति । एष्वाद्यानि चत्वारि द्रव्याणि रूपरसगन्धस्पर्शयुक्तान्येव सन्त्यतः रूप-रस-गन्ध-स्पर्शयुक्तानामेषां जैनदार्शनिके पुद्गले एतत्सामान्यलक्षणयुक्तत्वादन्तर्भावो जायते । दिशस्त्वाकाशेऽन्तर्भाव, आकाशस्य कालस्यात्मनश्च जैनदर्शनेऽपि स्वातन्त्र्येण द्रव्यत्वमस्ति । किञ्च, मनस्तु जैनदर्शनदृष्ट्या जीव-पुद्गलपर्यायित्वान्न पृथग्द्रव्यात्मकत्वं भजते । तद्यथा—द्रव्यमन, भावमनश्चेति मनसो द्वैविध्यम् । आत्मनो विचार-सरण्या सहयोगि, पुद्गलपरमाणूना च स्कन्धरूपं द्रव्यमन. । आत्मनो हिताहितयोर्विमर्शे यदुपकरणरूपं तद्द्रव्यमन इति ।

शरीरस्य यस्मिन्नशे आत्मन उपयोगो भवति, तदा तत्र स्थिताः परमाणवोऽपि मनःपरिणता भवन्ति[८८] । विचारशक्तिस्त्वात्मन्येवास्ति, अत. भावमनस आत्मरूपत्वमेव । यथा खलु भावेन्द्रियाण्यात्मन एव शक्तिविशेषरूपाणि, तद्वद्भावमनोऽपि नोइन्द्रियावरणकर्मण क्षयोपशमात्प्रकट्यमानाऽऽत्मन एवैका विशेषशक्ति, न तद्व्यतिरिक्त मनोद्रव्यं वर्तते । यद्यपीन्द्रियाणा मनसः सहयोगाभावे स्वस्वविषयग्रहणासमर्थत्वमेवास्ति, किन्तु मनस्त्वेकाक्येव गुणदोषविचारादिव्यापारसमर्थत्वात् निश्चितविषयत्वाच्च सर्वविषयकमेव भवति ।

वैशेषिका द्रव्यातिरिक्ताः षड्पदार्थाः

वैशेषिकै द्रव्यातिरिक्ताः षड्पदार्थाः—'गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय-अभावा.' अन्येऽपि स्वीकृता । अत्र 'गुणोऽयं, गुणोऽयं', इत्यात्मकप्रत्ययत्वाद् गुणोऽप्येक. पदार्थ । कर्म-कर्मेति प्रत्ययत्वाच्च कर्माप्येकः स्वतन्त्रपदार्थ. । अनुगताकारप्रत्ययात्मकाः परापररूपाश्चानेके सामान्याः । नित्येषु परमाणुषु, शुद्धात्मषु, मुक्तात्मना मनःसु च परस्पर विलक्षणतावगमार्थं प्रत्येकेष्वपि नित्यद्रव्येष्वेकैक विशेषपदार्थ स्वीकृत । अपृथक्सिद्धाना पदार्थाना सम्बन्धाय समवाय आवश्यक । कार्योत्पत्तेः प्राग्वस्तुनोऽभाव प्रागभाव, उत्पत्तेरनन्तरं भावी विनाशश्च-प्रध्वसाभाव, पदार्थेषु परस्परमन्यस्वरूपस्याभावोऽन्योयाभाव, त्रैकालिकस्य च संसर्गस्य परस्परमवरोधकोऽत्यन्ताभाव. । इत्थमत्र यावन्त. प्रत्यया. पदार्थेषु प्राप्यन्ते, तावन्त एव पदार्थाः वैशेषिकै. स्वीकृता । अतएव वैशेषिकेभ्य' 'सम्प्रत्ययोपाध्याय'पदवी यथार्थमेव प्रदत्ता ।

गुणादीनामपृथक्पदार्थत्वम्

अत्र जैनदर्शनदृष्ट्या विचारे कृते सति ज्ञायते, यद्द्रव्यस्वरूपाद्बहिर्न गुणा-

दीनां काचित्सत्ता विद्यते। यतो हि, जैनदर्शनदृष्ट्या—द्रव्यं गुणपर्ययवद् भवति। गुण-क्रिया-सामान्यादयस्तु द्रव्यपर्यायरूपा एव भवन्ति, यतो हि— ज्ञानादिगुणानामात्मनः पृथक्, रूपादिगुणानाञ्च पुद्गलेभ्यः पृथक् न काचित्सत्तावलोक्यते, युक्तिभिः सिद्ध्यति वा। अथ च यदा वैशेषिकैरपि गुण-गुणिनो, क्रिया-क्रियावतोः, सामान्य-तद्वतोः, विशेष-नित्ययोश्चायुतसिद्धत्वं स्वीक्रियते, तदा गुणादीन् परित्यज्य द्रव्यस्य कथं पृथक् सत्तावतिष्ठेत ? द्रव्येभ्यश्च ऋते निराधाराः गुणादयोऽपि कुत्र स्युः ? अतएवानयोः कथञ्चित्तादात्म्यसम्बन्धात्, 'गुणसन्द्रावो द्रव्य''मिति' पातञ्जलसिद्धान्तानुसारमपि अपृथक्त्व स्वीकरणीयम्। एतच्च स्वीकृते न गुणाना पृथक्पदार्थत्वं समर्थनीयं" स्यादिति।

क्रियाया अपृथक्त्वम्

यथैकमेव द्रव्यमनेकगुणाना पिण्डरूपं भवति, तथैव सक्रियेषु द्रव्येषु तद्भाविन्यः क्रिया अपि तत्पर्यायरूपा एव तिष्ठन्ति, न तु स्वतत्रा पृथक्सिद्धाः, यतश्च क्रिया कर्माणि वा न क्रियावतो. पृथगस्तित्वशालिनो कुत्राप्यवलोक्यन्ते।

सामान्यस्यापृथक्त्वम्

एवमेव सामान्यमपि पृथिवीत्वादिभिन्नद्रव्यवर्तिसदृशपरिणामरूपम्। न किञ्चिदेक, नित्य, व्यापकं वा सामान्यम् मुक्तापिहितसूत्रवद्द्रव्येष्ववलोक्यतेऽपितु येषु द्रव्येषु येन रूपेण सादृश्यं प्रतीयते, तदेव द्रव्याणां सामान्यत्वेन स्वीक्रियते। तच्च सामान्य न केवल बुद्धिकल्पितमपितु सादृश्यत्वाद्वस्तुनिष्ठम्, वस्तुवदेवोत्पादव्ययशाली च वर्तते इति।

विशेषस्यापृथक्त्वम्

यथा खलु सर्वेषामपि द्रव्याणां पृथक्पृथक्स्वतंत्रास्तित्वमस्ति, तथा तत्र स्वास्तित्वहेतुको विलक्षणप्रत्ययोऽपि भवितुमर्हति। यथा खलु विशिष्टाना पदार्थाना स्वरूपेणैव सिद्धत्वात् न तत्र विलक्षणप्रत्ययोत्पादकाः अन्येऽपि विशेषाः आवश्यका भवन्ति, तथैवात्र द्रव्याणा स्वस्वरूपेणैव विलक्षणप्रत्यये स्वीकृते सति न विशेषाख्यस्य कस्यचित्पदार्थस्य स्वतत्रावश्यकता प्रतिभातीति।

समवायस्यापृथक्त्वम्

अवयवावयविनोः, गुण-गुणिनोः, क्रिया-तद्वतोश्च यः समवायसम्बन्धो जायते

तत्तयोरेव पदार्थयो: पर्यायरूपो भवति। यथा ज्ञानस्यात्मनि समवायसम्बन्ध:। अत्रायमभिप्रायो—यज् ज्ञानं, तस्य समवायसम्बन्धश्चोभावपि ज्ञानस्यैव सम्पत्तिरूपौ स्त:, न तद्भिन्ना ज्ञानस्य तत्समवायसम्बन्धस्य वा काचन् स्वतंत्रा सत्ता विद्यते। द्वयो: पदार्थयोर्य: कश्चनापि सम्बन्ध: सस्थापितो भवति, स: स्वसम्बन्धिनो: पर्याययोर्विशेषरूप एव भवितु शक्नोति। यथा द्वयोर्युतसिद्धयो: पदार्थयो: संयोग: प्रत्येकमवतिष्ठते—एकस्यान्यस्मिन्, अन्यस्य चापरस्मिन्। अर्थात् संयोग: प्रत्येकनिष्ठोऽपि द्वाभ्यामेवाभिव्यक्तो भवति। इत्थमत्र न समवायस्य पृथक् सत्ता आवश्यिकी"।

अभावस्यापृथक्त्वम्

कस्यचिदपि वस्तुनो सत्ताया अभाव तस्याभाव इत्युच्यते। स च प्राक्-प्रध्वंस-अत्यन्त-अन्योऽन्यभेदाच्चतुर्विधो भवति। अत्र जैनदर्शनदृष्ट्या प्रत्येकस्यापि द्रव्यस्य पूर्वपर्यायस्तस्य प्रागभावरूप:, उत्तरपर्यायश्च प्रध्वसाभावरूप एव भवति। प्रतिनियतस्वस्वरूपश्चान्योऽन्याभाव:, असंसर्गीयरूपश्चात्यन्ताभावो भवति। इत्थमभावो भावान्तररूप एव जैनदर्शने स्वीकृतो विद्यते। न च स: स्वतत्र कश्चन् पदार्थ.। यथैकस्य द्रव्यस्य स्वरूपस्थितिरेव पररूपस्याभावोऽथ चैकस्यैव द्रव्यस्य द्वयो पृथक्पर्याययो: परस्परमभाव-व्यवहार इतरेतराभाव-स्तथा च द्वयोर्द्रव्ययो. परस्परमभावोऽत्यन्ताभाव. इत्युच्यते। एषा विस्तृत विवेचन पूर्वमेव मया कृतम्। अतोऽभावस्यापि न पृथक्पदार्थरूपेण काचन आवश्यकता द्रव्य-व्यवस्थाया प्रतिभाति। इत्थ गुणादयो न पृथक्सत्ताका. स्वतत्रपदार्था, अपितु द्रव्यपर्यायरूपा एव, भिन्नप्रत्ययाधारेण पदार्थव्यवस्था-स्वीकारे पदार्थानामानन्त्यमेव सम्भाव्यतेऽतो नेद समुचितम्।

अवयवावयविनोरपृथक्त्वम्

किञ्च, अवयविनं द्रव्यमवयवेभ्य: पृथक्स्वीकरणमपि प्रतीतिविरुद्धं, यथाहि—तन्तुरूपावयवा एव निर्धारिताकारपरिणता. पटसज्ञाकावयविरूपा भवन्ति। पटनामको कश्चनावयवी समवायसम्बन्धेनावयवेषु तन्तुषु स्यादिति नानु-भवगम्य, यतो हि—यथा पटाख्यस्यावयविनो सत्ता तन्तुरूपेभ्योऽवयवेभ्य: पृथक् न कदापि कुत्रापि प्रतीयते, तथैव स्कन्धाख्यस्यावयविन: पर्यायात्म-कत्वेनैव प्रतीतिर्न तु स्वतत्रेण द्रव्यरूपेण। तद्यथा—यैर्मृत्परमाणुभिर्घटो-त्पादस्ते परमाणव. स्वत एव घटाकारं ग्रह्णन्ति। अतस्तेषा परमाणूना सामुदायिक्यभिव्यक्ति.—'घट' इति भवति, न तु घटोऽवयवित्वेनान्यत

आगच्छति, अपितु मृत्परमाणूनामाकार-पर्याय-प्रकारेषु क्रमिकैः परिणामैरेव घटकार्याणि जायन्ते । इत्थञ्च घटव्यवहारस्य सङ्गतिरपि जायते[१०] ।

अस्यायमेवाभिप्रायः—यत्परमाणुः स्वतंत्रास्तित्व-परिणामयुक्तोऽपि सामूहिके परिणामे स्वीयं परिणमनं विलीयते । अथ चेयं परिणमनसन्ततिः यावदवयवभूतेषु परमाणुषु प्रचलिता तिष्ठति, तावत्तस्य पदार्थस्य स्थितिरपि सदृशी-तिष्ठति । किन्तु यदा परमाणुभिः पूर्वोक्त्या सामुदायिकसन्तत्या सहयोगः प्रारभ्यते, तदा सामूहिकाभिव्यक्तौ न्यूनत्व-शिथिलत्व-जीर्णत्वादिरूपैर्वैविध्यं संदृश्यते । अतएव, मूलतो गुणपर्यायाणा य आधारभूतस्तिष्ठति, स एव द्रव्यत्वभाग्भवति, तस्यैव सत्ता द्रव्यरूपेण स्वीकरणीया[११] । विभिन्नद्रव्याणाञ्च ये सदृश-विसदृशपरिणामा., न ते स्वातंत्र्येण द्रव्यसञ्ज्ञाभाग्भवन्तीति ।

यैश्च परमाणुभिर्घटो घटते, तेषु परमाणुषु निरंशावयविनोर्घटस्य स्वीकारेऽनेके दोषा समायान्ति । यथा हि निरशोऽवयवी स्वीयेष्ववयवेषु किमेकांशेन तिष्ठति, सर्वात्मना वा ? यद्येकदेशेन, तदा यावन्तोऽवयवास्तावन्त एवावयविनो प्रदेशा स्वीकरणीया । सर्वात्मना चेत्तर्हि—अवयवसंख्याका एवावयविनोऽस्युः । यद्यवयवि निरंशस्तदेकस्मिन्नवयवे क्रियात्वे सति सम्पूर्णेऽप्यवयविनि क्रिया स्वीकर्तव्या, अवयविनोर्निरंशत्वात् । यद्यवयवि पृथक् स्वीक्रियेत, तर्हि नियतभारात्मकै. सूत्रैः निर्मित वस्त्रमवयविभारयुक्तं भाराधिकत्व भजेत् । परं नैतादृश. दृश्यते, तथा च वस्त्रस्यैकांशस्य विदीर्णे सति पुनस्तावन्मात्रिकेषु परमाणुषु नवीनस्यान्यस्यावयविन उत्पत्ति स्वीकृते सति कल्पनागौरवः, प्रतीतिबाधा चोत्पत्स्यते, यतो हि प्रतिक्षणमेव वस्त्रस्यापचय उपचयो वा जायते, तदा च प्रतिक्षणमेवावयविनो विनाशस्तदनन्तरञ्चान्यस्योत्पादोऽप्यवश्य स्वीकरणीय स्यात् । अतो नावयवेभ्यः पृथगवयविनो सत्ता[१२] विद्यते इति ।

अथ च ये—परमाणव स्थूलघटादिरूपेण परिणतास्ते स्वीयां परमाण्ववस्थामेव परित्यज्य घटावस्थामधिगता । तेषामियं घटस्कन्धरूपावस्था न कस्यचिन्नवीनस्य द्रव्यस्यास्त्यपितु तेषा परमाणूनामेव समुदायात्मिकावस्थोत्पद्यते । यद्यत्र परमाणवः सर्वथा स्कन्धावस्थातः पृथक्रूपा एव स्वीक्रियन्ते, तदैकः परमाणुः यथा न चक्षुषावलोक्यते, तथैव सहस्रानामपि परमाणूनां सामीप्यातिशयेऽपीन्द्रियगोचरत्वमसिद्धं स्यात् । स्कन्धावस्थायां तु तेषामदृश्यतां परित्यज्य दृश्यता स्वीकरणीयैव ।

कस्यचिदपि वस्तुनो दृढत्वं शिथिलत्वं वा तद्घटकावयवानां दृढ-शिथिल-बन्धाश्रितं भवति। तद्यथा—लौहस्कन्धावस्था प्राप्य त एव परमाणवो दृढाः, चिरस्थायिनश्च भवितु शक्नुवन्ति, ये खलु तूलावस्थाया मृदवचिरस्थायिनश्च जायन्ते। इद सर्वमपि तेषा परमाणूनां बन्धप्रकारहेतुकमेव भवतीति।

यद्यपि पुद्गलपरमाणुषु सर्वा अपि शक्तयो विद्यन्ते, परं विभिन्नेषु स्कन्धेषु तासां न्यूनाधिकरूपेणानेकविधो विकासः सञ्जायते। यथाहि—घटे जलग्रहण-शक्तिः, न तु पटे, परमाणवस्तु द्वयोरेवैकदृशाः सन्ति। अथ चेमे एव पर-माणव एकत्र (चन्दनावस्थाया) शीतलत्व भजन्तस्तिष्ठन्ति, यदा ह्यग्निनि-मित्तेनान्यत्राग्निसदृशा सम्भूय काष्ठाद्यग्निरिव दाहकत्वमप्युपगच्छन्ति। इत्थं पुद्गलपरमाणूनां न्यूनाधिकसम्बन्धैरुत्पद्यमानाना परिणामाना न काचन संख्या, नाप्याकारप्रकाराः निर्धारिता सन्ति।

कस्यचिदपि पदार्थस्यैकरूपत्वं, कालान्तरस्थायित्वञ्च तत्प्रतिसमयभावि-परिणामाधारभूत भवति। यावत्कालं तद्घटकपरमाणूना सदृशपरिणाम-स्तावदेव तद्वस्त्वेकदृश स्यात्, यदा च केषुचिदेव परमाणुषु विसदृशपरिणाम. प्रारभ्यते, तस्मात्कालादेव वस्तुन आकारप्रकारेषु वैलक्षण्यं जायमान दृश्येत। अद्यन्तनेन विज्ञानेनापि विगलनशीलं 'अलुकद्रव्य' (Potato—शाकविशेष, राष्ट्रभाषाया-आलू) बद्धवायौ (Air-Tite) प्रकोष्ठे सस्थाप्य शीघ्रविगल-नात्परिरक्षितम्। अस्यायमेवाभिप्रायो-यत्परमाणूना न तु सर्वथा नित्यत्वम-परिवर्तनशीलत्वं, नापि स्वतन्त्रपरिणमनशीलत्व वा स्वीकरणीयमन्यथा सदृश-पर्यायाणा विकास एवासम्भव. स्यात् इति।

द्रव्याद् गुणपर्यायाणामपृथक्त्वम्

सामान्येन द्रव्यमखण्डमेव भवति, किन्तु सहभाविनामनेकगुणानामभिन्न-आधारोऽपि भवति, अतस्तस्मिन् गुणकृतो विभागोऽपि सम्भाव्यते"। यथैक. पुद्गलपरमाणु. रूपरसगन्धस्पर्शाद्यनेकगुणाना युगपदेवाधारभूतस्तिष्ठति। प्रत्येकमपि द्रव्ये प्रतिक्षण परिणामयुक्तेऽपि द्रव्येण कथञ्चित्तादात्म्य-सम्बन्धोऽपि विद्यतेऽतएव द्रव्याद्गुणस्य पृथक्करणाशक्यत्वात् स तदभिन्न."। सञ्ज्ञा-सङ्ख्या-प्रयोजनादिभेदैस्तु तस्य पृथग्निरूपणक्षमत्वात्तद्भिन्नोऽपि भवति। अनया दृष्ट्या च द्रव्ये यावन्तो गुणास्तावन्त एव प्रतिक्षणिका उत्पादव्यया.। प्रत्येकमपि गुणो स्वीय पूर्वपर्यायं परित्यज्योत्तरपर्यायमधि-गच्छति, परञ्च तेषा पर्यायाणामपृथक्त्वाद् द्रव्यसत्तयैकत्वम्। सूक्ष्मेक्षयाव-

लोकने तु ज्ञायते—यत् गुणपर्यायव्यतिरिक्तं द्रव्यसत्ताभावाद् गुणपर्यायाणामेव द्रव्यत्वम् । अथ च पर्यायाणां परिणमनशीलत्वेऽपि अविच्छिन्नतायाः नियामको योऽंशः, स एव गुण इति कथ्यते ।

यदा च पुद्गलाणौ रूपो स्वीयं नवीन पर्यायं ग्रहणाति, तदा रस-गन्ध-स्पर्शादयोऽपि परिवर्तिता. भवन्ति, इत्थ प्रत्येकमपि द्रव्ये प्रतिसमयं गुणकृतानेका उत्पादव्ययाः जायन्ते, ये च गुणस्य सम्पत्ति (Property)—स्वरूपाः सन्ति ।

किञ्च, रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादीना गुणाना न परमाणौ काचन् सत्ता विद्यते, इत्यप्यन्यतरः पक्ष । परमाणुस्तु एतादृशोऽविभागिपदार्थ., यच्चक्षुरादीन्द्रियैरपि तस्मिन् रूपादीना न प्रतीतिर्भवतीति ।

यद्यप्ययं सर्वसिद्ध सिद्धान्त , यदिन्द्रियाणि तु गुणग्राहकानि एव भवन्ति, न तु तदुत्पादकानि । यथा कञ्चनाम्रफलं दृष्ट्वैव तस्मिन् रस-गन्ध-स्पर्शादीनामभावो न प्रतिपादयितु शक्यते, यतश्चानाघ्रातेऽपि गन्धोऽनास्वादितेऽपि रसोऽस्पृष्टेऽपि स्पर्शस्तस्मिन् विद्यत एवेति दैनिकानुभवप्रतीति । एवमेवात्मन्यपि ज्ञान-सुख-शक्त्याद्यनेकगुणाना युगपदेव सद्भाव. प्राप्यते । एषा प्रतिक्षण परिवर्तितेऽप्यात्मनाविच्छिन्नत्व तिष्ठति । अतएव गुणा. सहभाविनोऽन्वयिनश्च । पर्यायाश्च क्रमभुवो व्यतिरेकिणश्च सन्तो गुणाना विकारा (परिणामा.) एव भवन्ति । एकस्मिन् चिद्द्रव्ये यस्मिन् क्षणे ज्ञानपर्यायस्तस्मिन्नेव क्षणे दर्शनसुखाद्यनेकगुणा अपि स्व-स्वपर्यायै परिणमन्ति ।

यद्यप्येषु गुणेष्वेकश्चैतन्य एवानुस्यूतो भवति, परं स चिद्गुण. स्वयं निर्गुणो न गुणरूपेण प्रतिभासते, यतश्च गुणाना स्वीया स्थितिः पृथगेव भवति । इमे एकात्मका गुणपर्याया एव द्रव्याभिधानाः । नैभ्यो पृथक् कश्चनापि स्वतन्त्र. पदार्थो विद्यतेऽपित्वेषां गुणपर्यायाणा तादात्म्यरूप एव भवति ।

इत्थं प्रत्येकमपि चेतनेऽचेतने वा पदार्थे गुणपरिणामोत्पन्ना अनेके उत्पादव्यया. स्वाभाविका , द्रव्य च तेष्वखण्डसत्तात्वेन[५] तिष्ठति । गुणस्तु प्रतिक्षण येन केन वा पर्यायेण परिणमत्येव । एतादृशाश्चानेके गुणा अनन्तकालं यावद्यथा अखण्डसत्तयानुस्यूता भवन्तस्तिष्ठन्ति, सा सत्तैव 'द्रव्य'मित्युच्यते ।

गुणस्य द्रव्यत्वखण्डनम्

द्रव्यस्यार्थः—क्रमभाविपर्यायाणामधिगमनम् । इत्थं गुणस्याप्यनेनार्थेन द्रव्यत्वं

सम्पद्यते, क्रमभाविपर्यायिष्वनुस्यूतत्वात्। किन्त्विदं द्रव्यत्वमुपचारत एव न तु प्रामुख्येन सिध्यति। यद्यपि द्रव्येण तादात्म्यत्वादपि गुणस्य द्रव्यत्वमुपपद्यते, परमत्र द्रव्यस्योत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकत्वात् (न तु केवलमुत्पाद-व्ययत्वात्) न गुणानां परिपूर्णद्रव्यत्वम्। यतो हीमे गुणाः वस्तुतः द्रव्यांशा एव सन्ति, न तु द्रव्याणीति।

इत्थं गुणपर्यायेष्वविच्छिन्न तादात्म्यस्थापकं, स्वीयेषु प्रत्येकमपि प्रदेशेषु सम्पूर्णगुसत्ताया आधारभूतञ्च यत्तदेव द्रव्यमित्युच्यते[११]। स्वीयेषु गुणेषु पर्यायेषु च यादृश तादात्म्यमनेन संस्थाप्यते, तादृशं तादात्म्यं न पृथक्-सिद्धयोर्द्रव्यगुणयोर्गुणपर्याययोर्वा भवितु शक्यते इति।

'स्याद्वादस्तदीयं व्यवस्थानियामकत्वञ्च'

स्याद्वादो जैनदर्शनस्य हृदयम्, भारतीयदर्शनानाञ्च संयोजकमेकं सूत्रमतएव जैनदर्शनीयचिन्तनधारायामस्य विशिष्टं स्थान विद्यते। अस्य बीजानि सहस्राब्देभ्य प्रागेव जैनागमेषूत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूपेणास्तिनास्त्यवक्तव्यरूपेण, द्रव्य-गुण-पर्याय-रूपेण, सप्तनयादिरूपेण च प्रकीर्णानि सन्ति। समन्तभद्र-सिद्धसेनादिजैनदार्शनिकै. सप्तभङ्गादिरूपेण तार्किकपद्धत्या तस्मै व्यवस्थितमेकं स्वरूप प्रदत्तम्। ततश्चानेकैराचार्यैरेनमुद्दिश्य सुबहुवाङ्मयस्य रचना कृता, याद्यापि स्याद्वादस्य गौरवं प्रकटयस्तिष्ठति। विगतपञ्चदशशताब्दीतः स्या-द्वादो दार्शनिकजगत एक. सजीव. पक्षो वर्तते।

साम्प्रत कः स्याद्वाद. ? का च तत्परिभाषा ? जीवन-व्यापाराय च तस्योप-योगोऽपि कीदृश. ? इत्यादिप्रश्नानामेवात्र सक्षेपतः पर्यालोचन क्रियते।

स्याद्वादस्यार्थः

'परस्पर विरुद्धधर्माणा विवक्षावशान्मुख्यगौणत्वेन समन्वयः स्याद्वादः' अयमेव स्याद्वादस्यार्थः[१२]। यथैकस्य न्यायाधीशस्य सूक्ष्मेक्षया निष्पक्षनिर्णयरूपं महत्वपूर्ण कार्य, तथैव विभिन्नाना विचाराणा समन्वयार्थ तदेव कार्य स्याद्वादस्य विद्यते।

स्याद्वादपदे 'स्यात्' 'वाद' पदयोस्संयोग.। तत्र स्याच्छब्दस्यार्थः—'अपेक्षा' 'दृष्टि'र्वा, वादशब्दस्यार्थ —'सिद्धान्तः' 'मन्तव्यो' वास्ति। द्वयोरपि शब्दयो. समुदितोऽर्थः 'सापेक्षसिद्धान्त.', सः सिद्धान्तः यत्रापेक्षावश्यिकी भवति।

'अनेकान्तवादः', 'अपेक्षावादः', 'कथञ्चिद्वादः' 'स्याद्वादश्चे'त्यादयोऽस्य नामान्तराणि । अत्रानेकान्तवादे स्याद्वादे चायमेव सूक्ष्मो भेदो यदनेकान्तो वाच्योऽनेकधर्मात्मकोऽर्थः, स्याद्वादस्तु वाचकः, तदभिव्यञ्जिका भाषापद्धतिः ।

स्याद्वादस्य परिभाषा

अस्य परिभाषा स्याद्वादविज्ञैराचार्यैरित्थं कृता विद्यते स्वापरेषु विचारेषु, मतेषु, वचनेषु, कार्येषु च तन्मूलकापेक्षानामवधानं 'स्याद्वादः'। एतामेव परिभाषां स्पष्टयन्नमृतचन्द्राचार्यैरभिहितम्—

> **'एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।**
> **अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थान-नेत्रमिव गोपी ।।'**[१८]

अष्टसहस्र्यामीदृशी परिभाषा विद्यते—'प्रत्यक्षादिप्रमाणाविरुद्धानेकात्मकवस्तुप्रतिपादकः श्रुतस्कन्धात्मको स्याद्वाद' इति ।

स्याद्वादे सप्तभङ्गाः

अस्य स्याद्वादस्यानेकान्तवादस्य वाभिव्यञ्जनाय जैनाचार्यैरेका पद्धतिर्निर्धारिता विद्यते, सा पद्धतिरेव 'सप्तभङ्गी'तिपदेन व्यवह्रियते । सप्तभङ्गेः परिभाषा स्याद्वादविज्ञैरेकस्वरेणेयमेव स्वीक्रियते—'प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधि-प्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी'[१९] 'सप्तानां भङ्गानां समाहारः सप्तभङ्गी' इति वा ।

यतश्चैकत्रवस्तुनि सप्तविधाः संशया जायन्ते, वस्तुनि सप्तधर्माणां प्रमाणतः सिद्धत्वात् । अतः सप्तविधसंशयोत्पन्नानां प्रश्नानां तदपेक्षया प्रतिपादनात् सप्तविधोत्तरवाक्याना समाहार एव सप्तभङ्गीपदेनोच्यते ।

अत्रैषु सप्तविधेष्वपि वाक्येषु विधि-प्रतिषेधार्थमेवकारप्रयोग आवश्यकः । तथा च प्रत्येकस्यापि भङ्गस्य कथञ्चित्—अपेक्षात्मकत्वात्, पूर्वं 'स्यात्' शब्दस्य प्रयोगस्यावश्यकता स्यादन्यथा घटः पटोऽपि स्यादिति । ते च सप्तभङ्गाः यथा—

(१) स्यादस्त्येव घटः ।

(२) स्यान्नास्त्येव घटः ।

(३) स्यादस्ति-नास्त्येव घटः ।
(४) स्यादवक्तव्य एव घट. ।
(५) स्यादस्त्यवक्तव्य एव घटः ।
(६) स्यान्नास्त्यवक्तव्य एव घटः ।
(७) स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्य एव घट ।

अत्र प्रथमे भङ्गे घट. स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षया 'घट' एवास्ति, न तु पट । द्वितीये च भङ्गे 'घट.' परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया (पटद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षया) नास्त्येवेत्युक्तम् । अथ च तृतीये भङ्गे घटः स्वद्रव्य—क्षेत्र-काल-भावापेक्षया तु विद्यत एव, किन्तु पटद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षया (परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षया) तु नास्त्येव, अत द्वयोरपि द्रव्ययोर्क्रमश एकत्र विवेचनेऽयं भङ्ग समुपजायते । किन्तु द्वयोरपि स्वपरद्रव्ययोरेककालावच्छेदेन विवेचनाशक्यत्वात् चतुर्थो भङ्ग सिद्ध्येत । मूलतस्तु-अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यश्चैते त्रय एव भङ्गा सन्ति । शेषाश्चैषां सम्मिश्रणादेव सिध्यन्ति । घटस्य स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षया, तथा च घटपटयोरेककालावच्छेदपेक्षया वक्तुमशक्यत्वात् पञ्चमोऽपि भङ्ग सञ्जायते । तथा च घटे पटरूपपरद्रव्यस्य द्रव्यक्षेत्रभावापेक्षया, घटपटयोश्चैककालावच्छेदकापेक्षया च वक्तुमशक्यात् 'नास्त्यवक्तव्यमि'ति षष्ठो भङ्ग , तथा च सप्तमो भङ्ग —क्रमश घट-पटयोर्विवेचनात् तथा च द्वयोरेकदैव विवेचनाशक्यत्वात् सिध्यति ।

स्याद्वादे एवकारप्रयोगः

अत्र 'एव'कारस्य प्रयोगो घटे घटत्वस्य ज्ञापनार्थमेव प्रयुक्तो विद्यते । यद्यत्रैवकारस्य प्रयोग आवश्यक न स्यात्तदा घटो यथा स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षयास्ति, तथैव परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षयापि सत्वात् पटोऽपि स्यादतोऽव्यवस्थानिवारणायात्रैवकारप्रयोग आवश्यक ।

स्याद्वादे स्याच्छब्दप्रयोगः

किञ्चात्र य स्याच्छब्दस्य प्रयोग , स खलु वाक्येष्वनेकान्तद्योतनार्थमेव[100] प्रयुज्यते । येनैकस्या कस्याश्चिदपि विवक्षाया बोधो भवति, वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मिकत्वात्तत्रानन्ता विवक्षा अपि सर्वदा तिष्ठन्ति । अतस्तत्र न काचिदन्या द्योत्यार्थभिन्नापेक्षावगम्येत इत्येतदर्थं स्यात्कार प्रयुज्यते ।

सुस्पष्टत्वं सहजगम्यत्वञ्च स्याद्वादस्य

इद तु मया पूर्वमेवोक्त, यदयं स्याद्वादसिद्धान्त. भारतीयदर्शनानां संयोजक-

मेकं सूत्रं विद्यते। अस्यायमभिप्रायः यद्भारतीयैस्तु स्याद्वादस्य सापेक्षत्वं सहजतया स्वीकृतमेव, किन्तु पाश्चात्यैरपि विद्वद्भिरस्योपादेयत्वादेनं सुबहु-महत्वं प्रदत्तम्। अतएव पाश्चात्यैः भारतीयैश्च कैश्चिद्विद्भिरस्य सुस्पष्टत्वं, सहजत्वं कठिनत्वं च प्रतिपादयितुं स्वलेखनी साधिता।

यद्यप्येनं सिद्धान्तमुद्दिश्य शङ्कराचार्यमहोदयैर्यदालोचितं, तद्विषये भूतपूर्व-प्रयागविश्वविद्यालयस्योपकुलपतिभि. डा० गङ्गानाथझा महोदयैर्लिखितम्[11]—'यस्मात्कालान्मया शङ्कराचार्यैर्विधत्तं जैनसिद्धान्तस्य खण्डनमधीतं, तस्मा-त्कालात् ममायं विश्वासः समुत्पन्नः, यदत्र बहु (ज्ञानं) वर्तते, यद्वेदान्त-विज्ञैराचार्यैर्न सम्यग्ज्ञातम्। यच्चाद्यावधिपर्यन्तं मया जैनदर्शनज्ञानमर्जितं, तेनाहं दृढेन विश्वासेन कथितुं शक्नोमि, यत् शङ्कराचार्यमहोदयैर्यद्यस्य मौलिकग्रन्थानामवलोकनाय कष्टः कृत.स्यात्तर्हि तेभ्योऽप्यत्र विरोधाय नाव-काश स्यात्।'

अनेन विवेचनेनेदमेव ज्ञायते यत् शङ्कराचार्यमहोदयैरस्य जटिलपक्षमेवाव-लोकितम् यच्च विश्वप्रसिद्धम्। यतश्चात्र एकस्मिन्नेव वस्तुन्युत्पाद-व्यय-ध्रौव्याणा परस्पर विरुद्धधर्माणा सद्भावो कथं जायते ? इत्येवास्य जटिलतां प्रामुख्येनाभिदधाति। वस्तुन उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तत्वमेवोद्दिश्य बहुभिरा-चार्यैरस्य जाटिल्यस्य विवेचन कृतम्। किन्तु जैनदार्शनिकैरपि यदैतज्ज्ञातं-यद्वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माणामेकत्रोपस्थिति. न सामान्यजनेनावगम्या, तदा तैरस्येयत्सारल्येन विश्लेषण कृत यत् बालोऽपि तमनायासमेवावगच्छतु।

स्याद्वादस्य त्रिगुणात्मकता

कश्चन् स्वर्णकार, स्वर्णकलशमेकं भित्वा स्वर्णमुकुटं निर्मातु सलग्नस्तदैव तत्पार्श्वे एक. स्वर्णघटार्थी, अन्यश्च स्वर्णमुकुटार्थी, अपरश्च स्वर्णार्थीति त्रयो क्रेतारः समागच्छन्। तत्र स्वर्णकारस्य प्रवृत्ति दृष्ट्वा प्रथमेन कष्टमनुभूतम्, यतोहि स स्वर्णघटार्थ्यासीत्, स्वर्णकारश्च घट भिद्यमानः। अन्यस्तु हर्षमगच्छत्-यतोहि-स्वर्णकारस्तदा स्वर्णकलशं विभेद्य स्वर्णमुकुटनिर्माणे सलग्न आसीत्। स क्रेतापि स्वर्णमुकुटाभिलाष्यासीत्। अपरश्च स्वर्णार्थी न तु शोकं, नापि हर्षमगच्छदपितु माध्यस्थभावेनैव स्वर्णकारप्रवृत्तिमवलोक-यन्नतिष्ठत्। यतश्च सः स्वर्णार्थ्यासीत्। घटस्य सत्वे विनाशानन्तरं मुकु-टोत्पत्तौ चोभयत्रापि स्वर्णस्य तदीप्सितस्य सत्वात् न शोकप्रमोदावस्था तस्य सञ्जाता। अतस्तस्य मनसि न तु शोक एव जातः नापि हर्ष.।

अस्यायमेवाभिप्रायः—यदेकस्मिन्नेव पदार्थे (स्वर्णे) एककालावच्छेदेनैवैको विनाशं, अन्य उत्पत्तिं, अपरश्च ध्रौव्य यथा पश्यति तथैव प्रत्येकमपि वस्तु परस्परविरुद्धधर्मात्मकं त्रिगुणात्मकत्वं[102] स्वभावेनैव भजते। इमा एव परस्पर-विरुद्धधर्माणां सकारणस्थितयः। अतएव वस्तुषु नानापेक्षाभिर्विरोधिधर्मास्तु तिष्ठन्त्येवेति।

इदमस्त्यस्य सहजत्वम्। किन्तु एतस्मादपि सहजतर मार्गे गच्छतोऽपि जनान-वबोधयितुमयं मार्ग आचार्यः प्रकटित.। केनापि जनेन राजपथे गच्छन्तमाचार्यं दृष्ट्वा पृष्टं, कः भवता स्याद्वाद.? आचार्यैः कनिष्ठामनामिकाञ्च तदभिमुखं प्रसार्योक्तम्—अनयो कतरा दीर्घा? तेन जनेनोक्तम्-अनामिका। पुन-श्चाचार्यैः कनिष्ठिकामपसृत्य मध्यमा च प्रसार्याभिहितम्—अनयोः कतरा लघ्वी? उत्तरितं तेन जनेन-अनामिका। तदाभिहितमाचार्येण संतुष्टमनसा-यद् यथाभवन्त एकामेवाङ्गुलिका दीर्घेति लघ्वीति चापि कथयन्ति, तथैवायं स्याद्वादोऽपि परस्परविरुद्धधर्माणामेकत्र स्थापक सिद्धान्त.। इयमेवास्य सहजगम्यता सुस्पष्टता च, या सर्वेषामपि शेमुषीमताम्मनासि आकर्षयति।

स्याद्वादस्य नयापेक्षत्वम्

स्याद्वादसिद्धान्ते नयाना बहुमुखी विवक्षा वर्तते। यतश्च यस्य कस्यचिदपि पदार्थस्य स्याद्वादेन योऽर्थ प्रविभक्तो भवेत्तस्यैव नया व्यञ्जका भवन्ति,[103] नीयते-साध्यते, गम्यमानोऽर्थो येनेति व्युत्पत्यात्मकत्वात्। इमे च नयाः सप्तविधा भवन्ति। एष्वेव स्याद्वादस्य सप्तभङ्गानां वाधारः स्थितो विद्यते, ते च नया यथा—

१. नैगमः

'अर्थस्य सकल्पमात्रग्राही नैगमो नय.'[104]। अथवा 'देशसमग्रग्राही नैगम.' इति। यथा खलु कश्चन् पुरुष प्रस्थनिमित्तं वनात् काष्ठ समानेतुं परशुहस्तो गच्छति। तत्र कोऽपि पृच्छति, कुत्र भवान् गच्छति? स उत्तरति—प्रस्थ-मानेतुं। अत्र काष्ठेन निर्मितं द्रव्यविशेषमेव प्रस्थसंज्ञं भवति, न तु केवलं काष्ठमेवाथ चात्र तदर्थं काष्ठमप्यानेतु सः गच्छन्नस्ति, अतो नात्रायमुचितः समाहित.। किन्त्वत्र तेन प्रस्थनिर्माणाय कृतसंकल्पत्वादेवेदमुत्तरं दत्तम्। अतएवात्र नैगमनयापेक्षयायं व्यवहार उचितः।

२. संग्रहः

'स्वजात्यविरोधेनैकत्वोपनयात् समस्तग्रहणं संग्रहः'[105] इति तत्त्वार्थराजवार्तिके उक्तम्। इदमेव किञ्चित् शब्दभेदेन प्रमाणनयतत्त्वालोकेऽप्यभिहितम् 'सामान्यमात्रग्राही संग्रहः'[106]। तथात्र तत्त्वार्थभाष्ये तु पदार्थानां सामान्यविशेषोभयविधधर्माणां संग्रहणादेकस्य कस्यचित्सामान्यस्य स्वीकरणमेव संग्रहत्वेन स्वीकृतम्। तद्यथा—'अर्थानां सर्वैकदेशसंग्रहण संग्रहः[107]' इति तथाहि—यथा 'सत्' इत्युक्ते सत्तासम्बन्धेन ग्राह्यानां द्रव्यगुणकर्मादिसर्वेषामपि तत्त्वाना ग्रहणं भवति, यथा च द्रव्यमित्युक्ते जगतिस्थितानां सर्वेषामपि पदार्थानां निरवशेषेण ग्रहणं भवति, तथैव संग्रहनयेन कस्यचिदपि निर्विशेषस्य पदार्थस्य सामान्येन ग्रहणं भवतीति।

३. व्यवहारः

अयं व्यवहारनय संग्रहनयेन ग्रहीतमर्थ विधिपूर्वकमवहरति, अतएवास्येदं सार्थकं नाम। इदमेव तत्त्वार्थराजवार्तिके[108] स्वीकृतम्। तथा च यः खलु सामान्यस्य निराकरणपूर्वकं विशेषेण व्यवहरति स एव व्यवहार इति विशेषावश्यकभाष्यवृत्तावुक्तम्[109]। तद्यथा—संग्रहेण गृहीते सदर्थे द्रव्यत्वं गुणत्वञ्चास्ति। तत्र च द्रव्यान्तः जीवोऽजीवश्चापि भवति। एव प्रकारकं विभाजनं येन विधिपूर्वकं क्रियते स एव 'व्यवहार', इति पदवाच्यो भवति।

४. ऋजुसूत्रः

यथा ऋजुसूत्रपातस्तथा ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयति[110]-ऋजुसूत्र इति भट्टाकलङ्कः। तत्त्वार्थभाष्यकृतश्च-सतां साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानम्-ऋजुसूत्रः,[111] इति। किन्त्वत्रान्यैराचार्यैरपि कृता अन्या. अपि परिभाषाः प्राप्यन्ते। तथाहि—ऋजु अवक्रं वस्तु, सूत्रयति-ऋजुसूत्र.। परमत्र सर्वेषां केवलमयमेवाशयो विद्यते, यद्यः खलु केवलं वर्तमानं, वर्तमानकालिकं पदार्थं व्यवहारं वा ग्रह्णाति सः ऋजुसूत्र इति। तथाहि—यथा खलु कश्चन् लेखने सलग्नोऽतः सः लेखक इति। यश्च कश्चन कदाचित् लेखनकार्यमेव यद्यपि करोति, किन्तु सम्प्रति न लेखनक्रियायां संलग्न, तन्न सः ऋजुसूत्रनयापेक्षा 'लेखकः' इत्यभिधातु शक्यते। अर्थादयं नयः वर्तमानकालिकक्षणस्यैव ग्राहको भवति। यथा रज्जुः प्रज्वलतीति व्यवहारे-रज्ज्वा. यावद्भागः

प्रज्वलितः, न तद्रज्जुः, यश्चावशिष्ट सः न प्रज्वलत्यपितु रज्वाः यावदंशः प्रज्वलमानस्तिष्ठति तदपेक्षयायं व्यवहारो भवतीति ।

५. शब्दः

'शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्यायतीति शब्द.'[112] इति भट्टाकलङ्ककवचनानुसारं संकेतग्राहकोऽर्थबोधक शब्दनय इत्युच्यते । शब्दनयदृष्ट्या व्याकरणशास्त्रीय-प्रयोगाणामपि नौचित्य तिष्ठति, तत्र लिङ्ग-सख्या-साधन-कालादिव्यभि-चाराणां विद्यमानत्वात् । तथाहि—स्त्रीलिङ्गेन सह पुल्लिङ्गशब्दप्रयोग.—'तारका स्वातिः', पुल्लिङ्गेन च सह स्त्रीलिङ्गस्य-'अवगमो विद्या', स्त्री-लिङ्गेन च सह नपुसकशब्दस्य-'वीणा आतोद्यम्' इत्यादयः प्रयोगाः न निष्पन्नाः स्युः । एवमेव सख्यादिप्रयोगानां व्यभिचारोऽपि न निष्पन्नत्व-मधिगच्छतु ।

६. समभिरूढः

अनयापेक्षया कस्यचिच्छब्दस्य यदि शताधिका अपि अर्था सन्ति, परं यदि सः कस्मिञ्चिदर्थविशेषे रूढो सजातस्तदा न तस्यान्येऽप्यर्था ग्रहणीयाः भवन्तीति । अतएवाकलङ्केनोक्तम्—'नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढ.'[113] ।

७. एवम्भूतः

यस्मिन् काले यो यस्यामवस्थाया विद्यते तस्य तथैव विश्लेषणमेवम्भूतनयस्य कार्यमिति । यथा खलु इन्द्र. यदा इन्दनशक्तिमनुभवस्तिष्ठति, तदैव स 'इन्द्रो' भवति, न तु नाम-स्थापना-द्रव्यनिक्षेपावस्थायामपि ।

नयानां द्वैविध्यम्

इमे उपर्युक्ता सप्तविधा अपि नया मूलतो द्रव्य-पर्यायार्थिकयोर्विभेदयो-र्विभक्ता सन्ति । तत्र केचन तु केवल नैगमसग्रहावेव द्रव्यार्थिकेन स्वी-कुर्वन्ति । केचन चाचार्या नैगम-सग्रहव्यवहारादिनयत्रय द्रव्यार्थिकत्वेन प्रत्तन्ति । सामान्य-विषयग्राहित्वाद्द्रव्यार्थिकनयस्य केवलं नैगम. एवास्यान्तर्भाव्य । पर्यायार्थिकस्य च भेदविवक्षात्मकत्वात्, विशेषग्राहकत्वात्-शेषाणामन्येषा षण्णयानां तत्रान्तर्भावो जायते । एतेषा नयाना भेदोपभेदास्तु बहुविधा. सन्ति । येषामत्र विवेचनमप्रासङ्गिकत्वात् न विशेषतः क्रियते ।

अतएव संक्षेपतः को द्रव्यार्थिको नयः, कश्च पर्यायार्थिकः इत्येवोक्तम्। तथा चात्र यथा नयानां द्रव्य-पर्यायार्थिकरूपो द्विविधो भेदस्तथैव निश्चय-व्यवहारात्मकोऽपि भेदो दृश्यतेऽथ चानयोर्व्यवहारोऽपि शास्त्रेषु प्रायः प्रत्येकमपि सिद्धान्ते कृतो विद्यते। अस्मात्कारणादनयोरपि निदर्शनं समुचितं प्रतिभाति।

नयानां निश्चयव्यवहारत्वम्

स्याद्वादसिद्धान्ते, सप्तभङ्गानां व्यवहारे वा वस्तुतः निश्चय-व्यवहार-नययोरेव सम्बन्धः विशेषावश्यकः। यतश्चोभयत्र यावत्योऽपि विवक्षाः समुपजायन्ते ताभिर्विशिष्टाभिरपेक्षाभिः सम्बद्धौ निश्चय-व्यवहारनयावेव स्तः। प्रत्येकमपि द्रव्यं व्यवहारे यादृशं प्रतिभाति, वस्तुतः न तादृशमेव तद्विद्यते, तस्याप्यन्ये स्वरूपाः सन्तीत्यस्य विवेचको निश्चयो नयः। एतदेवाचार्यैरुक्तम्—

'तत्त्वार्थं निश्चयो वक्ति, व्यवहारश्च जनोदितम्'।[११५]

एतदेवानेनोदाहरणेन सुस्पष्टं भवति—'गौतमेनैकदा भगवान् महावीरः पृष्टः-भगवन्! फणितप्रवाहिगुडे कियन्तो वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाः?' महावीरेण प्रतिपादितम्—'व्यवहारेण तु स मधुर एव वर्तते, किन्तु निश्चयनयापेक्षया तु तस्मिन् पञ्चवर्णाः, द्वौ गन्धौ, पञ्चरसाः, अष्टौ स्पर्शाश्च भवन्तीति'।

अस्यायमेवाभिप्रायः, यद्वस्तुन इन्द्रियग्राह्यं स्वरूपमन्यद्भवति, वास्तविकञ्च स्वरूपमन्यत्। वयं बाह्यस्वरूपमेव पश्यामः, यच्चेन्द्रियग्राह्यम्। सर्वज्ञस्तु बाह्यस्वरूपमाभ्यन्तरस्वरूपं च निश्चयनयेन सम्यग्विजानाति। सापेक्षवादस्याधिष्ठातुः प्रो० अलवर्टआईस्टीनमहोदयस्यापि अयमेवाशयो वर्तते। ते कथयन्ति यत्—'वयं तु केवलमापेक्षिकं सत्यमेव जानीमः, सम्पूर्णं सत्यं तु सर्वज्ञ एव विजानाति'[११६]। तच्च सर्वज्ञज्ञानं केवलात्मकत्वात् पूर्णत्वाद्वा द्रव्यस्य सर्वासामपि विवक्षानां ज्ञायकं भवतीति।

स्याद्वादस्य सापेक्षत्वम्

जैनदर्शनस्य हृदयरूपोऽयं सिद्धान्तः वस्तुनः पदार्थस्य वा सापेक्षत्वस्वीकरणार्थमेव सप्तभङ्गान् प्रतिपादयति। नैनं विना कस्यचिदपि पदार्थस्य स्वरूपः पूर्णतामधिगच्छति। यथा कञ्चन आम्रफलं स्वस्माद्दीर्घादन्यफलात् लघ्वपि भवति तथा चान्यात्स्वस्मात् लघुफलात् दीर्घमपि भवति। अतश्चानयोर्द्वयोरपि लघु-दीर्घयोः फलयोरपेक्षयाम्रस्यापि लघुत्वं दीर्घत्वञ्च यदा

स्वीक्रियेत तदैवाम्रफलस्य स्वरूपः पूर्णत्वमवाप्नोति। न तु केवलेन लघुस्व-रूपेणैव तस्य बोधो यथार्थः जायते, नापि केवलं दीर्घस्वरूपमधिकृत्य तत्स्व-रूपस्य पूर्णता भविष्यति।

अस्मात्कारणादेव स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षया, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावा-पेक्षया च वस्तुनो यत्स्वरूपं निर्धारितं भवति, तदेव वस्तुनो वास्तविकं स्वरूपमित्युच्यते। एतच्च व्याख्यातुं स्याद्वाद एवैकः सिद्धान्त. दार्शनिके जगति जैनैः स्वीकृतो विद्यते, येन न केवलं लोकव्यवहारोऽपितु पदार्थमात्र एव विषयत्वेन गृह्यते।

यः कोऽपि पुरुष कस्यचिदपेक्षया भ्रातृत्वेन भ्राता भवति। अपरश्च तत् भागिनेयोऽतस्तदपेक्षया स मातुलोऽपि, अन्यश्च तस्य मातुलस्तदपेक्षया तु भागिनेयोऽप्यस्ति। एवमेवान्येऽपि बहव एतादृशाः सम्बन्धास्तदपेक्षयाऽपि तस्य विविधा स्वरूपास्तत्र तत्र दृश्यन्ते। अत्र यदि कयाचिदेकयैवापेक्षया तस्य पुरुषस्य स्वरूपो निश्चीयते, तत्सत्ये प्रतिष्ठितं पूर्ण वा भविष्यतीति कथ वक्तु शक्नुमः ? यदा हि तस्यान्येऽपि स्वरूपा. अस्माकमभिमुख विद्यमाना-स्तिष्ठन्ति। तदपेक्षया तु न मातुलः भ्रातान्यो वा कश्चिद्भवितुमर्हति। नापि मातुलस्तदरिक्तोऽन्य कश्चित्। अतोऽत्रानेन अपेक्षाव्यवहारेण[११७] ज्ञायते यत् तस्य पुरुषस्य कश्चनापि स्वरूप, सम्बन्धो वा न पूर्णत्वयुक्तस्तावद्भवति, यावत्सर्वेऽपि स्वरूपा नैकत्वेन तस्मिन् स्वीकरणीयाः इति। अतएव विभिन्ना-पेक्षाभिर्य स्वरूप. नानासम्बन्धात्मको कस्यचिदपि वस्तुनः पदार्थस्य पुरुषस्य वावलोक्यते, स एव तस्य वास्तविक. स्वरूप, तस्यैव विवेचन स्याद्वादस्य ध्येयम्। तदपेक्षाना सापेक्षत्वात् च स्याद्वादस्यापि सापेक्षत्व स्वीकर्त्तव्य-मेवेति।

स्याद्वादस्य संशयवादत्वं, अनिश्चिततावादत्वं वा ?

स्याद्वादस्य जटिलतामधिकृत्य विद्वद्भिरस्य कट्वालोचनं विधत्तम्। स्याद्वा-दस्य हार्दमिदमजानन् शङ्कराचार्यैरपि लिखितम्, यत्—ज्ञानसाधनानि, ज्ञान-विषयः, ज्ञानक्रियाः, सर्वेऽपि जैनदर्शने अनिश्चिताः सन्ति, तत्कथमधिकृतरूपेण तीर्थकरैरुपदेश आचरण वा कर्तु शक्यते ? यत् स्याद्वादिनोऽनुसारं तु ज्ञानमात्रमेवानिश्चित वर्तते। अतएव तैरेभ्यः 'सशयवादस्य' 'अनिश्चितता-वादस्य' वा सज्ञा प्रदत्ता। इदं विवेचनं स्वत एव प्रकटयति यत् शङ्कराचार्य-

महोदयैः सम्भवतः 'स्यादस्ति' 'स्यान्नास्ति' इत्यत्र 'स्यात्' पदं राष्ट्रभाषायाः 'शायद' इत्यस्य नामान्तरं स्वीकृतम् । परमत्र नायं स्याच्छब्दः"[8] संशयस्यानिश्चिततायाश्च वा द्योतकः । यतो ह्यनेन पदेन वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वस्यैव बोधो भवति । वस्तुनः स्वरूपनिर्णये वयमेकस्यैव धर्मस्यापेक्षां कुर्मः, यदा हि तत्रान्येऽपि तद्धर्माः विद्यन्त एव । अतः 'स्यादस्ति एव' इत्यत्र कश्चिद्धर्मविशेषस्यैवापेक्षास्ति । अस्मात्कारणादेव नात्र सन्देहस्यानिश्चिततायाः वावकाशः ।

स्याद्वादो न कस्मिंश्चित्काल्पनिके आकाशे जगति वा स्थितः, अपितु व्यवहारस्यैको बुद्धिगम्यः सिद्धान्तः । बहुभिराचार्यैस्तु यदस्मै 'अस्तिनास्ति' इत्यनयोः रहस्यमजानन् संशयवादस्य अनिश्चिततावादस्य वा संज्ञा प्रदत्ता, सा चिन्तनधाराया सम्यग्दिशि समागता सती तेषां सिद्धान्तानां स्वद्रव्यक्षेत्रकालाद्यपेक्षया सत्यत्वं स्थापयिष्यति । यतो हि स्यादस्ति-नास्तीत्यादयः सप्तभङ्गा एवास्य स्याद्वादस्य हृदयभूतास्तिष्ठन्ति ।

सन्दर्भोल्लेखाः

१. (अ) तसू-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् ५।३०।। सद्द्रव्यलक्षणम्, ५।२९।।
   (ब) प्रसा-अपरिचित्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसजुत्तम् २।३।।
   (स) पंचा-दवियदि गच्छदि ताइ ताइं सब्भावपज्जयाइ जं ।
   दविय त भण्णन्ते अणण्णभूदं दु सत्तादो ।।९।।
२. (अ) तसू-गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ५।३७।। द्रव्याश्रयाः निर्गुणाः गुणाः ५।४०।।
   (ब) प्रसा-गुणव च सपज्जाय ज त दव्वत्ति वुच्चति २।३।।
३. प्रसा-२।९।।   ४ प्रसा-२।२०,२१।।   ५. प्रसा-२।१२।।
६. प्रसा-२।११।।   ७. प्रवा-२।११०।।
८. आमी-घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
   शोकप्रमोदमाध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम् ।।५९।। पयोव्रतो० ६०।।
९. मीश्लोवा-वर्धमानकभङ्गे च'''माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ।।
१०. अ-अपाम-द्रव्यं हि नित्यं'''द्रव्यमेवावशिष्यते १।१।१।। ब-पायोभा- ४।१३।।
११. आमी-कार्यकारणनानात्व'''यदीष्यते ।।६१।।

१२. आमी-पृथक्त्वैकान्तपक्षेऽपि'''अनेकस्थो ह्यसौ गुणः ॥२८॥

१३. आमी-यद्यापेक्षिकसिद्धि.'''कारकज्ञापकाङ्गवत् ॥७३-७५॥

१४. भासजैयो-पृष्ठ २१५॥

१५ चिदचिद्द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम् । उपादेयमुपादेय हेय हेय च कुर्वतः ॥
हेय हि कर्तृ रागादिर्यत्कार्यमविवेकिता । उपादेय पर ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ॥

१६ भादम्-पृष्ठ ६८॥ १७ तसू-कालश्चेत्येके ५।३८॥

१८. तसू-गुणपर्यायवद्द्रव्यम् ५।३७॥

१९ तसू-जीवाजीवास्रवबधसवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम् १।४॥

२०. तसू-५।१,४॥ २१ पञ्चा-खधा य खधदेसा'''मुणेयव्वा ७४-७५॥

२२ पञ्चा-खध सयलसमत्थ'''परमाणू चेव अविभागी ॥ २३ तसू-५।१६॥

२४. पञ्चा-एयरसवण्णगध दो फासं सद्दकारणमसद्दम् ॥८१॥

२५ पञ्चा-वण्णरसगन्धफासा'''पोग्गलचित्तो ॥ २।४०॥

२६. निसा-अतादि अतमज्झ ''त परमाणु पसति ॥२६॥

२७. प्रसा-२।४०—वण्णरस गन्धफासा ..पोग्गलचित्तो ॥

28. INOCHEM (a) Hydrogen is a colourless gas, and has neither taste nor smell

(b) Nitrogen is a colourless gas without taste or smell"

(A) P 206 (B) P. 262.

30 Ammonia is a colourless gas, having a powerful Pimgent smell and a strong caustic soda NEWTH' P 304

३०. तसू—शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्चेति- ५।२४॥

३१. तसू-द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा ५।४०॥ ३२ उसू-२८।६॥

३३ जैसिदी-७।२३॥ ३४ व्याप्रश-२।१०॥ ३५ भश-२।१०॥

३६. भश-१३।४॥ ३७ पञ्चा-९२॥

38. ANOBOGIPA—"The first problem was, of course, that if light waves were real waves, they must be waves in something They were plainly not waves in matter It was necessary therefore to invent something else, which was not matter. For them to be waves in this something they called the 'Ether', and imagined it as an utterly thin and utterly elastic, fluid, that flowed undisturbed between particles of the material universal and fillen all 'empty space' of every kind.

What was the 'Ether' like ? Difficulties and contradiction appeared at once For it was proved to be (1) thinner than the thinnest gas, (2) more rigid than steel, (3) obsolutely the same everywhere, (4) obsolutely weightless, (5) in the neighbourhood of any electron emmensely heavier than lead"

39. RECO—The Newtonian 'Ether' is rigid, yet allows all matter to move about it without friction or resistence, it is elastic but cannot be distorted, it moves, but it's motion cannot be dedected. It exerts force on matter but matters exerts no force on it, it has no mass nor has it any parts which can be identified, it is sad to be at rest relatively to the fixed star's, yet the stars are known to be in motive relatively to one another. —Dention.

40. REUNI—A hundred years ago the Ether was regarded as one elastic body something as a 'Jelly', but much stiffer and lighter so that it could vibrate extermely, rapidly, but a great many pheaomena culminating in the Michelson experiment and the theory of relativity, showed that Ether must be something very different from ordinary terrestrial substances. —Max born.

41. This does not mean that the Ether is abolished, we need and Ether in the last century it was widly believed that Ether was a kind of matter, having properties such as mass, rigidity, motion like ordinary matter. It would be difficult to say when this view died out...Now a days it has agreed that Ether is not a kind of matter, being non-material, its propertles are suigeneries (quite unique) characters such as mass, and rigidity, which we meet with in matter will naturally be absent in Ether, but the Ether will have new and definite characters of its own ...NON material ocean of Ether. TNAPHYWO—Eddington

42. Thus it is proved that science and Jain physics agree absolutely so far as they call Dharma (Ether) NON-material, NON-atomic, NON-discrete, continuous, co-extensive with space, indivisible and as a necesary medium for motion, and one which does not itself move. NOPSVI—'Prof. G. R. Jain.

४३ उसू-२८।९।। अहम्मो ठाणलक्खणो ।। ४४. तसू-आकाशस्यावगाह: ५।१८।।
४५. पञ्चा-१।९०।। ४६. गोसाजी-५८६।।
४७ पञ्चा-१।२४।। ४८. भसू-२५।२,४।।
४९. पञ्चा-१।६।।, १।१०२।।
५०. पञ्चा—सब्भावस्वभावाण ''णियमेणपण्णत्तो ।।१।२३
५१ पञ्चा—ववगदपणवण्णरसो । ५२. द्रस-२२।।१।२४
५३. नसास-सप्ततत्त्वप्रकरणम्-लोकाकाश स उच्यते ।५२।
५४ सप्त (देव)-पुग्गला अद्धसमया जीवा य अणता ।।
५५ उसू-३६।९।। ५६. पञ्चा-१।१००-१०१।।

टिप्पणी—कृपया ७४ पृष्ठ १ पङ्क्तौ 'णाभिरीद्रव्यस्य' स्थाने णाभिरीथरद्रव्यस्य' इति, '७५ पृष्ठे ४ पङ्क्तौ 'महोदयरीरद्रव्यस्य' स्थाने 'महोदयैरीथरद्रव्यस्य' इति, २४ पङ्क्तौ च लक्षणोऽस्ति[४१] इत्यत्र ४३ सन्दर्भ सख्यायुक्त, ८५ पृष्ठे—८ पङ्क्तौ द्रव्य[४७] मिति इत्यत्र ८७ सन्दर्भसख्यायुक्त च पठनीयम् । १०२ पृष्ठ ९३ सख्याक, सन्दर्भमपसार्य अग्रिमा. सन्दर्भा. एकोनसख्यया पठनीया । १०६ पृष्ठे ३ पङ्क्तौ 'सिध्यति[५]', ७ पङ्क्तौ ''परिणाम[६]', १५ पङ्क्तौ '' योगश्चेति[७]', २१ पङ्क्तौ '' लक्षणमिति[८] सन्दर्भसख्यायुक्ता:, १०७ पृष्ठे—८ पङ्क्तौ [४१] स्थाने ११ सन्दर्भसख्या युक्ता:-पठनीया: ।

५७. उसू-समए समयखेत्तिए ३६।७।।   ५८. ससू-४५।।

५९. उसू-३६।२०८।।   ६०. स्थासू-३।४।१९२।।   ६१. भसू. ११।१०।।

६२. अनुसू-पृ० १७५ (प्रका० शाह वेणीचन्द्र सुरचन्द्र, बम्बई)।

६३. नतप्र (देव) अद्धसमओ एगो···संतोऽथ पडुप्पन्नो ।।

६४. स्थासू-४।१।२५२।।, ५।३।४४१।।

६५. सप्र (हेम)-तत्र कालं विना सर्वे प्रदेशप्रचयात्मका: ।।४२।।

६६. द्रस-कालस्सेगा ण तेण सो काओ २३-२५।।

६७. पञ्चा-कालस्य दु णत्थि कायत्तम् १।१०२।।

६८. प्रसा-णत्थि पदेस त्ति कालस्स। अमृतचन्द्राचार्यटीकायाम्-अप्रदेश. कालाणु: प्रदेशमात्रत्वात् ।।२।४३।।

६९. अभिको-१।६।।   ७०. अभिको-१।६।।   ७१. अभिको-१।५।।

७२. अभिको-४।१-७।।   ७३. अभिको-२।३४।।   ७४. अभिको-२।३-४।।

७५. अभिको-२।३५-३६।।   ७६. द्रष्टव्य-भादउ-पृ० १५२-१५३।।

७७. मीसू-१०।३।४४।।   ७८. मीसू–काशी सस्करणम्-पृ० ७८।

७९. न्यासिमा-पृ० १७१।।   ८०. न्यासिमा-पृ० १७१।।

८१. अरा-अंक ३-श्लोक १२।।   ८२. वेगातौ-१।२।५।६, २।१।१३।।

८३. पस-पृष्ठ २३ (क)   ८४. तत्रा-५।३।३।।   ८५. तवा-५।३।३।।

८६. तवा-५।, ६।२०।।   ८७. पाम-५।१।११९।।   ८८. तवा-५।२।९।।

८९. तवा-५।२।३।।   ९०. प्रसा-२।८।।   ९१. प्रसा-२।९।।

९२. प्रसा-२।१०।।   ९३. प्रसा-२।१८।।   ९४. प्रसा-२।१०।।

९५ प्रसा-२।८।।   ९६. प्रसा-२।४।।   ९७. प्रसा-२।७।।

९८. आमी-१०४।।   ९९. पुसि।   १०० तरावा-१।६।५।।

१०१. आमी-१०३।।   १०२. जैसा-१६ सितम्बर, १९३४ ई०।

१०३. आमी-५९।६०।।   १०४ आप-१०८।।   १०५. तभा-१।३५।।

१०६. तरावा-१।३३।५।।   १०७. प्रनत-७।१३।।   १०८. तभा-१।३५।।

१०९ तरावा-१।३३।६।।   ११०. विवभावृत्ति।   १११. तरावा-१।३३।७।।

११२. तभा-१।३५।।   ११३: तरावा-१।३३।८-९।।   ११४, तरावा-१।३३।१०।।

११५. द्रव्यात-८२३।।

116. We can only know the relative truth, the absolute truth is known only to the universalobsarver. —COSOLNE—p. 201

११७. तरावा-१।६।११।।   ११८. तरावा-१।६।८-१०।।

जैन-दर्शन आत्मद्रव्यम्

तृतीयोऽध्यायः

आत्मशब्दस्य व्युत्पत्तिस्तल्लक्षणं व्याख्या च

आत्मशब्दस्य व्युत्पत्तिः

जैनदर्शने षड्द्रव्येषु प्रमुखं द्रव्यं जीवाख्यम् । यतश्च तस्यैवान्यैरजीवपदार्थै. सह सयोगादस्य विश्वस्य विस्तारो जायते । तथा चायं विश्व-व्यापार· सतत प्रचलमान इह दरीदृश्यते । अयं जीवस्तावदत्रात्मपदेनापि व्यवह्रियतेऽतएव जैनदार्शनिकै· प्राय. सर्वत्र जीवात्मनोरभेदेन यत्र कुत्रचित् जीवस्य विवेचन कृतं तत्रात्मपदेनापि तद्बोधो कारितः । अतोऽत्र मयोभयोरपि शब्दयोर्व्युत्पत्तिर्यथा जैनग्रन्थेषु प्राप्यते तदनुसारमेव प्रदीयते ।

अतति-गच्छति जानाति इति आत्मा । 'सर्वे गत्यर्था' इति वचनात् गमन-शब्देन ज्ञान भण्यते । अतः शुभाशुभरूपै. कायवाङ्मनोव्यापारैर्यथासम्भव तीव्रमन्दादिरूपेण ज्ञानादिगुणेषु आसमन्तात् अतति-वर्तते य· स आत्मेत्युच्यते, अथवा—उत्पादव्ययध्रौव्यत्रिकैरासमन्ताद्वर्तते य. स[१] आत्मेति ।

जीवशब्दञ्च व्याख्याययद्भि. प्राय. सर्वैरेवाचार्यैरेकमतेनेदमेवाभिहितम्—यत् चतुर्भिः प्राणैर्यो जीवति, अजीवत, जीविष्यति च स जीव , अर्थात्त्रैकालिकजीवनगुणयुक्तो जीव इति ।

यद्यपीमे प्राणा· दशविधा भवन्ति, परन्तु मूलतश्चातुर्विध्यमेव भजन्ते, तथाहि-बलप्राणाः, इन्द्रियप्राणा , आयु.प्राणा·, श्वासोच्छ्वासप्राणाश्चेति[२] । एषा विभेदात्मकत्वाद्दशविधत्वमुपजायते । तद्यथा—बलप्राणास्त्रिविधा —कायवाङ्मनोभेदात्, इन्द्रियप्राणाः पञ्चविधा.—स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु.-श्रोत्र-भेदात् । एते अष्टौ प्राणा श्वासोच्छ्वासायु.सहिता दशविधा भवन्ति ।

अत्र इन्द्रियैरगोचराः ये शुद्धचैतन्यप्राणास्तत्प्रतिपक्षिभूताः क्षायौपशमिका इन्द्रियप्राणाः, अनन्तवीर्यरूपाश्च ये बलप्राणास्तेषामनन्तभागेष्वेकभाग-प्रमाणा· कायवाङ्मन प्राणा अनाद्यनन्तशुद्धचैतन्यात्मकाः (ज्ञानरूपा.) ये प्राणास्तद्विपरीतलक्षणाः साद्यन्ता आयु प्राणा· । श्वासोच्छ्वासावागमन-क्लेशरहिता ये शुद्धचित्प्राणास्तद्विपरीता. श्वासोच्छ्वासप्राणा·[३] ।

एवं व्यवहारनयेन यथासम्भवं चतुर्भि प्राणैर्युक्तो जीव., निश्चयनयेन तु चेतनालक्षणयुक्तो जीव । चेतनेय ससारिषु मुक्तेषु चापि प्राप्यते । तथा च त्रिकालाबाधितानविच्छन्नरूपेण सदा तिष्ठति च । अतएव पुद्गलादिरूपेन्द्रि-

यादिदशविधाः प्राणाः 'द्रव्यप्राणाः', चेतना च 'भावप्राणाः' इत्युच्यते। एषां दशविधाना द्रव्यप्राणाना मुक्तेष्वभावेऽपि भावप्राणाना स्थितित्वात्तेषामपि जीवत्वं सिध्यति।

जीवस्य लक्षणम्

एतादृशस्य जीवस्य लक्षणं जैनदृष्ट्या 'उपयोग.' स्वीकृतः। उपयोगस्तावत्-'बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने सति यथासम्भवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायि-परिणाम.' तत्रायं बाह्यहेतुरात्मभूतानात्मभूतेन द्विविध.। तथाहि—आत्मना सम्बन्धिते शरीरे चक्षुरादीन्द्रिया आत्मभूता बाह्यहेतवः, प्रदीपादयश्चा-नात्मभूता. बाह्यहेतव। आभ्यन्तरहेतुरप्यात्मभूतानात्मभूतभेदेन द्विविधस्तत्र काय-वाङ्मनोवर्गणानिमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूपो द्रव्ययोगोऽन्तःप्र-विष्टत्वादाभ्यन्तरोऽनात्मभूतहेतुस्तथा च द्रव्ययोगनिमित्तकज्ञानादिरूपो भावयोग आत्मनो विशुद्धिश्चाभ्यन्तरात्मभूतहेतुरिति तद्यथा—मनुष्यादीनां कृते तावद्दीपकाना सन्निधानमावश्यक भवति, तद्विना तेषा चक्षुरा-दिविज्ञानाप्रवृत्ते, मार्जारादिरात्रिञ्चराणाञ्च तद्विनाप्युपलब्धेर्न नियम'।

सोऽयमुपयोगो द्विविध'—ज्ञानोपयोगो, दर्शनोपयोगश्चेति'। तत्र दर्शन निर्वि-कल्पक, ज्ञानञ्च सविकल्पक भवति। तत्र दर्शनोपयोगस्तावत्—चक्षुरचक्षु-रवधिकेवलोपयोगभेदाच्चतुर्विध.। ज्ञानोपयोगश्च-कुमति कुश्रुत-विभङ्ग (कु-अवधि)मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलोपयोगभेदेनाष्टविधो भवति। एषा विशिष्ट व्याख्यान षष्ठतमेऽध्याये ज्ञानदर्शनविश्लेषणे वक्ष्यामि।

इत्थं व्यवहारेण ज्ञानस्य दर्शनस्य च यो धारक. स एव जीव इति जीव-लक्षणम्। शुद्धनिश्चयनयेन तु शुद्धज्ञानदर्शने एव जीवस्य लक्षणमिति।

जीवस्य शुद्धाशुद्धस्वरूपः

जीवद्रव्यस्य यावत् नानाविधै कर्मभि सह सम्बन्धस्तथा कर्मजन्यपर्यायैश्च सह परिणमन, जन्ममरणादिविभावरूपं भवति, तावत् सोऽशुद्धस्तिष्ठति। परं यदा संयम-गुप्ति-समित्यादिरूपसवर-निर्जराभ्यां घातिकर्मणा क्षयं गमयन् अनन्तचतुष्टययुक्तो भवति, तदा स विशुद्धात्मा भवति। तथा च यदा-वशिष्टाना चतुर्णामघातिकर्मणामपि क्षयो जायते तदा स अष्टानन्तगुणात्मको भूत्वा परमात्मा सञ्जायते। एषैवावस्था जैन-शासने 'सिद्ध'पदेनाभिहिता।

जीवस्य स्वभाव-विभावपरिणमनम्

परपरिणमनात्मकेऽस्मिन् जगति ज्ञानावरणादिकर्मणामुदयोपशमक्षयक्षयो-

पञ्चभि: क्रोधमानादिसंख्यातीता: ये मलिनभावा: समुपजायन्ते, ते सर्वेऽपि वैभाविका:[१०] धर्मसंज्ञकाश्च सन्ति । अर्थात् जीवो स्ववैभाविकशक्त्या संसारावस्थायां कर्मनिमित्तात्क्रोध-मान-मायादिविभागरूपेण परिणमति, तथा च कर्मणां सर्वथा विगमे सति तयैव शक्त्या स मुक्तावस्थायामपि केवलज्ञानादिस्वभावरूपेण परिणमति । येनास्य द्विविधा: भावा:—(१) वैभाविका:, (२) स्वाभाविकाश्चेति । इमे च वैभाविका: भावा: संक्षेपतस्त्रिविधा:—औदयिक:, औपशमिक:, क्षायौपशमिकश्चेति । तत्र कर्मोदयजनिता गत्यादिएकविंशतिविधा औदयिकभावा[११] । कर्मणामुपशमजनिता औपशमिकभावा:[१२] द्विविधा:- उपशमसम्यक्त्वम्, उपशमचारित्रञ्चेति कर्मणा क्षयोपशमजन्याश्च भावा[१३] अष्टादशविधा: भवन्ति ।

विभावकर्मणामुत्पादकस्य कर्मणो मुक्तावभावान्न तत्र विभावपर्याया जायन्ते । अतस्तत्र विभावपर्यायाणां बीजभूतस्य कर्मणोऽभावान्नैषां संभव: शक्योऽतएव मुक्तात्मनां तत्रानन्तानन्तागुरुलघुगुणनिमित्तात् स्वधर्मैरेव परिणामो भवति । इत्थं मुक्तात्मसु तद्गुणेषु च षड्स्थानपतितहानिवृद्धिभिरुत्पाद-व्ययरूपा: स्वभावपर्याया[१४] एवोत्पद्यन्त इति ।

आत्मनो मूर्त्तामूर्त्तत्वम्

जैनदर्शने खल्वात्मनो कथञ्चिन्मूर्तत्वं, कथञ्चिच्चामूर्त्तत्वमपि स्वीकृतं विद्यते । यतश्चायमात्मानादिकालादेव पुद्गलरूपै कर्मभिर्नीरक्षीरवत् सम्मिश्रितो विद्यतेऽतोऽस्य पुद्गलस्य मूर्त्तस्वरूपात्मकत्वाज्जीवस्यापि तदपेक्षया मूर्त्तत्वमुपजायते, किन्तु वस्तुतस्त्वात्मा इन्द्रियैरगोचरोऽतीन्द्रियपदार्थोऽतोऽस्य शुद्धस्वरूपापेक्षयाऽमूर्त्तत्वमप्यस्ति ।

पुद्गलद्रव्यस्य रूपित्वात्तस्मिन् श्वेत-नील-पीत-अरुण-कृष्णपञ्चवर्णा:, तिक्त-कटु-कषाय-अम्ल-मधुरा पञ्चरसा:, सुगन्धो दुर्गन्धश्चेति द्वौ गन्धौ, शीतोष्ण-स्निग्धरूक्ष-मृदुकर्कश-गुरु-लघवोऽष्टौ स्पर्शाश्च सदैव वर्तन्ते । आत्मनोऽपि पुद्गलेन सयोगात् एषा वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शादीना युक्तत्व जायते, तथा चामूर्त्तातीन्द्रियात्मज्ञानरहितेन, मूर्त्तपञ्चेन्द्रियविषयेषूपरिलिखितेषु आसक्तेन जीवेन मूर्त्तकर्मोपार्जितत्वात्तदुदयात् व्यवहारापेक्षया मूर्त्तत्वम् ।[१५]

किञ्च, शुद्धनिश्चयनयापेक्षया त्वय जीवोऽमूर्त्तस्वभावो, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दसंस्थानादिकपुद्गलभावविरहित:, चैतन्यात्मकत्वाच्च धर्माधर्माकाश-

कालादिचतुर्भ्योऽमूर्त्तद्रव्येभ्योऽपि भिन्न. सन् शुद्धबुद्धैकस्वभावधारणादमूर्त्तोऽपि भवतीति ।

आत्मनोऽलिङ्गग्रहणत्वम्

आत्मनो लिङ्गमिन्द्रियम्, एतैरिन्द्रियैर्नायमात्मा पदार्थान् अवगच्छति परमार्थतोऽतीन्द्रियस्वभावात् । अथ चान्येऽपि जीवा नैनमात्मानमिन्द्रियैर्गृ-हीतुं शक्नुवन्ति, अस्यातीन्द्रियत्वात्स्वसवेदनज्ञानगम्यत्वाच्च । यथा खलु धूमलिङ्गं दृष्ट्वाग्नेर्ज्ञानं भवति, न तथायमात्मा कञ्चनमपि पदार्थं तल्लिङ्गं दृष्ट्वा विजानात्यपि त्वतीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानेनैव तांस्तान् पदार्थान्नवगच्छति । एवमेवान्येऽपि जीवा नास्यात्मनो किञ्चन विशिष्टमिन्द्रियगम्य लिङ्गं दृष्ट्वानुमातु शक्नुवन्ति । अत एवास्येन्द्रियैरग्राह्यत्वाद्वचनैरवाच्यत्वात्, तथा चातीन्द्रियस्वभावादलिङ्गग्रहणत्व[१६] सिद्ध्यति ।

आत्मनो बन्धत्वम्

यद्यप्यमात्मा वस्तुनोऽमूर्तोऽतीन्द्रियश्चास्ति, परमनादिकालादेव ज्ञानदर्शन-स्वभावात् मूर्तामूर्तद्रव्याना द्रष्टा, ज्ञाता च भवत्यत एतेन ज्ञान-दर्शनेनैवास्य द्रव्यैर्बन्धो भवति । यद्ययं ज्ञाता द्रष्टा वा न स्यात्तदा बन्धमपि नाधिगच्छेत, यतश्चायं पश्यति जानाति चातएवास्य[१७] बन्ध ।

आत्मनो भावबन्धः

यथैको कश्चन बाल मृत्तिकावलय स्वीयत्वेन पश्यति जानाति च, पर तद्वलय तु वस्तुतस्तद्भिन्नमेव, न तेन तस्य कश्चनापि सम्बन्धस्तदपि तद्वलय यदि कश्चित् भिनत्ति, छिनत्यपहरति वा, तदा स बालोऽतिखिद्यते । अत्र यद्यपि वलय बालश्च सर्वथा पृथक्पृथक् विद्येते, तथापि तद्वलयापहृते नष्टे भ्रष्टे वा सति स बाल कथ खिद्यते ? यतश्च स तद्वलय स्वीयत्वेन पश्यति, जानाति चार्थात्तस्य बालस्य ज्ञान वलयनिमित्तात्तदाकारपरिणतं तिष्ठति, अतएव पररूपवलयेन तस्य सम्बन्धव्यवहारः । तथैवात्मनोऽपि पुद्गलेन सम्बन्धाभावेऽपि, अनादिकालादेव क्षेत्रावगाहित्वात्तन्निमित्तजराग-द्वेष-मोहरूपोऽशुद्धोपयोगो भवति. एतेनाशुद्धोपयोगेनैवात्मनो भावबन्धो[१८] जायते ।

यदा चायमात्माशुद्धोपयोगाद्राग-द्वेष-मोहभावै. ज्ञेयपदार्थान् पश्यति जानाति वा तदास्य चिद्विकाररूपाः राग-द्वेष-मोहपरिणामाः जायन्ते, एते परिणामा एव भावबन्धरूपाः। भावबन्धस्य च प्रारम्भे सति तदनुसारमेव द्रव्यकर्मणां बन्धो जायते।

परोपाधिनोत्पन्नैश्चिद्विकाररूपरागद्वेषमोहपरिणामैरात्मा बध्यते। परिणाम-निमित्तादेकस्मिन्नेव क्षेत्रे जीवकर्मणो. परस्पर बन्धो भवति, तदा यथायोग्य-स्निग्धरूक्षस्पर्शगुणै. पुद्गलकर्मवर्गणानां परस्परमेकपिण्डरूपो यो बन्धो[१९] जायते स एव द्रव्यबन्ध इत्युच्यते।

आत्मन. कर्तृत्वम्

व्यवहारनयापेक्षयायमात्मा परपर्यायेषु निमज्जन् पुद्गलकर्मणा, अशुद्धनिश्चय-नयापेक्षया च रागद्वेषादिचेतनभावकर्मणा, शुद्धद्रव्यार्थिकनिश्चयनयापेक्षया तु शुद्धज्ञानदर्शनादिस्वात्मभावानामेव कर्ता भवति। यद्यपीमे ज्ञान-दर्शना-दिभावा आत्मनोऽभिन्नाः, तथापि पर्यायार्थिकनयापेक्षया भेदात्म-कत्वादि्भन्नाश्चापि भवन्ति। अत आत्मा स्वज्ञानदर्शनादीनामपि कथ-चित्कर्ता[२०] तिष्ठति।

आत्मनश्चेतनकर्मकर्तृत्वम्

रागादिविकल्परूपोपाधिरहितेन निष्क्रियेण परमचैतन्यभावविरहितेन च जीवेन यद्रागादिकोत्पादककर्मणामुपार्जनं कृतं तेषामुदये सति निर्मलमात्म-ज्ञानमनधिगच्छन् भावकर्मवाच्यानां रागादिविकल्परूपचेतनकर्मणामशुद्ध निश्चयनयेन कर्त्ता भवति। अशुद्धनिश्चयस्तावत्—कर्मोपाधिजन्यत्वादशुद्ध., तथा चाग्नौ तप्तायोगोलवत्तन्मयत्वात्तद्रूपत्वाद् निश्चय., द्वयोर्मिश्रिते सति शुद्धनिश्चय[२१]रित्युच्यते। शुद्धनिश्चयनयापेक्षया तु चेतनकर्मणामेव कर्त्ता भवति।

आत्मनः शुद्धाशुद्धभावकर्तृत्वम्

छद्मावस्थायां यदा च जीव. शुभाशुभकायवाङ्मनोयोगव्यापाररहितेन शुद्धैकस्वभावेन परिणमति, तदानंतज्ञानसुखादिशुद्धभावानां भावनारूपेण विवक्षिते नैकदेशशुद्धनिश्चयनयेन कर्त्ता भवति। मुक्तावस्थायां तु शुद्ध-निश्चयनयेनानंतज्ञानादिशुद्धभावानामेव कर्त्ता भवति।

अत्र शुद्धाशुद्धभावानां यत्परिणमनं, तस्यैव जीवे कर्तृत्वं ज्ञेयम्, न तु हस्तादिव्यापाररूपपरिणमनस्य, यतो हि-नित्यो निरञ्जनो निष्क्रियश्च य आत्मस्वरूपस्तद्भावनारहितो यो जीवस्तस्मिन्नेव कर्मादीनां कर्तृत्वम्। अर्थादात्मा व्यवहारेण पुद्गलकर्मणा निश्चयेन चेतनकर्मणां, शुद्धनयेन च शुद्धभावानामेव[२२] कर्त्तास्ति ।

आत्मनः कथञ्चिदकर्तृत्वम्

परिणाम-परिणामिनो परस्परमभेदात् परिणामी एव स्वपरिणामानां[२३] कर्त्ता भवति । अतः जीवस्य यः परिणामः स जीव एव, जीवपरिणामस्य जीव-क्रियात्मकत्वात् । यतो हि, यस्य द्रव्यस्य या परिणामरूपा क्रिया भवति, तया तद्द्रव्यं तन्मयं भवत्यत एव जीवस्यापि तन्मयत्वात्तत्क्रिया परिणामो वा जीवमय इत्युच्यते । या च क्रिया जीवेन स्वातन्त्र्येण विहिता सैव कर्मेति । अतश्च यदात्मनो रागादिविभावपरिणामरूपात्मक्रियया तन्मयत्वं तदे-वास्य भावकर्म, अस्मात्कारणादेवात्मा[२४] भावकर्मणामेव कर्त्ता सिध्यति न तु द्रव्यकर्मणाम् ।

तथा च पुद्गलस्य यः परिणामः स पुद्गल एव, परिणाम-परिणामिनो-रेकत्वात्परिणामिनः परिणामकर्तृत्वाच्च । सर्वद्रव्याणां परिणामरूपक्रियया तन्मयत्वात्पुद्गलपरिणामोऽपि पुद्गलक्रिया । या च क्रिया, सैव कर्म, अतः पुद्गलस्यापि स्वातन्त्र्येण कर्तृत्वात् पुद्गलद्रव्यकर्मरूपपरिणामानामेव कर्तृत्वम्, न तु जीवभावकर्मरूपपरिणामानाम् । इत्थं पुद्गलस्यैव पुद्गलरूप-द्रव्यकर्मणा कर्तृत्वान्नात्मनि द्रव्यकर्मणा[२५] कर्तृत्वं व्यवतिष्ठते ।

आत्मनः पुद्गलस्कन्धाकर्तृत्वम्

किञ्च, द्विप्रदेशादिकाः पुद्गलपरमाणुस्कन्धाः स्वत एव स्निग्ध-रूक्षगुणपरिणम-नशक्त्योत्पद्यन्ते । सूक्ष्मजातीया स्थूलजातीयाश्च पृथिवी-जल-अग्नि-वायु-काया अपि स्निग्ध-रूक्षभावाना परिणमनादेव पुद्गलस्कधपर्यायरूपेणोत्पद्यन्ते। नात्रात्मनो काचनावश्यकता[२६] तिष्ठति ।

आत्मनः कर्मवर्गणानामप्यकर्तृत्वमप्रेरकत्वञ्च

जीवः खल्वनादिबधसंयोगादशुद्धभावेन परिणमति । तस्याशुद्धपरिणामस्य बहिरङ्गबधरूपं निमित्तकारणं सम्प्राप्य कर्मवर्गणाः स्वीयान्तरङ्गशक्त्याष्ट-

कर्मरूपाः परिणमन्ति । अतस्तासां स्वत एव परिणमनशीलत्वात् नायमात्मा तत्परिणामकर्ता[27] भवति ।

लोकस्यास्य सर्वत्रैवानंतानंतकार्माणवर्गणाभिर्निचितत्वादस्यैकैकस्मिन्नपि प्रदेशे जीवानां स्थितिर्विद्यते, तथा च तत्र सर्वत्रैव कर्मबन्धयोग्याः पुद्गलवर्गणाश्चापि विद्यन्ते । अतश्च जीवो यत्र यादृशः परिणमति तत्रैव तादृशाः कर्मवर्गणास्तत्परिणामाद्बध्यन्ते । न तु तत्रात्मा कार्माणवर्गणाः संचोद्य बध्नाति, यतश्च यत्रैव जीवस्तत्रैवानंतवर्गणाः, अतस्तत्रैव परस्परं स्वत एव बन्धो जायते । अस्माद्धेतोर्नायमात्मा पुद्गलपिण्डरूपकार्माणवर्गणानां कर्त्ता, नापि तत्प्रेरको[28] भवतीति ।

आत्मनः कथञ्चित्भोक्तृत्वम्

आत्मा व्यवहारापेक्षया सुखदु.खरूपपुद्गलकर्मफलानां भोक्तास्ति । निश्चयेन तु चेतनभावस्यैव[29] भोक्ता । स्वशुद्धात्मज्ञानाद्यो यः पारमार्थिकसुखामृतरसस्तमभुञ्जानो य आत्मा स उपचरितासद्भूतव्यवहारनयापेक्षयेष्टानिष्टपञ्चेन्द्रियविषयोत्पन्नं सुख दु.ख च भुङ्क्ते । एवमेवानुपचरितासद्भूतेव्यवहारनयापेक्षयान्त.सुखदु खोत्पादक द्रव्यकर्मरूप सातासातोदयं भुङ्क्ते । स एवात्माशुद्धनिश्चयेन हर्षविषादरूपं सुखदुःखं भुङ्क्ते । शुद्धनिश्चयेन तु परमात्मस्वभावस्य यत् सम्यक्श्रद्धानं, ज्ञानमाचरणञ्च तदुत्पन्नमविनाश्यानन्दरूपैकलक्षण सुखामृतं भुङ्क्ते ।

आत्मन. स्वदेहप्रमाणत्वम्

देहे ममत्वमूलककारणेष्वाहार-भय-मैथुन-परिग्रहादिसमस्तरागादिविभावेष्वासक्तितया, निश्चयनयेन स्वदेहाद्भिन्नस्य केवलज्ञानाद्यनन्तगुणराशितोऽभिन्नस्यात्मशुद्धस्वरूपस्याप्राप्तितया च जीवेन यन्नामकर्मोपार्जितं, तदुदयाद्यत्सूक्ष्म-गुरुदेहप्राप्तिस्तत्प्रमाणः, आत्मप्रदेशोपसंहार-प्रसर्पणस्वभावाद्देहप्रमाणो भवतीति ।

यथा खलु प्रदीपो बह्वायामिते प्रकोष्ठे प्रतिष्ठापितः सन् तत्प्रकोष्ठस्थितान् सर्वान्नपि पदार्थान् यथा प्रकाशयति, तथैवात्यन्तेऽल्पायामितेऽपि प्रकोष्ठे पात्रे वा प्रतिष्ठापिते सति तदल्पपात्र-प्रकोष्ठस्थितान् पदार्थान् प्रकाशयति । तद्वदेवात्मापि गुरुशरीरस्थितः सन् प्रसर्पणस्वभावात्तद्देहप्रमाणः, सूक्ष्मशरीरस्थितश्चोपसहारस्वभावात् सूक्ष्मशरीरप्रमाणो भवति । किन्तु वेदना-कषाय-

विक्रियाऽऽहारक-मारणान्तिक-तैजस-केवलीतिसमुद्घाताद्यवस्थासु नात्मा देहप्रमाणस्तिष्ठति ।

समुद्घाताः (Over-Flows)

समुद्घातस्तावत् 'स्वीय मूलशरीरमपरित्यज्यैवात्मप्रदेशाना देहाद्बहिर्नि· सृत्योत्तरदेह प्रति गमनम्'[१०] इत्युच्यते । तेषु सप्तविधेषूपरिलिखितेषु समुद्घातेषु नात्मा देहस्थित एव भवत्यपितु तत्तत्समुद्घातवशादात्मनो देहाद्बहि· निस्सरति । तथाहि—

१. तीव्रवेदनानुभवान्मूलशरीरमपरित्यज्यैवात्मप्रदेशाना शरीराद्बहिर्गमनं वेदना (Anguesh) समुद्घात ।

२. तीव्रक्रोधादिकषायवशात् मूलशरीरमपरित्यज्य परघातार्थमात्मप्रदेशाना शरीराद्बहिर्गमन कषाय (Passion) समुद्घात. ।

३. कामादिजन्यविक्रियार्थमात्मप्रदेशानां मूलशरीरमपरित्यज्य देहाद्बहिर्गमन विक्रिया (Fluid) समुद्घात. ।

४ मरणान्तकाले च यत्र कुत्रचिद्बद्धमायु प्रदेश स्पृष्टुं मूलशरीरमपरित्यज्यात्मप्रदेशाना शरीराद्बहिर्गमन मारणान्तिक (Death-Bed) समुद्घात ।

५. तैजस (Electric) समुद्घात शुभाशुभभेदाभ्या द्विविध , तथाहि—

(क) स्वस्यानिष्टोत्पादक किञ्चित्कारणान्तरमवलोक्य समुपजातक्रोधस्य सयमधनस्य महामुनेः वामस्कन्धान्निर्गतः, सिन्दूरपुञ्जप्रभ , द्वादशयोजन-दीर्घ·, सूच्यङ्गुलसङ्ख्येयभागमूलविस्तार., नवयोजनाग्रविस्तार , बिडालाकृतिधारक पुरुष , मूलशरीरमपरित्यज्यैव वामप्रदक्षिणा विधायान्त. (मनसि) स्थितं विरुद्ध पदार्थ भस्मीकृत्य तेनैव मुनिना सह स्वयमपि भस्मत्व गच्छति, सोऽशुभस्तैजस्समुद्घात ।

(ख) तथा च लोक व्याधिदुर्भिक्षादिपीडित समवलोक्योत्पन्नानुकम्पस्य परम-सयमिनो महर्षे मूलशरीरमपरित्यज्यैवोक्तदेहप्रमाण , सौम्याकृति. पुरुषो, दक्षिणस्कन्धाद्विनि सृत्य दक्षिणेन प्रदक्षिणीकृत्य रोगदुर्भिक्षादीन् विनाश्य पुनः स्वस्थाने प्रविशति स शुभतैजसस्मुद्घात इत्युच्यते ।

६ पदे, पदार्थे वा सञ्जातसशयस्य परमर्द्धिधारकस्य महर्षे: मूलशरीरमपरित्यज्यैव मस्तकमध्यान्निर्गत्य, निर्मलस्फटिकाकृतिरेकहस्तप्रमाणः

यत्रकुत्रचिदप्येकमुहूर्त्तमध्ये केवलज्ञानिनं विलोक्य, मुनेः पदपदार्थनिश्चय समुत्पाद्य पुनः स्वस्थाने प्रविशति स आहारसमुद्‌घातः ।

७. केवलिनां दण्डकपाटप्रतरपूरणो योऽयं स केवलि (Oniscient) समुद्‌घात-रित्युच्यते

आत्मनो लोकव्यापकत्वम्

आत्मनः पूर्वोक्ता गुरुलघुदेहप्रमाणता अनुपचरितासद्‌भूतव्यवहारनायाठेक्ष-यैवास्ति, निश्चयनयेन तु लोकाकाशप्रमाणासंख्येयप्रदेशप्रमाणोऽयमात्मा[11] । अर्थात्स्वसंवित्तिसमुत्पन्नकेवलज्ञानावस्थायां ज्ञानापेक्षया व्यवहारेणात्मा लोकव्यापकः स्वीकृतः । एवमेव पञ्चेन्द्रियाणां मनसश्च विकल्परहिते समाधिकाले आत्मज्ञानरूपे ज्ञाने विद्यमाने सत्यपि बाह्यविशेषरूपेन्द्रियज्ञाना-भावाज्जड़ोऽप्यात्मा स्वीकृतः । तदात्मनो रागद्वेषादिविभावपरिणामशून्यत्वा-त्तस्मिन् शून्यत्वमप्यस्ति । यच्चात्मनोऽणुमात्रशरीरत्वम्, तदत्रोत्सेधघनाङ्-गुलस्यासंख्येयभागमात्रं लब्ध्यपूर्णसूक्ष्मनिगोदशरीरमेव गृह्यते, न तु पुद्‌गल-परमाणुः ।

तथा चात्र गुरुपदेनैकसहस्रयोजनपरिमाणस्य महामत्स्यशरीरस्य, मध्यमेन च मध्यमशरीराणामेव ग्रहणं क्रियते । इत्थमय जीवो व्यवहारेण समुद्‌घातं विना संकोचविस्ताराभ्यां गुरुलघुदेहप्रमाणः, निश्चयेन च लोकप्रमाणासंख्यात-प्रदेशधारको विद्यते ।

देहाद्देहान्तरत्वम्

आत्मा संसारावस्थायां क्रमवर्तिष्वनेकपयायेषु सर्वत्रै वास्ति । यतश्चैकस्मिन् शरीरेऽयं प्रवर्त्ततेऽतएव समस्तपर्यायपरम्पराध्वयमेव तिष्ठति, न कश्चन नूतनो जीवः समुत्पद्यते । यद्यपि व्यवहारनयापेक्षया एकस्मिन्नेव शरीरे नीर-क्षीरमिवैकस्वरूपेण स्थितस्तथापि निश्चयनयापेक्षया न देहे मिश्रित एकत्वं भजते, स्वस्वरूपादभिन्न एव तिष्ठति । किन्तु स एव जीवः यदा शुद्धरागद्वेषपरिणामसंयुक्तो भवति, तदा ज्ञानावरणादिकर्ममलीमसो भूत्वा संसारे परिभ्रमति[12] ।

यद्यप्ययमात्मा शरीरादिपरद्रव्यैर्भिन्नः, तथापि संसारावस्थायामनादिकर्म-सम्बन्धात् नानाविधविभावभावधारणाच्च नूतनैः कर्मभिर्बध्यते, तैश्च कर्मभिः पुनर्देहान्तरमधिगच्छति ।

स्वप्रदेशप्रमाणत्वम्

प्रतिसमयं षड्गुणहानिवृद्धिर्भवति, तयानन्ता ह्यगुरुलघुगुणाः। आत्मनोऽगुरु-लघुस्वभावाविभाविनस्ते गुणाः आत्मस्थितेरतिसूक्ष्माः हेतवः सन्ति। यावन्तो जीवाः सन्ति तावन्तः सर्वेऽपि ते जीवाः तैर्गुणैः परिणताः, न कश्चनापि जीवरेतादृशो विद्यते यस्येमे गुणा न सन्ति। ते सर्वेऽपि जीवाः स्वप्रदेशैर्लोक-प्रमाणासंख्येयप्रदेशिनः सन्ति, तेषु केचित्कथञ्चित् प्रकारेण दण्डकपाटाद्य-वस्थासु घनाकाररूपसमस्तलोकप्रमाणत्वमापन्नास्तत्र च सर्वजातिकर्मणा-मुदयात् प्रदेशविस्तारो लोकप्रमाणो भवति। अनेनैव हेतुना समुद्घातापेक्षया केचन जीवा लोकप्रमाणाः स्वीकृताः, केचन च समुद्घाताभावादसर्वलोक-प्रमाणा एव सन्ति।

आत्मनो नित्यानित्यत्वम्

पूर्वलिखितलक्षणोपयुक्ताः जीवा सहजशुद्धचैतन्यपारिणामिकभावैरनाद्यनन्ताः भवन्ति। तथा च स्वभावादेव त्रिष्वपि कालेषु टङ्कोत्कीर्णविनाशिनश्च सन्त-रौदयिकैः क्षायोपशमिकैश्च भावैः सादयः सान्ताश्चापि भवन्ति। यतश्च जीवस्य कर्मजनितस्वभावात् तस्य कर्मजनिता औदयिकादयो भावास्तु भवन्त्येव। तथा च कर्मणो बन्धनात्मकत्वात् निर्जरणात्मकत्वात् च सादित्वं सान्तत्वमस्ति। अतस्तत्कर्मजनितभावापेक्षया जीवोऽपि साद्यन्तो भवति।

अथ च त एव जीवा पुनः क्षायिकभावापेक्षया साद्यनन्ताः अपि भवन्ति। यतो हि कर्मणा क्षयादेव क्षायिका भावा उत्पद्यन्ते, तस्मात्तेषां सादित्वम-नन्तरञ्चानन्तकालस्थितित्वादनन्तत्वमपि विद्यते। तथा च सत्तास्वरूपेणापि जीवराशिरनन्ता तिष्ठति। तथाहि—जीवाः भव्याभव्यभेदेन द्विविधास्तत्रा-भव्या जीवा अनन्ताः, भव्याश्च तेभ्योऽप्यनन्तगुणाधिकत्वादनन्ता भवन्तीति। अनादिकर्मसम्बन्धादयमात्माशुद्धभावेन परिणमत्यतः साद्यन्तः, साद्यनन्तश्चापि भवति। यथा खलु पङ्कमिश्रितं जलमशुद्धं भवति, तथा च तत्पङ्कमिश्रणात्त-दभावाच्च शुद्धाशुद्धमित्युच्यते, तथैवात्मनोऽपि कर्मसम्बन्धात्तदभावाच्च साद्यन्तत्वं" साद्यनन्तत्वञ्च जायते।

एवञ्च पूर्वोक्तैर्भावैः परिणतानां जीवानामुत्पादव्ययापेक्षया सम्प्राप्तमनुष्या-दिपर्यायस्य विनाशात्मकत्वात्, असम्प्राप्तदेवादिपर्यायस्योत्पादात्मकत्वाच्च विनाशोत्पादात्मकत्वं जायते, येन चोत्पाद-व्ययात्मकत्वात् जीवानामनित्यत्वं, किन्तूत्पादव्ययानां जातेऽपि जीवत्वरूपेण सर्वदैव विद्यमानत्वादनित्यत्वं तथैव

सिध्यति, यथा खलु जलस्य कल्लोलाद्यपेक्षयोत्पादव्ययात्मकत्वादनित्यत्वं, परन्तु जलरूपद्रव्यात्मकत्वान्नित्यत्वं सिध्यति ।

एवमेवैतेऽपि जीवा द्रव्यदृष्ट्या नित्याः, विभिन्नगुणपर्यायदृष्ट्या त्वनित्या एव भवन्ति । एतदेव जीवस्यात्मनो वा नित्यानित्यत्वमिति" ।

आत्मनः संसारित्वं, सिद्धत्वञ्च

द्रव्ये खलु भाववत्यः क्रियावत्यश्च द्विविधाः शक्तयस्तिष्ठन्ति । जीवपुद्गलयोस्तावद्द्विविधाः अपि क्रियाः भवन्ति, तथा चावशिष्टेषु चतुर्षु केवलं भाववत्य एव शक्तयः । आभिरेव क्रियाभिर्द्रव्येषु परिणमन जायते । तत्र भाववत्या शक्त्या शुद्धः परिणामः, क्रियावत्या च शक्त्याशुद्ध. परिणामो भवत्यतः भाववतिशक्तिनिमित्तोत्पन्नपरिणामः शुद्धपर्यायवाच्यो भवति, तथा च क्रियावतिशक्तिनिमित्तोत्पन्नपरिणामस्तु अशुद्धपर्यायवाच्यो भवति । अतएव जीवपुद्गलयोः शुद्धाशुद्धो परिणामः जायते । किञ्च—शेषेषु चतुर्षु द्रव्येषु केवलं भाववतिशक्तेर्विद्यमानत्वात्तत्कृतः परिणामोऽपि केवलं शुद्धपर्यायवाच्यो भवति ।

अत्र यः जीवे द्विविधो परिणामः जायते तत्र जीवद्रव्ये यत्स्वप्रदेशमात्रपरिणमनं तत्तस्य शुद्धपर्यायस्तथा च कर्मसंयोगादवस्थातोऽवस्थान्तररूपं यत्परिणमनं तत्तस्याशुद्धपर्यायो भवति । अस्मात्कारणादेवास्य जीवस्य संसारि"-मुक्तरूपं द्वैविध्यमुपजायते । अत्र कर्मसहिताः जीवाः 'संसारिण' तथा च कर्मरहिताः जीवाः 'मुक्ताः' इत्युच्यन्ते ।

संसारित्वमात्मनः (Mundaneness)

अत्रानन्तजीवसमुदायेऽनन्तानन्ताः जीवा अनादिकालात् मिथ्यात्वकषायसंयोगात्संसारिणः सन्ति । अत्र देहधारिणा नरक-तिर्यग्मनुष्यादिगतिषु यच्छरीरावाप्तिस्तदाकाररूपं यदात्मप्रदेशपरिणमनञ्चाशुद्धात्मपर्यायेणाशुद्धात्मद्रव्येण वोच्यते । एतस्यैवाशुद्धो जीवः, ससारी वेतिनामान्तरम् । यतश्चात्मा कर्मसंयोगनिमित्तादेव देशान्तरमवस्थान्तर शरीरान्तरञ्चाधिगच्छति" ।

अथ चातीन्द्रियोऽमूर्तिकश्च यो स्वयमात्मनो स्वभावस्तदनुभवादुत्पन्नो यो सुखामृतरसस्तद्भावमनापन्ना अल्पजीवा इन्द्रियसुखमभिलषन्तो ज्ञानाच्चेन्द्रियसुखेष्वासक्ता एकेन्द्रियादिजीवान् घातयन्ति, तद्घातादुपार्जितं यत्त्रसस्थावर-नामकर्म तदुदयात् संसारिणो द्विविधाः । तथाहि—पृथिव्यप्तेजोवा-

वनस्पति-जीवत्व-युक्तमेकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्केवलं स्पर्शनेन्द्रियसहितं स्थावरत्वमथ च द्वि-त्रि-चतुःपञ्चेन्द्रियधारकत्रसनामकर्मोदयात्त्रसत्वमपि[७] प्राप्नुवन्ति। एतदेवैतेषां संसारिणां द्वैविध्यम्।

सिद्धत्वमात्मनः (Liberation)

सिद्धाः, मुक्तजीवाः, विमलात्मानो[८] वा ते एव जीवाः ये खलु ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मरहिताः, सम्यक्त्वाद्यष्टगुणधारकास्तथा चान्तिमशरीरात्किञ्चिन्न्यूनाः, शाश्वताः, न पुनर्जगति परावर्तनशीलाः, आत्मगुणानां पिण्डीभूताः, जन्ममरणादिविरहिताः, अमूर्तिकाश्चातएवाभेद्याः, अछेद्याश्चेतनद्रव्यस्य शुद्धपर्यायरूपास्तिष्ठन्ति।

तथा चेमे सिद्धा ऊर्ध्वगमनस्वभावाल्लोकाग्रभागे स्थिताः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तास्तिष्ठन्ति। यतो हि जीवो खलु यत्र कर्मविप्रमुक्तो भवति, तदा स तत्रैव न तिष्ठत्यपितु, पूर्वप्रयोगादसङ्गाद्बन्धोच्छेदात्तथा च गतिपरिणामादितिहेतुचतुष्टयेनाविद्धकुलालचक्रवत्, व्यपगतलेपालम्बुवत्, एरण्डबीजवत्, अग्निशिखावच्चेति दृष्टान्तचतुष्टयवदूर्ध्वगमनस्वभावादूर्ध्वं गच्छति, तदूर्ध्वगमनञ्च लोकाग्रे गतिसहायकद्रव्यस्य धर्मास्तिकायस्याभावाल्लोकाग्रपर्यन्तमेव भवति न तत ऊर्ध्वं कथमपि गन्तुं शक्नोति। तथा चैतेषु संसारकारणभूतानां द्रव्यप्राणानामभावो भवत्येव तथापि तत्र भावप्राणानां सत्त्वात्कथञ्चित् प्राणसत्ता विद्यत एवेति। अतएवेमे शरीररहिताः, अमूर्तिकाः, अवाग्गोचराः इत्यादिशब्दैरभिधीयन्ते।

आत्मनस्त्रैविध्यम्

यद्यपि द्रव्यार्थिकनयापेक्षयात्मा खल्वेकस्तदपि परिणामात्मकत्वात् पर्यायार्थिकनयापेक्षया स त्रिविधो[९] भवति। तथाहि—
१. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा, ३. परमात्मा चेति।

अत्र यावत् संसारिणो जीवस्य शरीरादिपरद्रव्येष्वात्मबुद्धिस्तिष्ठति, मिथ्यात्वदशावस्थितो वा भवति, तावदेवात्मा 'बहिरात्मा'[१०] इत्युच्यते। यदा च शरीरादिष्वात्मबुद्धेः, मिथ्यात्वस्य चापगते सति सम्यग्दृष्टिरात्मा 'अन्तरात्मा'[११] इत्युच्यते। अत्रायमन्तरात्मापि उत्तम-मध्यम-जघन्यभेदैः त्रिविधस्तथाहि-समस्तपरिग्रहत्यागी, निस्पृहो, शुद्धोपयोगी, आत्मध्यानी च मुनीश्वर उत्तमोऽन्तरात्मा। देशव्रतानां धारकाः गृहस्थाः, षष्ठस्थानवर्तिनो निर्ग्रन्थाः

साधवश्च मध्यमान्तरात्मानो भवन्ति । तथा च चतुर्थगुणस्थानवर्तिनो व्रत-रहिताः सम्यग्दृष्टिजीवाः जघन्यान्तरात्मेत्युच्यन्ते । अन्तर्दृष्ट्यात्मकत्वादेते त्रिविधाप्यन्तरात्मानः मोक्षमार्गसाधकाः भवन्ति ।

परमात्मानश्च द्विविधाः—सकलपरमात्मा, विकलपरमात्मा चेति । अत्र घातिकर्मणां विनाशकाः, सर्वपदार्थवेत्तारोऽर्हन्तः सकलपरमात्मानस्तथा च घात्यघातिसर्वविधकर्मरहिताः, अशरीरिणः सिद्धपरमेष्ठिन एव विकल-परमात्मान[४२] इत्युच्यन्ते ।

सन्दर्भोल्लेखा :

१. वृद्रसं-५७ ॥	२. पञ्चा-३० ।	३. वृद्रस-३ ॥
४. वृद्रस (वृत्ति)-३ ॥	५. तरावा-१।४।७ ॥	६. तरावा-२।८।१ ॥
७. तरावा-२।६।१ ॥	८. वृद्रस-६ ॥	९. अकमा-३।४ ॥
१०. अकमा-३।७।८ ॥	११. तसू-१।६ ॥	१२. तसू-१।३ ॥
१३. तसू-१।५ ॥	१४. अकमा-३।६ ॥	१५. द्रस-७ ॥
१६. प्रसा-२।८० ॥	१७. प्रसा-२।८२ ॥	१८. प्रसा-२।८३ ॥
१९. प्रसा-२।८४ ॥	२०. अकमा-३।१३ ॥	२१. वृद्रसं-८ ॥
२२. वृद्रस-८ ॥	२३. प्रसा-२।३० ॥	२४. ससा-१०२ ॥
२५. ससा-१०३ ॥	२६. प्रसा-२।७५ ॥	२७. प्रसा-२।७७ ॥
२८. प्रसा-२।७६ ॥	२९ वृद्रस-१० ॥	३०. गोसाजी-६६८ ॥
३१. प्रसा-२।४४ ॥	३२. पञ्चा-३४ ॥	३३. पञ्चा-५३ ॥
३४. पञ्चा-५४ ॥	३५ अकमा-३।९ ॥	३६. अकमा-३।११ ॥
३७. वृद्रसं-१२ ॥	३८ अकमा-३।१० ॥	३९. मोप्रा-४ ॥
४०. अकमा-३।१२ ॥	४१. अकमा-३।१२ ॥	४२. सत-५ ॥

आत्मनो बहुत्वम्

चतुर्थोऽध्यायः

आत्मनां संसारिमुक्तत्वम्

जगति जन्ममरणाद्यवस्थासु संसरन् तत्रानुरक्तो जीवः विविधानि कर्माणि कुर्वन् नानाप्रकारकं बन्धमनुभवति। एतस्मादनुभवात् भवाद्भवान्तरेषु विचरन् कर्मबन्धात्मकत्वाद्यः परवशस्तिष्ठति स एव संसारीत्युच्यते। अत्राष्टविधकर्मकर्तृत्वात्तदुपचयाच्चात्मनो भवान्तरप्राप्तिः संसारः। स च द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भवभेदैः पञ्चविधः। स यस्यास्ति सः संसारीत्युच्यते[1]।

बन्धश्चात्र द्रव्य-भावभेदाद्द्विविधस्तत्र कर्मनोकर्मपरिणतः पुद्गलद्रव्यविषयको बन्धः द्रव्यबन्धः। क्रोधादिपरिणामवशीकृतश्च भावबन्धः। एवमुभयविधोऽपि बन्धो यैर्निरस्तस्ते जीवा एव 'मुक्ता' इत्युच्यन्ते।

आत्मनः खलु ज्ञानदर्शनस्वभावात्तस्मिन् ससारावस्थायामुपयोगस्य प्रामुख्येन स्थितिः, यदा हि मुक्तात्मसु तस्य गौणत्वम्। यथा छद्मस्थेषु एकाग्रचित्तनिरोधरूपं ध्यानं प्रमुखं, केवलिनि तु तत्कर्मध्वंसफलेनैवोपचारात् गौणत्वं भजते, तथैव संसारिष्वपि पर्यायात्पर्यायान्तरात्मकत्वादुपयोगस्य प्रामुख्यं भवति। मुक्तेषु च जीवेषूपलब्धिसामान्यत्वात्तद्गौणत्वमुपगच्छति।

संसारिणां द्वैविध्यम्

गत्यादिपरिणामानुभूतात्मकाः, स्वसवेद्याः, शुभाशुभकर्मफलानुभवनसंबंधवशीकृतस्वभावाः, ससरणादप्रच्युताः, पूर्वोपार्जितकर्मनिमित्ताज्जनितकरणविशेषाः संसारिणस्तावत् समनस्कामनस्कभेदेन द्विविधाः भवन्ति।

अत्र मनसोऽपि द्रव्य-भावभेदेन द्वैविध्यम्। तत्र पुद्गलविपाकिनो नामकर्मण उदयापेक्षं द्रव्यमनः। वीर्यान्तरायस्य नोइन्द्रियाणाञ्च क्षयोमशमादुत्पद्यमानात्मविशुद्धिरूपं भावमनः[2]। अत एतेन द्विविधेनापि मनसा सहिताः जीवाः समनस्काः (Rational), तद्विरहिताश्चामनस्काः (Irrational) इत्युच्यन्ते। अत्र समनस्काः संज्ञित्वेनामनस्काश्चासंज्ञित्वेनाप्युच्यन्ते[3]। तेषां मनः सद्भावे संज्ञित्वमभावे चासंज्ञित्वमिति[4]।

ये चात्र समनस्कास्तेषां सर्वाण्यपीन्द्रियरूपाणि करणानि भवन्ति। अत एते शिक्षा-क्रिया-कलापादिग्रहीतु क्षमाश्चापि विद्यन्ते। समनस्कास्तावत् देव-नारक-गर्भज-मनुष्य-तिर्यञ्चा एव भवन्ति, एभ्योतिरक्तास्तु.अन्ये संसारिणोऽ-मनस्का: समनस्कविपरीतलक्षणा: भवन्ति।

संसारिणामन्ये भेदा: (Kinds of Mundane Soul)

यद्यपि ससारिणा विविधकर्मोपार्जनात्तेषा विविधात्मकत्वादनेके भेदा: सम्भ-वन्ति, पर मूलत: द्वावेव भेदौ वर्तेते। तथाहि—त्रसा:, स्थावराश्च। तत्र 'त्रस्यन्ति-उद्वेजयन्तीति त्रसा' इतिव्युत्पत्या, गर्भादिष्वत्रसत्वप्रसङ्गात्, गर्भाण्डजादीना बाह्यनिमित्तेषु सत्स्वपि चलनाभावात्, 'गच्छतीति गौ' रिति व्युत्पत्तिवद् व्युत्पत्तिमात्रमेवार्थ., न तु प्राधान्येन। अथ चेमे त्रसनामकर्मो-दयादेव 'त्रसा'[५] इत्युच्यन्ते।

स्थावरनामकर्मोदयाच्च तन्नामकर्मापादिता: जीवा: (Immobile),'स्थावरा' इत्युच्यन्ते। अत्र 'तिष्ठन्तीत्येव शीला: स्थावरा' इतिव्युत्पत्या वाय्वादी-नामस्थावरत्वप्रसङ्ग , देशान्तरप्राप्तिदर्शनात्। अथ च द्वीन्द्रियादीनामेकत्रैव स्थायिनाञ्च स्थावरत्वप्रसङ्ग. स्यात्। आगमे तु 'त्रसा नाम द्वीन्द्रियादारभ्य आ अयोगकेवलिन'[६] इति स्वीकृत, तदपि विरुद्धं स्याददतोऽत्र गमनागमनापेक्षं न त्रसस्थावरत्वं, अपि तु तत्तत् नामकर्मोदयापेक्षमेव।

यद्यप्यनयोर्द्वयो: परस्परं संक्रमणमपि प्राप्यते, यथाहि—त्रसा: मरणानन्तरं स्थावरत्वमपि समधिगन्तु शक्नुवन्ति, परमनयोर्मध्ये स्पष्टतया सुखदु.खा-देरनुभवात्मकत्वात् त्रसाणामेव[७] प्राधान्यमिति।

स्थावरभेदा: (Immobile-Soul)

स्थावरजीवा: पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायात्मका: पञ्चविधा:। श्वेताम्बर-सम्प्रदायानुसार तु पृथिवि-जल-वनस्पतिकायानामेव स्थावरत्वम्[८]। अत्रेद-मवधेयं, यत् स्थावरत्रसाणां कर्मोदयापेक्षया क्रियापेक्षया च यद् विश्लेषणं कृतं, तत्र पृथिव्यम्बुवनस्पतीना तु कर्मोदयापेक्षयैव भेद:, यतश्च कर्मापेक्षया तु द्वयोरेव स्थावरत्वम्। ते च पञ्चविधा: यथा—१. पृथ्वीकाय (Earth-Bodied), २. जलकाया· (Water-Bodied), ३. तैजस्काया: (Fire-Bodied), ४ वायुकाया: (Air Bodied), ५ वनस्पतिकायाश्च (Vege-table-Bodied)।

एवां स्थावरनामकर्मोदयापादितपृथिव्यप्कायादीनां जैनार्षग्रन्थेषु चातुर्विध्यं प्रदर्शितम् । पृथिवीकायस्थावरस्य चातुर्विध्यम्' यथा—

१. पृथिवी, २. पृथिवीकायः, ३. पृथिवीकायिकः, ४. पृथिवीजीवश्चेति ।

पृथिवी (Earth in General)

स्वाभाविकपुद्गलपरिणमनरूपात्काठिन्याच्च पृथिवी चेतनाविरहिता । अत्राचेतनत्वात् पृथिवीकायनामकर्मोदयाभावेऽपि पृथनक्रियोपलक्षितत्वात् पृथिवीत्युच्यते' । पृथिवीसामान्येन वा पृथिवीत्वमिति । उत्तरेषु त्रिष्वपि भेदेषु इयमनुगता भवति ।

पृथिवीकायः (Earth-Body)

कायः—शरीरम्, जीवादिभिः परित्यक्तशरीरमिव (मृच्छशरीरवत्) अचेतना पृथिवी 'पृथिवीकायः' ।

पृथिवीकायिकः (Earth Bodied Soul)

पृथिवीकायनामकर्मोदयात्पृथिवीं शरीररूपेण स्वीकुर्वन्तो जीवाः 'पृथिवीकायिका.' ।

पृथिवीजीवः (Earth-Soul)

पृथिवीनामकर्मोदये सत्यपि यावन्न पृथिवीकायं धारयति, तावत्-विग्रहगतिप्राप्तः कार्मणयोगस्थो जीवः 'पृथिवीजीव'रित्युच्यते । एषु स्थावरेषु साकारानाकारभेदात् उपयोगस्य द्वैविध्यमित्यागमेन'' युक्त्या'' चापि सिध्यति । आहारादिक्रियाविशेषदर्शनात्तेषामाहारभयमैथुनपरिग्रहरूपसंज्ञाना बोधो जायते, तस्मात्तेषामुपयोगस्यानुमानेन सिद्धिर्भवतीति । एवमेवान्येषामप्तेजोवायुवनस्पत्यादीनामपि प्रत्यक चत्वारो भेदाः ज्ञेयाः ।

त्रसभेदाः (Mobile-Soul)

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिका एकेन्द्रियाः स्थावराः, इति पूर्वमेव स्पष्टम् । शेषाः द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः । ते च द्वीन्द्रिया· (Two-Sense), त्रीन्द्रियाः (Three-Sense), चतुरिन्द्रिया· (Four-Sense) पञ्चेन्द्रियाश्चेति (Five-Sense) भेदेभ्यश्चतुर्विधा भवन्ति ।

अत्र स्पर्शन-रसनेन्द्रियकायवाग्बलायुःश्वासोच्छ्वासादिभिर्युक्ताः द्वीन्द्रियाः । त्रीन्द्रियाश्च द्वीन्द्रियेभ्यो घ्राणेन्द्रियाधिकाश्चतुरिन्द्रियाश्चैतेभ्योऽपि चक्षु-

रिन्द्रियाधिकाः; पञ्चेन्द्रिया असंज्ञिनश्च श्रोत्रेन्द्रियाधिकाः, संज्ञिनः पञ्चेन्द्रियाश्च मनसा सह सर्वतोऽधिकदशप्राणयुक्ताः[१२] भवन्तीति ।

किञ्चात्र श्वेताम्बरग्रन्थानुसारं तु तेजोवायुकायिकानां सयोगेन त्रसाः षड्विधाः । तत्राङ्गारकिरणादयस्तैजस्कायिका अनेकविधाः । वायुकायिकाश्चापि-घनवातादिभेदैरनेकविधाः । यथा स्थावरेषु क्रियाप्राधान्यात् न तेजोवायूनां ग्रहणं कृतं तथैवात्र तत्प्राधान्यादेव ग्रहणं कृतमिति ।

त्रस-स्थावराणामिन्द्रियविभागः

एतेषां पृथिव्यादित्रसस्थावराणां शरीराकारास्तावदीदृशाः पृथिवीकायिक-जीवाना[१३] मसूरसदृशाः, जलकायिकानाञ्चाम्बुपृषतसदृशाः, अग्निकायिका-नाञ्च सूचीकलापसदृशाः, वायुकायिकानां तु ध्वजसदृशाः, वनस्पतिकायिका-नाञ्च[१४] नैकविधाः भवन्त्यपितु विभिन्नाकारा एव शरीरा. जायन्ते ।

एषु पृथिव्यादिवनस्पत्यन्तानां जीवानां केवलमेकं[१५] स्पर्शनेन्द्रियं वीर्यान्तरायस्य स्पर्शनेन्द्रियावरणस्य च क्षयोपशमे, शेषेन्द्रियाणां च सर्वघातिस्पर्धकोदये सति शरीरनामकर्मण, एकेन्द्रियजातेश्चोदये सति भवति ।

कृम्यादीनामपादिकनूपुरकगण्डूपदशङ्खशुक्तिकाशम्बूकाजलौकाप्रभृतीनामेकेन्द्रि-येभ्य पृथिव्यादिभ्य एकेन वृद्धौ सत्या स्पर्श—रसने द्वीन्द्रिये[१६] भवत । एतेनाप्ये-काधिकानि स्पर्शनरसनघ्राणानि पिपीलिकारोहिणिकोपचिकाकुन्थुतम्बुरुकत्र-पुसबीजकर्पासास्थिकाशतपद्युत्पतकतृणपत्रकाष्ठाहारकादीनां त्रीणान्द्रियाणि भवन्ति । एतेभ्योऽप्येकाधिकानि स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षूंषि भ्रमरवटरसारङ्ग-मक्षिकापुत्तिकादंशमशकवृश्चिकनन्द्यावर्तकीटपतङ्गादीनां चत्वारीन्द्रियाणि[१७] भवन्ति । शेषाणाञ्च तिर्यग्योनिजाना मत्स्योरगभुजङ्गपक्षिचतुष्पदाना सर्वेषां, नारक-मनुष्यदेवानाञ्च पञ्चेन्द्रियाण्येव[१८] भवन्तीति । इत्थमत्रैकेन्द्रियेभ्यो पृथिव्यादिभ्य समारभ्य पञ्चेन्द्रिय यावत् क्रमश एकैकवृद्धानीन्द्रियाणि[१९] भवन्तीत्ययमाशयः ।

संज्ञिनो जीवाः (Rational-Soul) (**समनस्काः**)

संप्रधारणसंज्ञाका ये जीवास्ते 'समनस्का' इत्युच्यन्ते । अत्रेहापोहयुक्त गुणदोषविचारण सम्प्रधारणम् । तद्युक्ता. संज्ञिन , तद्व्यतिरिक्ताश्चासंज्ञिनो ऽमनस्का इत्यर्थ. । अन्यथा पृथिवीकायिकादीनामप्याहारभयमैथुनपरिग्रह-संज्ञाकत्वात्तेषामपि तत् प्रसङ्गादिति ।

अतोऽत्र सप्तविधनरकभूमिवासिनां नारकाणाम्, चतुर्णिकायानां देवानां, गर्भजन्मनां सर्वेषामपि मनुष्याणां, केषाञ्चित्तिरश्चामपि समनस्कत्वम्, सम्प्रधारणात्मकसंज्ञित्वादस्ति । तद्यथा—'इयं शङ्खध्वनिः, शृङ्गध्वनिर्वेति' तर्ककल्पनमीहा । माधुर्यादिना चेयं शङ्खध्वनिरेवेत्यादिकल्पनेनैकविषयग्रहणात् शृङ्गध्वनिपरित्यागात्मको विचारोऽपोहः । येभ्यश्च कारणेभ्योऽभिप्रेतविजय-सिद्धिस्ते गुणाः । यैश्चात्र विघ्नोत्पादस्ते खलु दोषाः । इत्थमीहापोहगुणदोष-विचारानन्तरं ग्राह्यत्याज्यबुद्धिः संज्ञा । यद्यपीयं संज्ञा ज्ञानरूपैवास्ति, परं मनःरहितानां केवलमिन्द्रियेभ्यरुत्पद्यमानस्य ज्ञानस्यापेक्षयोत्कृष्टतरा भवत्यतएव समनस्कत्वबाधिकेति[१०] । तथा च मन. सहितेष्वेव प्राप्येति ।

देवानां दिव्यभावाः

एषूपरिलिखितेषु देव-नारक-तिर्यङ्-मानुषेषु देवानां चातुर्विध्यं व्याख्यायन् वाचकप्रमुखैरभिहितम्—'देवाश्चतुर्णिकाया[११] देवानां चत्वारो समुदाया-स्सन्तीत्यर्थः । तद्यथा—

१. भवनवासिनः (Residential) २. व्यंतराः (Peripatetic)
३. ज्यौतिष्का (Stellar) ४. वैमानिकाश्चेति (Heavenly)

एते चतुर्विधा अपि देवाः दीव्यन्तीति व्युत्पत्या, देवगतिनामकर्मोदयादापा-दितदेवपर्याया, तत्स्वभावात्क्रीडाष्वासक्ताः, बुभुक्षाः-पिपासादिविरहिताः, रसरक्तादिरहिता अपि दीप्तशरीरयुक्ताश्चपलगत्यात्मकाश्चाष्टविधदिव्य-भावैर्मासमानास्तिष्ठन्तीति[१२] । अत्र ये खल्वष्टविधाः स्वाभाविकाः दिव्य-भावास्ते च यथा—

१. अणिमा—अनेन भावेन देवाः स्वीय शरीरमतिलघुरूपं निर्मातुं शक्नुवन्ति ।
२. महिमा—अनेन तेषां लघु-बृहद्रूपधारणे साहाय्यं प्राप्यते ।
३. लघिमा—अनेन देवाः स्वशरीरं स्वल्पभारं कर्तुं शक्नुवन्ति ।
४. गरिमा—अनेन च दिव्यभावेन देवशरीराणि भाराधिकानि भवितुमर्हन्ति ।
५. सकामरूपित्वम्—दिव्यभावेनानेन देवानां यथेप्सितशरीरग्रहणमथ चैककालावच्छेदेनाधिकसंख्याकशरीरग्रहणत्वञ्च सम्भाव्यते ।
६. वशित्वम्—भावेनानेन देवाः स्वव्यतिरिक्तान् जनान् स्ववशान् कर्तु-मर्हन्ति ।

७. ईशित्वम्—अनेन भावेन चान्यैः श्रेष्ठत्वं प्रदर्शितुमर्हन्ति ।

८. प्राकाम्यम्—अनेनभावेन ते यथाभिलषितं कर्तुं मर्हन्तीति ।

देवानामुत्पत्तिस्थानानि

चतुर्विधाः निकायाः देवानामभिहिताः । निकायस्तावत्—नाम, संघः, जातिः, भेदः, निवासस्थान वेत्यवगम्यते । तत्र तेषां देवगतिनामकर्मोदयात्स्वधर्मविशेषादाभ्यन्तरसामर्थ्यकृतभेदा. समुदाया. निकायाः ।

एषाञ्चतुर्विधानामपि देवानामुत्पत्ति-स्थितिस्थानानि भिन्नानि, तत्र भवनवासिनस्तावत्—रत्नपृथिव्या उपर्यधश्चैकैकसहस्रयोजनांशं विहायावशिष्टे भागे समुत्पद्यन्ते । तथा च यदत्रोपर्येकसहस्रयोजनं भागमवशिष्टं, तत्रोपर्यधश्चैकैकशतयोजनं भागं परित्यज्य मध्येऽष्टशतयोजनात्मके भागे व्यंतराः समुत्पद्यन्ते । ज्यौतिष्काश्च पृथिवीत· नवत्युत्तरसप्तशतयोजनान्तरं (७९० योजनान्तरं) दशाधिकैकशतयोजनप्रमाणे उच्चैर्नभोभागे समुत्पद्यन्ते वैमानिकाश्च देवाः मेरोरुपरि ऋजुविमानात्समारभ्य सर्वार्थसिद्धिपर्यन्ते भागे विमानेष्वेवोत्पद्यन्त इति । परमेषा गमनागमन तु जन्मस्थानातिरिक्तेष्वपि[२३] स्थानेषु सम्पद्यते ।

देवानां विभेदाः

एतेषाञ्चतुर्विधानामपि देवनिकायाना क्रमशः दश-अष्ट-पञ्च-द्वादशभेदाः कल्पोपन्नस्वर्गपर्यन्ताः भवन्ति । येषु स्वर्गेषु 'इन्द्रसामानिका'दिविभेदानां कल्पना प्राप्यते, तानि स्वर्गाणि 'कल्पाः', तत्रोपपादजन्मधारकाश्च देवा 'कल्पोपन्ना' इत्यभिधीयन्ते । येषु चेयं कल्पना नास्ति, तत्रोत्पन्ना देवा 'कल्पातीता' इत्युच्यन्ते । अत्रेयं कल्पना सौधर्म्याख्यात्स्वर्गादच्युताख्यं स्वर्ग यावदेव[२४] विद्यते । तत्रेयं कल्पना प्रत्येकं कतिविधा प्राप्यते, इति स्पष्टयन् उमास्वातिभिरभिहितम्—एतेषु चतुर्विधेष्वपि देवनिकायेषु प्रत्येकं इन्द्र-सामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्य-आत्मरक्ष-लोकपाल-अनीक-प्रकीर्णक-अभियोग्य-किल्विषिकाश्चेति दशविधा[२५] प्राप्यन्ते । परञ्चात्रैवाग्रे तैरुक्त, यत्-व्यन्तर-ज्यौतिष्केषुत्रायस्त्रिंशलोकपालेतिद्विविधभेदाभावात्तयोः प्रत्येकमष्टौ विभेदा भवन्ति ।

देवानां सामान्यभेदाः

या चात्रविभेदाना दशविधा कल्पना, सा यथा—

१. इन्द्राः—एतेषु चतुर्विधेष्वपि देवनिकायेषु ये देवा स्व-स्वनिकायवर्तिनां

देवानामधिपतिरूपास्ते 'इन्द्रा' इत्युच्यन्ते । अथवा—तद्व्यतिरिक्तान्यदेवेष्वप्राप्याणिमादिकर्द्धिरूपैश्वर्ययुक्ताः देवा 'इन्द्रा' इति ।

२. सामानिकाः—आज्ञा—ऐश्वर्यादन्यत्र स्थान-आयुः-शक्ति-परिवार-भोगोपभोगादिषु इन्द्रसदृशा, अमात्य-पितृ-गुरु-उपाध्यायवत्श्रेष्ठाः ये देवास्ते 'सामानिकाः' ।

३. त्रायस्त्रिशाः—यथा कश्मिश्चिद्राज्ये यत् स्थानममात्यपुरोहितादीना भवति, तद्वदेवात्र येषा देवानां स्थानं, ते 'त्रायस्त्रिशा. इति । एतेषाञ्च एकैकमिन्द्रं प्रति त्रयस्त्रिशत् संख्या भवत्यत एवैषामियं संज्ञा ।

४. पारिषद्याः—ये च देवा. मित्रसदृशाः, सभासद्सदृशाः, पीठमर्दसदृशाः[२६] वा भवन्ति ते 'पारिषद्या' इत्युच्यन्ते ।

५. आत्मरक्षा.—अङ्गरक्षकवत्सशस्त्राः, पृष्ठस्थिताः, रक्षार्थं सन्नद्धा ये देवास्त 'आत्मरक्षाः' ।

६. लोकपाला.—अर्थरक्षकसदृशाश्चौरेभ्योऽर्थरक्षार्थ सन्नद्धा. लोकपालाख्याः देवाः ।

७. अनीकाः—राजसैन्यवद्देवेषु 'अनीका'ख्या. देवाः ।

८. प्रकीर्णकाः—नगरवासिसदृशाः, प्रजास्थानीया वा ये देवास्ते प्रकीर्णकाख्याः।

९. आभियोग्याः—भृत्यवत् सेवकवद्वा ये विमानादिवाहकाः देवास्त 'आभियोग्या' इति ।

१०. किल्विषिका.—पापशीलान्तेवासिसदृशाश्चाण्डालादिसदृशाः वा ये देवास्ते किल्विषिका[२७] इत्यभिधीयन्त इति ।

यद्यपि स्वर्गे चौरादीना सर्वथाऽभावोऽस्ति. तथापि लोकपाल-आत्मरक्ष-अनीकादीना यत् कल्पनमत्र विद्यते न तद्व्यर्थम्, यतोहि, यथा खलु कस्मिश्चित् पुण्याधिकारिणः राज्ञ. राज्ये तत्प्रभावात् चौर्याद्युपद्रवा असम्भाव्यास्तदपि तत्र राज्याङ्गतयैषां सर्वेषामपि स्थितिस्तेषां पुण्यजनित वैभवं सूचयति, तथैवात्रापि लोकपालादीनां तत्तत्पुण्यजनितवैभवादेव स्थितर्भवतीति ज्ञेयम् ।

भवनवासिनो देवाः (Residential)

भवनेषु वसन्तीत्येवंशीला भवनवासिनो देवाः । एते च दशविधाः भवन्तीति पूर्वमुट्टङ्कितम् । तद्यथा (१) असुरकुमाराः, (२) नागकुमारा., (३)

विद्युत्कुमाराः, (४) सुपर्णकुमाराः, (५) अग्निकुमाराः, (६) वातकुमाराः, (७) स्तनितकुमाराः (८) उदधिकुमाराः, (९) द्वीपकुमाराः, (१०) दिक्-कुमाराश्चेति[१८]।

एषां भवनवासिनां सर्वेषामपि देवाना कुमारसदृशः[१९] रमणीयो दर्शनीयश्च स्वरूपः, मृदु-स्निग्ध-मधुर-ललिता गतिः, सुश्रृङ्गारेषु रतिः, उच्चैः उत्तमरूपेषु च धृतिः, विविधक्रीडाविक्रियास्वनुरागः, रूप-वर्ण-वेष-भाषा-आभरण-प्रहरण-आवरण-यान-वाहन-रागभावादयः, यथेच्छविहाररतिप्रसन्नतादयश्च सर्वेऽपि भावाः भवन्त्यत एवैभ्यो कुमारशब्दः प्रयुज्यते।

एषु दशविधेषु प्रत्येकं द्वौ द्वाविन्द्रौ भवतस्तद्यथाहि—असुरकुमारेषु—चमरो वैरोचनश्च, नागकुमारेषु-धरणो भूतानन्दश्च, विद्युत्कुमारेषु-हरिसिंहो हरि-कान्तश्च, सुपर्णकुमारेषु-वेणुदेवो वेणुधारी च, अग्निकुमारेषु-अग्निशिखोऽग्नि-माणवश्च, वातकुमारेषु-वैलम्बो प्रभञ्जनश्च, स्तनिकुमारेषु-सुघोषो महा-घोषश्च, उदधिकुमारेषु-जलकान्तो जलप्रभश्च, द्वीपकुमारेषु-पूर्णो वशिष्ठश्च, दिक्कुमारेषु चामितगतिरमितवाहनश्चेति।

भवनवासिनां भवनानि

इमे भवनवासिनो देवाः स्वस्वभवनेष्वेव निवसन्ति। अत एतेषामियं संज्ञा[२०] सार्थकी। एषामसुरकुमाराणामुत्पत्तिस्थानेषु चतुष्षष्टिशतसहस्रपरिमितानि भवनानि रत्नप्रभापृथिव्याः पङ्कबहुलभागे भवन्ति। तत्र जम्बुद्वीपात्तिर्यगपाग-सङ्ख्येयान् समुद्रानतीत्य पङ्कबहुलभागे दक्षिणाधिपतेश्चमरनामकस्यासुरेन्द्रस्य-भवनानि चतुस्त्रिंशत्शतसहस्राणि (३४००००) भवन्ति, तेषु चतुष्षष्टिसहस्र संख्याकाः सामानिका (६४०००), त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशाः, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, चत्वारो लोकपालाः, पञ्चाग्रमहिष्यः, चतुष्षष्ट्युत्तर-चत्वार्यात्मरक्षसहस्राणि[२१] तद्विभवपरिवारः।

वैरोचनाख्यस्योत्तराधिपस्य तु त्रिंशत्शतसहस्राणि भवनानि सन्ति। अस्य विभवविस्तारश्च—षष्टिसहस्रसख्याकाः सामानिकाः, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशाः, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, चत्वारो लोकपालाः, पञ्चाग्रमहिष्यः, चतुष्षष्ट्युत्तरचत्वार्यात्मरक्षसहस्राणि परिमितो[२२] भवति।

नागकुमारादीनां भवनानि

खरपृथ्वीभागस्योपर्यधश्चैकैकयोजनसहस्रं परित्यज्यावशिष्टे भागे नवनाग-

कुमाराणां भवनानि सन्ति । तत्र धरणाख्यस्य नागेन्द्रस्य विभवविस्तारो यथा-जम्बूद्वीपात्तिर्यगपागसंख्येयद्वीपसमुद्रानन्तरं चतुश्चत्वारिंशत्शतसहस्राणि भवनानि । तत्र षष्टिसहस्रसामानिकाः, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशाः, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, चत्वारो लोकपालाः, षडग्रमहिष्य, षड्सहस्रात्मरक्षाश्चेति । तथा च भूतानन्दाख्यस्य नागेन्द्रस्य विभवविस्तारो—जम्बूद्वीपात्तिर्यगुदगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् समतीत्य चत्वारिंशल्लक्षभवनानि । सामानिक-त्रायस्त्रिंशादयस्तु धरणेन्द्रसदृशसंख्याका एव भवन्ति । इत्थं नागकुमाराणां भवनानि[13] चतुरशीतिलक्षात्मकानि ।

सुपर्णकुमाराणाञ्च भवनानि द्विसप्ततिलक्षात्मकानि भवन्ति । तत्र दक्षिणाधिपते वेणुदेवस्याष्टत्रिंशल्लक्षपरिमितान्युत्तराधिपतेर्वेणुधारिणश्च चतुस्त्रिंशल्लक्षात्मकानि सन्ति । विभवस्तु द्वयोरपि नागेन्द्रस्य धरणेन्द्रस्य सदृश एवास्ति । अथ चावशिष्टानां विद्युत्-अग्नि-स्तनित-उदधि-द्वीप-दिक्कुमाराणां सर्वेषामपि भवनवासिकुमाराणा प्रत्येकं षड्सप्तति(७६)लक्षपरिमितानि भवनानि । तत्रावशिष्टेष्वेषां क्रमशः हरिसिह-अग्निशिख-सुघोष-जलकान्त-पूर्णामितगतिश्चेतिदक्षिणेन्द्राना चत्वारिंशल्लक्षपरिमितानि भवनानि, तथा च क्रमश उत्तराधिपतीना—हरिकान्त-अग्निमाणव-महाघोष-जलप्रभ-वशिष्ठ-अमितवाहनाख्यानां प्रत्येकं षट्त्रिंशल्लक्षपरिमितानि भवनानि भवन्ति । अथ च वातकुमाराणां षण्णवति(९६)लक्षपरिमितानि भवनानि सन्ति, तत्र दक्षिणाधिपतेर्वेलम्बस्य पञ्चाशत्लक्षपरिमितानि भवनान्युत्तराधिपतेः प्रभञ्जनस्य च षट्चत्वारिंश(४६)ल्लक्षपरिमितानि भवनानि भवन्ति । एतेषां सर्वेषामेव विभवपरिवारस्तावत् धरणेन्द्राख्यस्य नागकुमारेन्द्रस्य सदृश एव भवतीति । इत्थं सर्वेषा भवनवासिनां कुमाराणा भवनसंख्या द्विसप्ततिलक्षोत्तरसप्तकोटिपरिमिता[14] (७७२०००००) भवतीति ।

एषु दशविधेषु भवनवासिषु असुरकुमारातिरिक्ता अन्ये सर्वेऽपि कुमाराः भवनेष्वेव[15] निवसन्ति, परञ्चासुरकुमाराः प्रायशः स्वस्वावासेष्वेव निवसन्तस्तिष्ठन्ति, भवनेषु ते यदा कदैव वसन्ति । अन्ये चासुरकुमारातिरिक्ता आवासेषु[16] कदापि न निवसन्तीति ।

अत्रेदमवधार्यम्, यत्—लोके त्विदं प्रसिद्धं वर्तते, यदसुरास्तावत् देवविरोधिनो विड्रूपाश्चैवासन्। परमत्र जैनदर्शनानुसारमेतेषां न देवविरोधित्वं समर्थ्यते, देवयोनिष्वेतेषामन्तर्भावात् । तत्रापि च शोभनस्वरूपत्वं

स्वीकृत्य नैतेषां कथमपि देवविरुद्धत्वं विड्स्वरूपत्वं वा समर्थितम्, इदमत्र विद्वद्भिर्विचारणीयम् ।

२. व्यन्तरदेवा (Peripatetic)

द्वितीयो देवनिकायस्तावत् व्यंतराख्यः । विविधानि-देशान्तराणि निवासाः येषा ते-व्यन्तराः[17] । यतश्चेमेऽधस्तिर्यगूर्ध्वं त्रिष्वपि लोकेषु भवनेष्वावासेषु नगरेषु च प्रतिवसन्त्यत एतेषा विविधावासात्मकत्वादियं संज्ञा । बालवदनवस्थितस्वभावाश्चेमे स्वातन्त्र्येण सर्वत्रैव गमनागमनशीलाः, अधस्तिर्यगूर्ध्वान् लोकान् स्पृशन्तः प्रायः स्वेच्छया विहरन्ति, कदाचिच्च चक्रवर्तीन्द्रादिपरेषामभियोगादपि सर्वत्र विहरणशीलाः भवन्ति । एषु केचित् देवाः मनुष्यादीन्नपि भृत्यवत् सेवन्ते । केचिच्च स्वेच्छया विविधवनकन्दरादिष्वपि निवसन्ति । एते च व्यन्तराः देवाः प्रामुख्येनाष्टविधाः, तद्यथा— (१) किन्नराः (२) किम्पुरुषाः, (३) महोरगाः, (४) गन्धर्वाः, (५) यक्षाः, (६) राक्षसाः, (७) भूताः, (८) पिशाचाश्चेति ।

किन्नराः

व्यन्तराख्यस्य देवनिकायस्य येऽष्टौ भेदास्तत्र किन्नराः सर्वप्रधानाः सन्ति । किन्नरेषु तावत् दशविधाः देवाः भवन्ति । ते च यथा—(१) किन्नराः, (२) किम्पुरुषाः, (३) किम्पुरुषोत्तमाः, (४) किन्नरोत्तमाः, (५) हृदयङ्गमाः (६) रूपशालिनः, (७) अनिन्दिताः, (८) मनोरमाः, (९) रतिप्रियाः, (१०) रतिश्रेष्ठाश्चेति ।

एते सर्वेऽपि प्रियङ्गुमणिवत् श्यामवर्णाः, सौम्यस्वभावाः, सौम्यदर्शनाः अतएवाह्लादकराश्च भवन्ति । एतेषा मुखभागेऽधिकत्वेन स्वरूपलावण्यं शिरश्च मुकुटशोभितं भवति । एतेषा वर्णश्चावदातो शुद्धः, स्वच्छरुज्ज्वलश्चास्ति, तथा चैतेषां चिह्नमशोकध्वजो[18] भवति ।

जम्बूद्वीपात्तिर्यगपागसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् समतीत्योपरिष्टे खरपृथिवीभागे किन्नराख्यस्य किन्नरेन्द्रस्य असङ्ख्येयलक्षनगराणि विद्यन्ते । एतस्य चत्वारि सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, चतस्रोऽग्रमहिष्यः, षोडशसहस्रात्मरक्षाश्च भवन्ति । उदीच्याञ्च दिशि किम्पुरुषाख्यस्य किन्नरेन्द्रस्य किन्नरवदेव विभवविस्तारो[19] भवतीति ।

किम्पुरुषाः

एतेऽपि देवा दशविधास्तथाहि–(१) पुरुषाः, (२) सत्पुरुषाः, (३) महापुरुषाः,

(४) पुरुषवृषभाः, (५) पुरुषोत्तमाः, (६) अतिपुरुषाः, (७) मरुदेवाः, (८) मरुतः, (९) मेरुप्रभाः, (१०) यशस्वन्तश्चेति।

एतेषां सर्वेषामपि स्वरूपलावण्यमुरुजङ्घाबाहुष्वधिकतया भवति। किन्त्वेषां मुखमपि भास्वराधिकमतएवैते प्रकाशयुक्ताः, आभरणैर्भूषिताः, चित्रविचित्राभिर्मालाभिः सुशोभिताः, विविधानुलेपैरित्रैश्चानुलिप्तास्तिष्ठन्ति। एतज्जातीयानां देवानाञ्चिह्नं चम्पकवृक्षध्वजं[10] भवति।

महोरगाः

एतदाख्याकाः अपि देवा दशविभेदात्मकाः। तथाहि—(१) भुजगः, (२) भोगशीलः, (३) महाकायः, (४) अतिकायः, (५) स्कन्धशीलः (६) मनोरमः, (७) महावेगः, (८) महेष्वक्षः, (९) मेरुकांतः, (१०) भास्वांश्चेति।

अत्र ते खलु श्यामवर्णाः अप्यवदाताः, महद्वेगाः, सौम्यस्वभावाः, सौम्यदर्शनाः, महाकायाः, पृथुस्कन्धाः, मीनग्रीवाः, विविधविलेपनयुक्ताः, विचित्राभरणभूषिताश्च भवन्ति। एषा चिह्नं तु नागवृक्षध्वजमस्ति[11]।

गन्धर्वाः

द्वादशभेदात्मका खलु गन्धर्वा देवाः भवन्ति। तद्यथा—
(१) हाहा, (२) हूहू, (३) तुम्बुरवो, (४) नारदः, (५) ऋषिवादकः, (६) भूतवादकः, (७) कादम्बः, (८) महाकादम्बः, (९) रैवतः, (१०) विश्वावसुः, (११) गीतरतिः, (१२) गीतयशश्चेति।

एते खलु द्वादशविधा गान्धर्वाः शुद्धरक्तवर्णाः, गम्भीराः, प्रियदर्शनाः, सुरूपाः, सुस्वराः, सुमुखाकाराः, शिरसि मुकुटधराः, हारविभूषिताश्च भवन्ति। अत्रैषां चिह्नं तु तुम्बुरुवृक्षध्वजं[12] भवतीति।

यक्षाः

यक्षाख्याः देवास्तावत्त्रयोदशविधाः सन्ति, ते च यथा—(१) पूर्णभद्रः, (२) मणिभद्रः, (३) श्वेतभद्रः, (४) हरिभद्र, (५) सुमनोभद्रः, (६) व्यतिपातिकभद्रः (७) सुभद्रः, (८) सर्वतोभद्रः, (९) मनुष्ययक्षः, (१०) वनाधिपतिः, (११) वनाहारः, (१२) रूपयक्षः, (१३) यक्षोत्तमश्चेति।

एते सर्वेऽपि निर्मलश्यामवर्णाः, गम्भीरास्तुन्दिलाः वृन्दारकाः, प्रियदर्शनाः,

मानोन्मानप्रमाणयुक्ताः, पाणि-पादतल-नख-तालु-जिह्वौष्ठरक्तवर्णाः, द्युतिमान्मुकुटधराः, रत्नजटिताभरणभूषिताः, वटवृक्षध्वजाश्च[१३] भवन्तीति ।

राक्षसाः

राक्षसा खलु सप्तविधा भवन्ति । तथाहि— (१) भीमः, (२) महाभीमः, (३) विघ्नः, (४) विनायकः, (५) जलराक्षसः, (६) राक्षसराक्षसः (७) ब्रह्मराक्षसश्चेति ।

एते राक्षसाख्याः देवा निर्मलवर्णा अपि भीमाः, अतएव भीमदर्शनाः, शिरोकरालाः, रक्तलम्बौष्ठाः, तप्तसुवर्णाभरणभूषिताः, नानाभक्तिविलेपनाः, खट्वाङ्गध्वजाश्च[१४] भवन्तीति ।

भूताः

भूताख्याः देवास्तु नवविधास्तथाहि —(१) सुरूपः (२) प्रतिरूपः (३) अप्रतिरूपः (४) भूतोत्तमः (५) स्कन्दिकः, (६) महास्कन्दिकः (७) महावेगः (८) प्रतिच्छन्नः (९) आकाशगश्चेति ।

एते च श्यामवर्णात्मका अपि सुरूपाः, सौम्याः, आपीवराः, विविधविलेपनाः कालरूपाः, सुलसध्वजाश्च[१५] भवन्ति ।

पिशाचाः

पिशाचा खलु पञ्चदशविधा भवन्ति । तद्यथा—(१) कूष्माण्डः, (२) पटकः, (३) जोषः, (४) आह्नकः, (५) कालः, (६) महाकालः, (७) चौक्षः, (८) अचौक्षः, (९) तालपिशाचः, (१०) मुखपिशाचः, (११) अधस्तारकः, (१२) देहः, (१३) महातिदेहः, (१४), तूष्णीकः, (१५) वनपिशाचश्चेति ।

सुरूपाः सौम्यदर्शनाश्चेमे पिशाचा हयग्रीवयो मणिरत्नविभूषणप्रियाः कदम्बवृक्षध्वजाश्च[१६] भवन्तीति ।

किन्नरव्यतिरिक्तेषु शेषेसु सप्तविधेषु व्यन्तरदेवेषु षण्णां दक्षिणेन्द्राणां सत्पुरुष-अतिकाय-गीतरति-पूर्णभद्र-स्वरूप-कालाख्यानां दक्षिणे भागे, तथाचोत्तराधिपतीनां महापुरुष-महाकाय-गीतयश मणिभद्र-अप्रतिरूप-महाकालानाञ्चोत्तरेभागे तावन्त एवावासा यावन्तो खलु किन्नर-किम्पुरुषयोर्भवन्तीति । राक्षसेन्द्रस्य भीमस्य तु दक्षिणदिशि पङ्कबहुलभागेऽसंख्येयलक्षात्मकानि नगराणि विद्यन्ते । उत्तरस्याञ्च दिशि महाभीमस्यापि भीमवदेव नगरसंख्या, तथा चैतेषां सर्वेषामपि षोडशविधानां व्यन्तरेन्द्रदेवानां सामानिकादिविभवस्तुल्य[१७] एव ज्ञेयः ।

३. ज्यौतिष्कदेवाः (Stellar)

ज्यौतींषि-विमानानि, तेषु भवाः ज्यौतिष्का, यद्वा भास्वरशरीरत्वात् समस्त-दिङ्मण्डलद्योतकत्वाच्च ज्योतिरेव ज्यौतिष्काः इत्यन्वर्थेयं सामान्यसंज्ञा। एते च पञ्चविधाः—सूर्यः, चन्द्रः, ग्रहाः, नक्षत्राणि, प्रकीर्णकतारकाश्चेति। तदेवोक्त तत्त्वार्थसूत्रे—

'ज्यौतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्चेति'[४८] ॥

अत्रै तेषां पञ्चविधानां सर्वेषामपि ज्यौतिष्कानां पृथक्पृथक्कक्षाः विद्यन्ते। ताश्च क्रमश उपर्युपर्येव सूत्रनिर्दिष्टक्रमेण भवन्ति। तद्यथा—सर्वतोऽधः सूर्यकक्षा, ततश्चन्द्रकक्षा, तदनन्तरं ग्रहकक्षा, तदुपरि च नक्षत्रकक्षा, अन्ते सर्वत उपरि च प्रकीर्णकतारककक्षेति।

किञ्चात्रार्षेष्वागमेषु चन्द्रस्य कक्षा प्रथममुल्लिखिता, तदनन्तरञ्च सूर्यादीनां कक्षाः। दिगम्बरसम्प्रदायानुसारं तु सर्वतः प्रथमं तारकास्तदुपरि च सूर्यादिकाः[४९] सन्तीति वर्णन प्राप्यते। तद्यथा—अस्मात् भूमिभागादूर्ध्व नवत्युत्तर-सप्तशतयोजनान्युत्पत्य सर्वज्यौतिषामधोभाविन्यस्तारकाश्चरन्ति। तत ऊर्ध्व दशयोजनान्युत्पत्य सूर्यस्तदनन्तरमशीतियोजनान्तर चन्द्रस्ततस्त्रीणियोजना-न्यन्ते नक्षत्राणि, ततस्त्रीणि योजनान्यूर्ध्व बुधः, ततश्च त्रीणि योजनान्यूर्ध्व शुक्रः, ततोऽपि त्रीणि योजनान्यूर्ध्व वृहस्पतिः, तस्माच्चत्वारियोजनान्यूर्ध्व-मङ्गारकः (भौमः) ततश्चत्वारियोजनान्युत्क्रम्य शनिश्चरति।

इत्थमिद सम्पूर्ण ज्यौतिष्चक्र नभसि दशाधिकैकशतयोजनशतबहुलोऽसंख्यात-द्वीपप्रमाण घनोदधिपर्यन्त तिर्यग्विद्यते। अत्राभिजिन्नक्षत्रं सर्वाभ्यन्तश्चारी, मूलनक्षत्र तु सर्वबहिश्चारी, भरण्यस्तु सर्वाधश्चारिण्यः, स्वातिश्च सर्वोपरि-चारीति।

सूर्यः

अत्रै तेषु ज्योतिष्कविमानेषु प्रायः सर्वेषामेव स्वस्वविमानानि सन्ति। येषु ते समारूढास्तिष्ठन्ति। तेषां विमानानां निर्धारितान्यायामानि वर्णादीनि च सन्ति। तथाहि—सूर्यस्य विमानानि तप्तस्वर्णसमप्रभलौहितमणिमयानि चतुर्विंशतियोजनैकषष्टिभागबाहुल्यानि (२४-१/६० चौडे), अष्टचत्वारि-शत्योजनैकषष्टिभागविष्कम्भायामानि(४८-१/६० लम्बे), अर्धगोलकाकृतीनि, षोडशसहस्रैर्देवैरूढानि[५०] भवन्ति।

एषु पूर्वोत्तरदक्षिणपश्चिमेषु क्रमश. सिंह-वृषभ-गज-अश्वरूपाणि चत्वारि-चत्वारिदेवसहस्राणि वहन्ति, येषामुपरि सूर्याख्या देवास्तिष्ठन्ति। तत्र प्रत्येकस्य देवस्य चतस्रोऽग्रमहिष्यः-सूर्यप्रभा-सुसीमा-अर्चिमालिनी-प्रभङ्कराख्याः सन्ति। इमाः सर्वाः चतुःसहस्रदेविरूपविकरणसमर्थाः। एताभिः सहासंख्येय-शतसहस्रविमानाधिपतयः सूर्याः दिव्यसुखमनुभवन्तः परिभ्रमन्ति।

चन्द्राः

चन्द्रविमानानि च निर्मलमृणालसदृशधवलप्रभायुक्तानि भवन्ति। एतानि च षट्पञ्चाशद्योजनैकषष्टिभागविष्कम्भायामानि (५६-१/६० यो० लम्बे) अष्टा-विंशतियोजनैकषष्टिभागबाहुल्यानि (२८-१/६० यो० चौड़े) पूर्वादिदिक्षु च क्रमशः सिंह-गज-अश्व-वृषभरूपविकारिभिश्चत्वारि-चत्वारिदेवसहस्रैरूढानि[११] भवन्ति। तेषामुपरि चन्द्राख्या देवास्तिष्ठन्ति। एषामपि प्रत्येकस्य चन्द्रप्रभा-सुसीमा-अर्चिमालिनी-प्रभङ्करेति चतस्रोऽग्रमहिष्यः चतुस्सहस्रदेविरूप-विकरणपट्व्यः सन्ति। एते च देवाः ताभि सहासंख्यातलक्षविमानाधिपतयो विहरन्ति।

ग्रहाः

अञ्जनसमप्रभारिष्टमणिमयानि, एकयोजनायामविष्कम्भानि, अर्धतृतीय-धनुःशतबाहुल्यानि (२५० धनुष) राहुविमानानि। नवमल्लिकासमप्रभरजत-परिणामानि गव्यूतायामविष्कम्भानि शुक्रविमानानि। जात्यमुक्तासमप्रभाङ्क-मणिमयानि देशोनगव्यूतायामविष्कम्भानि बृहस्पतिविमानानि। कनक-मयान्यर्जुनवर्णानि बुधविमानानि। तप्ततपनीयमयाभानि शनिविमानानि। लोहिताक्षमयतप्तकनकप्रभानि च भौमविमानानि सन्ति।[१२] अत्र बुधादि-विमानान्यर्धगव्यूतिविष्कम्भायामानि, तथा चैतेषा राह्वादीना विमानानि प्रत्येकं चतुस्सहस्रैर्देवैरुह्यन्ते[१३]।

नक्षत्राणि प्रकीर्णकतारकाश्च

नक्षत्रविमानानाञ्च प्रत्येक चत्वारिसहस्रदेववाहकाः, तारकविमानानाञ्च प्रत्येकं देवद्वयसहस्रं वाहकं भवति। एषां नक्षत्रविमानानामुत्कृष्टो विष्कम्भः क्रोशात्मकः, तारकविमानानाञ्च वैपुल्यं जघन्यं क्रोशचतुर्भागः (१/४ क्रोशः) मध्यम तु साधिको क्रोशचतुर्भाग. (१/४ क्रोशात्किञ्चिदधिकं), उत्कृष्टमर्ध-गव्यूतम्, (१/२ गव्यूतं) भवति। ज्यौतिष्काना विमानानां सर्वजघन्यवैपुल्यं

पञ्चधनुःशतात्मकं भवति। अत्रैषु ज्यौतिष्केषु केवलं सूर्यचन्द्रमसौ द्वावेवेन्द्रौ भवतः[५४]।

४ वैमानिकदेवाः (Heavenly)

येषु स्थिता देवा आत्मानं विशेषेण सुकृतिनो मानयन्तीति विमानानि, तेषु भवाः वैमानिकाः। तान्यैतानि विमानानि त्रिविधानि-इन्द्रक-श्रेणि-पुष्पप्रकीर्णकभेदात्मकानि भवन्ति। अत्रेन्दुवन्मध्येऽवस्थितानि—'इन्द्रकविमानानि'। चतसृषु दिक्ष्वाकाशप्रदेशश्रेणिवदवस्थानात् 'श्रेणिविमानानि'। विदिक्षु च प्रकीर्णपुष्पवदवस्थानात्—'पुष्पप्रकीर्णकानि'। एषु विमानेषु देवगतिनामकर्मोदयादुत्पन्ना देवा वैमानिका'[५५] इत्युच्यन्ते। यद्वा—यत्रस्थाः परस्परं भोगातिशयं मन्यन्ते इति विमानानि, तेषु भवाः 'वैमानिका' इति।

यद्यपि ज्यौतिष्का अपि देवा स्वस्वविमानेषूत्पन्नास्तिष्ठन्ति, परन्त्वयं वैमानिको शब्द समभिरूढनयापेक्षया सौधर्मादिस्वर्गवासिदेवेष्वेव रूढोऽस्ति।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च

एते खलु वैमानिका देवा द्विविधाः—कल्पोपपन्नाः, कल्पातीताश्चेति। अत्र पूर्वोक्तेन्द्रादिदशविधकल्पना येषु प्राप्यते, ते कल्पोपपन्नाः। कल्पना चेयं सौधर्म्याख्यात्स्वर्गादच्युतस्वर्ग यावदेव प्राप्यतेऽत एष्वेव कल्पेषूत्पन्ना देवा 'कल्पोपपन्ना.'[५६] इत्युच्यन्ते।

अनया च कल्पनयातीता रहिता वा ये देवास्ते 'कल्पातीताः' इत्युच्यन्ते, अच्युतस्वर्गानन्तरं ग्रैवेयकादिस्वर्गेषु कल्पातीतेषु ये उत्पद्यन्ते, ते 'कल्पातीता' देवाः। एतेषामिमौ द्वावेव प्रमुखौ भेदौ, उपभेदास्तु बहवो भवन्ति। तद्यथा—(१) सौधर्म, (२) ऐशानः, (३) सानत्कुमारः, (४) माहेन्द्रः, (५) ब्राह्मः, (६) लान्तवः, (७) शुक्र, (८) सहस्रार, (९) आनतः, (१०) प्राणतः, (११) आरणः, (१२) अच्युतश्चेति। ग्रैवेयकेभ्यो प्रागवस्थिता द्वादशकल्पाः सन्ति। एते च कल्पा सर्वत उपरि स्थिताः विद्यन्ते। एषूत्पन्ना देवा कल्पोपपन्नाः इत्युच्यन्ते, अतएवैषां द्वादशविधत्वात्कल्पोपन्नानामपि द्वादशविधत्वमुपपद्यते।[५७]

एभ्यो कल्पेभ्योऽनन्तरं नवग्रैवेयकाः पञ्चानुत्तराश्च देवा तत्रेन्द्रादिकल्पाभावात्ते कल्पातीता इत्युच्यन्ते। ते च नवग्रैवेयकाः यथा—(१) सुदर्शनम्, (२) अमोघः, (३) सुबुद्धः, (४) पयोधरः, (५) सुभद्रः, (६) सुविशालः, (७)

सुमनस्, (८) प्रियङ्करश्चेति । नवग्रैवेयकेभ्योऽनन्तरं पञ्चानुत्तरा सन्ति । ते च यथा—(१) विजयः, (२) वैजयन्तः, (३) जयन्तः, (४) अपराजितः, (५) सर्वार्थसिद्धिश्चेति ।

अत्र सौधर्मैशानादिषु द्वादशकल्पेषु ज्यौतिष्कविमानेभ्योऽसंख्यातयोजनोपरि मेरोरनन्तरं प्रथमः सौधर्माख्यो कल्पस्ततस्ततोऽनन्तरमन्ये कल्पाः क्रमश उपर्युपरि स्थिताः । कल्पेभ्योऽनन्तरं नवग्रैवेयकास्ततश्च विजयादिकाः पञ्चानुत्तरा अपि क्रमश उपर्युपरि विद्यन्ते ।

देवानां लोकान्तिकत्वम्

जैनदर्शनानुसार लोकस्तावत्पुरुषाकृतिस्तत्र ग्रीवाप्रदेशेऽवस्थितत्वात्तत्रस्थितानां देवाना 'ग्रैवयक' इति व्यवहारः, यद्वा लोकाकाशस्य ग्रीवायामाभरणसदृश-स्थितत्वादिय सञ्ज्ञेति । ग्रैवेयकेभ्योऽनन्तर स्थिता ये विजय-वैजयन्तादयस्तेषा-मनन्तर कस्यचिदपि स्थितेरभावादनुत्तरात्मकत्वात् 'अनुत्तरा' इति व्यवहारः । किन्त्वत्र यो ब्रह्मलोको द्वादशकल्पेषु विद्यते, तत्र येषा देवानामालयाः—निवासाः, सन्ति ते 'ब्रह्मलोकालया'[५८] इत्युच्यन्ते । अस्यैव ब्रह्मलोकस्यान्तः बाह्यप्रदेशेषु निवसन्तस्तत्र भवा वा देवा 'लोकान्तिका' इति । एते सर्वेऽपि ब्रह्मलोक एवोत्पद्यन्ते, नान्येषु कल्पेषु, तथा चैते ब्रह्मलोक परिवृत्याष्टासु दिक्षु स्थितत्वात् अष्टविकल्पा भवन्ति ।

तथाहि—(१) पूर्वोत्तरकोणे सारस्वतविमानम्, (२) पूर्वस्या दिश्यादित्य-विमानम्, (३) पूर्वदक्षिणस्या वह्निविमानम्, (४) दक्षिणस्यामरुणविमानम्, (५) दक्षिणापरकोणे गर्दतोयविमानम्, (६) अपरस्या दिशि तुषितविमानम्, (७) उत्तरापरस्यामव्याबाधविमानम्, (८) उत्तरस्याञ्चारिष्टविमानमिति । अत्राप्येषां मध्येऽन्याभादयो षोडशदेवगणा एषामष्टविधाना विभेदात्मका भवन्ति । तद्यथा—सारस्वतादित्यान्तरेऽन्याभ-सूर्याभा, आदित्यवह्न्यन्तरे चन्द्राभ-सत्याभा, वह्न्यरुणान्तराले श्रेयस्करक्षेमङ्कराः, अरुणगर्दतोयान्तराले वृषभेष्टकामचराः, गर्दतोयतुषितयोर्मध्ये निर्माणरजोदिगन्तरक्षिता, तुषिता-व्याबाधयोर्मध्ये आत्मरक्षितसर्वरक्षिता, अव्याबाधारिष्टयोर्मध्ये मरुद्वस्वः, अरिष्ट-सारस्वतान्तरे च अश्वविश्वास्तिष्ठन्तीति[५९] ।

देवानां स्थिति-प्रभावाद्यपेक्षया क्रमशः हीनाधिकत्वम्

एते सर्वेऽपि देवाः कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च क्रमश पूर्व-पूर्वापेक्षया स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धि-इन्द्रिय-विषय-अवधि-विषयेभ्य उत्तरोत्तर[६०]

अधिका भवन्ति । तथा च गति-शरीर-परिग्रह-अभिमानेभ्यो क्रमश उपर्यु-परिस्थिता देवा हीनाः[११] भवन्ति ।

अथ चैषु वैमानिकेषु देवेषु प्रथमयोर्द्वयोः सौधर्मैशानयोर्पीतलेश्या, सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोकानाञ्च पद्मलेश्या, शेषाणां लान्तवादिसर्वार्थसिद्धिपर्यन्तानां वैमानिकानां शुक्ललेश्या भवति । किन्त्वेष्वपि परस्परं विशुद्धितरत्वं विशुद्धि-तमत्वञ्च क्रमश उपर्युपरि दृश्यते, किन्त्वत्र भट्टाकलङ्कस्यायमभिप्रायो विद्यते यत्—सौधर्मैशानीया देवाः पीतलेश्याः,[१२] सानत्कुमारमाहेन्द्रीयाश्च देवाः पीतपद्मलेश्याः[१३], ब्रह्मलोक-ब्रह्मोत्तर-लान्तव-कापिष्ठीया देवाः पद्मलेश्याः[१४], शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारीयाः पद्मशुक्ललेश्याः[१५], शेषेष्वानतादिषु ये देवास्ते सर्वेऽपि शुक्ललेश्यास्तत्राप्यनुत्तराः परमशुक्ललेश्याः[१६] भवन्तीति ।

नारकाः (Hellish)

संज्ञिजीवेषु देवानां विवेचनं प्रस्तुतम् । सम्प्रति नारकजीवाः विवक्ष्यन्ते । नरान् कायन्ति-आह्वयन्ति, इति नरकाः, अनया व्युत्पत्त्या, तथा चोर्ध्वाधो-मध्यलोकानां व्यवस्थासु यथा देवानामाधारभूतान्यूर्ध्वलोकस्थितानि तत्तद्वि-मानानि, तथैवाधोलोकस्थिताः सप्तनरकपृथिव्यो नारकाणामाधारभूता-स्तिष्ठन्ति, तासूत्पद्यमानत्वात्तन्नामकर्मोदयाच्च प्राणिनो 'नारकाः' इत्यु-च्यन्ते । ताश्च सप्तनरकपृथिव्यो[१७] यथा—(१) घम्मा, (२) वंशा, (३) शैला (मेघा), (४) अञ्जना, (५) अरिष्ठा, (६) माघव्या, (७) माघवीति । एतानि तावद्रूढिकल्पितानि नामानि, परमेतासां तत्तद्गुणापेक्षया यानि नामानि व्यवह्रियन्ते, तानि चेमानि—(१) रत्नप्रभा, (२) शर्कराप्रभा, (३) बालु-काप्रभा, (४) पङ्कप्रभा, (५) धूमप्रभा, (६) तमःप्रभा, (७) महातमः-प्रभा, चेति ।

आसु सप्तविधास्वपि पृथिवीसु स्वस्व-पृथक्प्रभा विद्यते, तदपेक्षयैतासां तथैव व्यवहारो भवति यथा लोके सयष्टिकस्य देवदत्तस्य कृते 'यष्टि'रिति व्यवहारः । अत्र प्रथमायाः रत्नप्रभायाश्चित्र-वज्र-वैडूर्यादिषोडशविधरत्नाना प्रभात्मकत्वात् यथा रत्नप्रभेति संज्ञा, तथैवान्यासामपि तत्तत्प्रभात्मकत्वात् तत्तन्नामव्यवहारो भवति, यतश्च द्वितीयायाः प्रभा शर्करासदृशा, तृतीया-याश्च बालुकासदृशा, एवमन्यासामप्यवसेया । अत्र प्रभापदेन न केवलं दीप्ति-रेवार्थो ग्राह्योऽपितु द्रव्याणां या स्वीया मृजा, सैव प्रभेति । यथा कस्मैचित् 'कृष्णप्रभमिदं' 'रूक्षप्रभमिदं' इति व्यवहारस्तद्गुणापेक्षया[१८] भवति तथैवा-त्रापि ज्ञेयं ।

नरकभूमीनामाधाराः

चतुर्णामपि देवनिकायानां कल्पा यथा क्रमश उपर्युपरिस्थिता विद्यन्ते, तथैव नारकाणामाधारभूता एताः सप्तपृथिव्योऽपि क्रमशोऽधोऽधःस्थितास्तिष्ठन्ति[१९] किञ्च, देवानां कल्पा यथाकाशे निराधाराः सन्ति, न तथेमाः पृथिव्यो निराधारास्तिष्ठन्त्यपितु प्रत्येकमपि भूमिः वातवलयत्रिकेनाधारिता विद्यते। तथाहि—प्रत्येकं भूमि. घनोदधिवातवलयेन, घनोदधिवातवलयश्च घनवातवलयेन, घनवातवलयश्च तनुवातवलयेन, तनुवातवलयश्चाकाशेन, आधृतस्तिष्ठति। आकाशस्य स्वाधृतत्वान्न तस्य कश्चनाधार। अथ चैते त्रयोऽपि वातवलया विंशतिसहस्रयोजनबहुला भवन्ति।

रत्नप्रभायाः विभागः

अत्र रत्नप्रभायास्त्रयो भागा सन्ति—(१) खरपृथिवीभागः, (२) पङ्कबहुलो भाग, (३) अब्बहुलभागश्चेति[२०]। एष्वाद्यो खरपृथ्वीभागश्चित्रादिषोडशविधप्रक्लृप्तरत्नाञ्चित., षोडशसहस्रयोजनबहुल', द्वितीयश्च पङ्कबहुलोभागश्चतुरसीतिसहस्रयोजनबहुलोऽब्बहुलश्च तृतीयो भागोऽशीतिसहस्रयोजनबहुलो विद्यते। इत्थमिय रत्नप्रभापृथिवी अशीत्युत्तरैकलक्षयोजनबहुला तिष्ठति।

तत्र खरपृथिवीभागस्योपर्यधश्चैकैकयोजनसहस्रं भागं परित्यज्यावशिष्टे मध्यभागे चतुर्दशसहस्रयोजनपरिमाणे किन्नर-किम्पुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-भूत-पिशाचाना सप्तव्यन्तरदेवानां, नागविद्युत्-सुपर्णादिनवभवनवासिनाञ्चावासा विद्यन्ते। पङ्कबहुलभागेऽसुरराक्षसानामावासा सन्ति। किन्त्वब्बहुलभागे तु नारका एव सन्ति। अत्रास्ति केषाञ्चन विदुषाम्मतविरोधस्तदनुसार तूर्ध्वमधश्चैकैकसहस्रयोजनं परित्यज्यावशिष्टे मध्यभागे केवलं नारकाणामेवासा.[२१] भवन्तीति।

शर्कराप्रभादीनां बाहुल्यम्

रत्नप्रभातिरिक्ताना पृथिवीना शर्कराप्रभाया.बाहुल्यं सलक्षं द्वात्रिंशद्योजनसहस्रपरिमितम, ततोऽधोऽध स्थिताः षष्ठपृथिवीपर्यन्ता. पृथिव्यो क्रमशश्चतुश्चतुस्सहस्रयोजनोनबाहुल्या, सप्तमपृथिव्या' बाहुल्यं त्वष्टौ सहस्रयोजनमात्रम्। एतासा सर्वासा पारस्परिकमन्तर च तिर्यगसंख्येयकोट्यकोटियोजनात्मक[२२] विद्यते।

सर्वासु रत्नप्रभादिपृथिवीसु नारकाणामावासाः विभिन्नसंख्याकाः सन्ति। तथाहि—आद्यायां रत्नप्रभायां त्रिंशल्लक्षाणि, शर्कराप्रभायां पञ्चविंशतिलक्षाणि, बालुकाप्रभायां पञ्चदशलक्षाणि, पङ्कप्रभायां दशलक्षाणि, धूमप्रभायां त्रीणिलक्षाणि, तमःप्रभायां पञ्चोनमेकलक्षं, महातमःप्रभायाञ्च केवलं पञ्चलक्षसंख्याकानि नरकाणि[१] सन्ति।

तथा चात्र रत्नप्रभाया अब्बहुलभागे उपर्यधश्चैकैकयोजनसहस्रं विहाय तन्मध्यभागे इन्द्रक-श्रेणि-पुष्पप्रकीर्णकविभागेन त्रिविधानि नरकाणि, तत्र तेषु त्रिविधेष्वपि विभागेषु त्रयोदशनरकप्रस्ताराः सन्ति। तत्र सीमन्तक-निरय-रौरवादयस्त्रयोदशा इन्द्रका सन्ति। शर्कराप्रभायाश्चैकादशनरकप्रस्तारास्तत्र च स्तनक-संस्तनकादय एकादशेन्द्रकाः, बालुकाप्रभायाश्च नवनरकपटलास्तत्र च तप्तत्रस्तादयो नवेन्द्रकाः, पङ्कप्रभायाश्च सप्तनरकपटलास्तत्र चारमारतारादयस्सप्तेन्द्रकाः, धूमप्रभायाश्च पञ्चनरकप्रस्तारास्तत्र तम-भ्रम-झषअन्ध-तमिस्राभिधाना पञ्चेन्द्रकाः, तमःप्रभायाश्च त्रयो नरकपटलास्तत्र च हिम-वर्दल-लल्लकनामकास्त्रय इन्द्रकाः, महातमःप्रभायाश्चैक एव नरकपटलस्तत्र त्वप्रतिष्ठानाख्यमेकमेवेन्द्रकनगरम्[२] ।

अत्र सीमन्तनरके चतसृष्वपि दिक्षु विदिक्ष्वपि च निर्गतानां नरकश्रेणीनामन्तरेषु पुष्पप्रकीर्णकानि नरकाणि सन्ति। तत्रैकस्यां दिङ्नरकश्रेण्यामेकोनपञ्चाशन्नरकाणि, विदिङ्नरकश्रेण्याञ्चाष्टचत्वारिंशन्नरकाणि भवन्ति। एवमेव निरयादिष्वपि नरकेषु दिक्षु विदिक्षु चैकैकं क्रमशः परिहाप्य नरका[३] भवन्तीति।

इत्थं रत्नप्रभापृथिव्या त्रयस्त्रिंशदुत्तरचतुश्चत्वारिंशतशतानि श्रेणीन्द्रकनरकाणि (४४३३), सप्तषष्ट्यधिकपञ्चशतपञ्चनवतिसहस्रोत्तरैकोनत्रिंशल्लक्षाणि (२९९५५६७) पुष्पप्रकीर्णकानि सन्ति, सम्मिलितानि च त्रिंशल्लक्षनरकाणि[४] (३००००००)।

द्वितीयायाञ्च शर्कराप्रभापृथिव्या पञ्चनवत्युत्तरषड्विंशतिशतश्रेणीन्द्रकनरकाणि (२६९५), पुष्पप्रकीर्णकानि च पञ्चाधिकत्रिशतसप्तनवतिसहस्रोत्तरचतुर्विंशतिलक्षाणि (२४९७३०५), सम्मिलितानि च पञ्चविंशतिलक्षाणि[५] (२५०००००) भवन्ति।

तृतीयायाञ्च बालुकाप्रभायां पञ्चाशीत्यधिकानि चतुर्दशशतानि श्रेणीन्द्रक-

नरकाणि (१४८५), पुष्पप्रकीर्णकानि च पञ्चदशाधिकपञ्चशताष्टनवति-सहस्रोत्तरचतुर्दशलक्षाणि (१४९८५१५), सम्मिलितानि च पञ्चदशलक्षाणि (१५०००००) भवन्ति ।

चतुर्थ्यां पङ्कप्रभाया श्रेणीन्द्रकनरकाणि सप्ताधिकसप्तशतानि (७०७), पुष्प-प्रकीर्णकानि च त्रिनवत्युत्तरद्विशतनवनवतिसहस्राधिकनवलक्षाणि (९९९२९३), सम्मिलितानि च दशलक्षाणि[७८] (१००००००) भवन्ति ।

पञ्चम्या धूमप्रभायाञ्च पञ्चषष्ट्यधिकद्विशतश्रेणीन्द्रकनरकाणि (२६५), पुष्पप्रकीर्णकानि च पञ्चत्रिंशदुत्तरसप्तशतनवनवतिसहस्राधिकद्विलक्षाणि[७९] (२९९७३५) भवन्ति ।

षष्ठ्या तम प्रभाया तु त्रिषष्टिमात्राणि श्रेणीन्द्रकनरकाणि (६३), पुष्प-प्रकीर्णकानि च द्वात्रिंशदुत्तरनवशतनवनवतिसहस्राणि (९९९३२), सम्मि-लितानि च पञ्चनवत्युत्तरनवशताधिकनवनवतिसहस्राणि[८०] भवन्ति(९९९९५)। तथा च सप्तम्या महातम प्रभाया अप्रतिष्ठितनामकमेक श्रेणीन्द्रकनरक, चत्वारि च श्रेणीनरकाणि, मात्राणि पञ्चसङ्ख्याकानि भवन्ति ।

इत्थ सर्वासामपि पृथ्वीना श्रेणीन्द्रकनरकाणि त्रिपञ्चाशदुत्तरषण्णवतिशतानि (९६५३), पुष्पप्रकीर्णकानि च सप्तचत्वारिंशदधिकत्रिशतनवतिसहस्राधिक-त्र्यशीतिलक्षाणि (८३९०३४७) नरकाणि, सम्मिलितानि च चतुरशीति-लक्षाणि (८४०००००) नरकाणि भवन्ति । इमानि सर्वाण्यप्युष्ट्रकाद्यशुभ-संस्थानानि, शोचनरोदनाक्रन्दनाद्यशुभनामानि च सन्ति ।

नारकाणामशुभतरत्वम्

एतेषा सप्तविधाना नारकाणा (सप्तपृथिवीषु स्थितत्वात्) लेश्याः, परिणामाः, देहादयश्चापि क्रमशोऽशुभादशुभतरनित्या भवन्ति[८१] ।

लेश्याशुभतरत्वम्

उपर्युक्तेषु नरकेषु स्थिताना जीवाना लेश्या नित्याशुभा., अधोऽधश्च क्रमशोऽशुभतरा. भवन्ति । तत्र प्रथमायां भूमौ कापोती लेश्या, द्वितीया तत प्रकृष्ट-तरा कापोती लेश्या, तृतीयायाञ्चोपरिष्टात् कापोतीलेश्या, अधश्च नीला-लेश्या भवति, चतुर्थ्या पृथिव्या ततोऽशुभतरनीला लेश्या, पञ्चम्याञ्चोपरि नीला, अधश्च कृष्णा लेश्या भवति, षष्ठ्या ततः प्रकृष्टा कृष्णा, सप्तम्याञ्च प्रकृष्टतमा परमकृष्णा लेश्या[८२] भवति ।

परिणामाशुभतरत्वम्

एतासु सप्तभूमिषूत्पद्यमानानां जीवानां बन्धन-गति-संस्थान-भेद-वर्ण-गंध-रस-स्पर्श-अगुरुलघु-शब्दाख्यो दशविधोऽशुभः पुद्‌गलपरिणामः नरकेष्वधोऽधोऽशुभतरो[८३] भवति।

देहाशुभतरत्वम्

देहाः—शरीराणि, अशुभनामकर्मोदयनिमित्तात्तदङ्गोपाङ्गसंस्थानाकारस्पर्श-रसगन्धवर्णस्वरादीन्यशुभान्येव भवन्ति। हुण्डानि-निर्लूनपक्षिशरीराकृतीनि क्रूरकरुणबीभत्सप्रतिभयदर्शनानि दुःखभाञ्जि, अशुचीनि च शरीराणि भवन्ति। अतोऽशुभतराणि चाधोऽधो क्रमशः भवन्ति। नारकाणामेतेषां वैक्रियिकशरीरत्वेऽपि, यत् श्लेष्म-मूत्र-पुरीष-मल-रुधिराद्यशुभमौदारिकगत भवति, ततोऽप्यशुभतरत्व[८४] भवति।

अत्र रत्नप्रभायां नारकशरीरोच्छ्रयो सप्तधनूंषि त्रयो हस्ता., षट्चाङ्गुल्य-परिमितो भवत्यधोऽधश्च क्रमशः द्विगुणद्विगुणत्वं भजते।

वेदनाशुभतरत्वम्

आभ्यन्तरासातावेदनीयोदयात् शीतोष्णादिजनितबाह्यतीव्रवेदना[८५] नारकाणां भवन्ति। तत्र-प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थपृथिवीषूष्णवेदनात्मकानि नरकाणि भवन्ति। पञ्चम्याञ्चोपरि द्विलक्षनरकाण्युष्णवेदनानि, अधश्चैकलक्षं शीत-वेदनम्, षष्ठीसप्तम्योश्च शीतवेदनानि एव नरकाणि भवन्ति। इत्थं समुदिते सति द्व्यशीतिलक्षनरकाण्युष्णवेदनानि, शीतवेदनानि तु द्विलक्षमात्राण्येव।

अत्रोष्णत्वशीतत्वयोश्च यत्प्रकृष्टत्वं, तद्यथा—हिमवदाकारस्ताम्रगिरि-र्यद्युष्णवेदकेषु नरकेषु निक्षिप्येत, तदा सः क्षिप्रमेव द्रवीभवेत्। तथा च स एव द्रवीभूतस्ताम्रगिरिर्यदि शीतवेदकेषु निक्षिप्येत, तदा सोऽक्षिनिक्षेपमात्रे काले एव घन. स्यादित्येवमनुमीयमान शीतोष्णत्वं ज्ञेयम्।

विक्रियाशुभतरत्वम्

एतेषां नारकाणा विक्रियाप्यशुभतरा भवति। यदि तेऽभिलषन्ति—'शुभं करिष्याम.' तदप्यशुभतरमेव कुर्वन्ति, शुभं तु दूरमपसरतु। अतएवैते दुःखा-भिभूतमनसा दुःखप्रतीकारचिकीर्षया महतः दुःखहेतून् विकुर्वन्ति। एते एव भावाः अधोऽधः क्रमशोऽशुभतराः[८६] विद्यन्ते।

नारकाणां परस्परं दुःखोत्पादकत्वम्

उपरिलिखितेषु सप्तविधेष्वपि नरकेषूत्पद्यमाना जीवाः परस्परं क्षेत्रस्वभावजनितादशुभपुद्गलपरिणामाच्च परस्परं दुःखोत्पादकाः भवन्ति। यथा खलु कश्चन श्वानोऽन्यं श्वानमवलोक्याकारणादेवानादिकालप्रवृत्तस्वजातिकृतवैरापादितनिर्दयस्वभावात् परस्परं भक्षणभेदनछेदनादिभिरुदीरितदुःखो भवति, तथैव नारका अपि मिथ्यादर्शनोदयाद् भवप्रत्ययेन विभङ्गाख्येनावधिज्ञानेन दूरादेव दुःखहेतूनवगम्योत्पन्नदुःखाः, प्रत्यासत्तौ तु परस्परावलोकनाच्च प्रज्वलितकोपाग्नयः परस्परं देहतक्षणभेदनछेदनादिभिरुदीरितदुःखा भवन्ति। अत्र चतुर्थ्यां नरकपृथिव्याः प्राक्पूर्वजन्मनः सक्लेशपरिणामैर्बद्धस्याशुभकर्मणः समुदयात् सततं संक्लेशपरिणामा असुरकुमाराः नारकाणां वेदनामुदीरयन्तीति।

मानुषाः

देवनारकमनुष्यतिरश्चाम्मध्ये देवनारकाणा विश्लेषणानन्तरं मानुषाणामत्र विवेचन प्रारभ्यते। यथा खलु देवाः स्वर्गेषूपरिस्थितेषु लोकेषु, नारकाश्चाधःस्थितेषु लोकेषु नरकेषु निवसन्ति, तथैव मानुषा अपि मध्यस्थिते लोके मानुषक्षेत्रे निवसन्तस्तिष्ठन्ति। एते मानुषाः मानुषोत्तरपर्वतात्प्राक् पञ्चचत्वारिंशल्लक्षयोजनायामिते क्षेत्रे पञ्चत्रिंशत्सु क्षेत्रेषु, षट्पञ्चाशदन्तर्द्वीपेषु च मनुष्यायुर्गतिनामकर्मोदयादुत्पद्यमानत्वात् 'मानुषाः'[८७] इत्युच्यन्ते। अर्थादेतेषामिय सज्ञा पर्यायो वा मनुष्यपर्यायजन्मापेक्षया (तन्नामकर्मोदयापेक्षया) एवास्ति। किञ्चैते-संहरण-विद्या-ऋद्ध्यपेक्षया तु सार्धद्विद्वीपे, मेरुशिखरे[८८] चापि प्राप्यन्ते।

मानुषाणां भेदाः

यथा देवनारकाणा तत्तत्क्षेत्रेषूत्पद्यमानत्वाद्विभिन्नाः सज्ञास्तथैव मनुष्याणामपि मनुष्यक्षेत्रे विद्यमानाना विभिन्नाना क्षेत्राणामपेक्षया तत्र तत्रोत्पन्नत्वाद्विभिन्नाः संज्ञाः सन्ति। तथाहि—भरतक्षेत्रे समुत्पन्नाः जीवा 'भारतकाः', हैमवतक्षेत्रे चोत्पन्ना. 'हैमवतका' इत्यादय. तत्तत्क्षेत्रोत्पन्नास्तत्तत्क्षेत्रकृतसंज्ञाकास्तथा च जम्बूद्वीपे समुत्पन्नाः 'जम्बूद्वीपकाः' इत्यादिद्वीपसज्ञाकास्तथा च लवणसमुद्रे समुत्पन्नाः 'लवणका', इत्थं मनुष्यलोकस्य क्षेत्र-द्वीप-समुद्रादिविभागापेक्षया मनुष्याणामप्यनेके विभेदा. सन्ति। परं ययोर्द्वयोः प्रमुखविभागयोरेतेषां सर्वेषामपि विभागानामन्तर्भावः सञ्जायते, तौ विभागो यथा—आर्याः, म्लेच्छाश्च[८९]।

१. आर्याः

अत्र गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते-सेव्यन्ते, इत्यार्याः[१०]। येषु वर्णाचारः प्राप्यते, ते 'आर्याः' इति वा । आर्या अपि ऋद्धिप्राप्तानृद्धिप्राप्तेतिभेदेन द्विविधास्तत्रापि अनृद्धिप्राप्तार्याः पञ्चविधाः[११]—(१) क्षेत्रार्याः, (२) जात्यार्याः, (३) कर्मार्याः, (४) चारित्रार्याः, (५) दर्शनार्याश्चेति ।

क्षेत्रार्याः

अत्र काशी-कौशलादिक्षेत्रेषूत्पन्ना आर्या क्षेत्रार्यास्तत्तद्विभागेषूत्पन्नाः जात्यार्याश्च इक्ष्वाक्वादिज्ञातिषु भोजादिकुलेषूत्पन्नत्वात्तत्संज्ञाकाः[१२] भवन्ति ।

कर्मार्याः

किञ्च—कार्मार्यास्तु असि-मषी-कृषि-विद्या-शिल्पवणिक्कर्मभेदैः षड्विधाः[१३] भवन्ति । तथाहि—असिधनुरादिप्रहारप्रयोगकुशला 'असिकर्मार्याः' । अर्थस्याय्व्ययादिलेखननिपुणा 'मषीकर्मार्याः', हलकुलीदन्तालकादिकृष्युपकरणादीनां विधानविदो कृषिबला 'कृषिकर्मार्याः', आलेख्यगणितादिद्विसप्ततिकलाकुशलाः 'विद्याकर्मार्या' चतुष्षष्टिगुणसम्पन्ना भवन्ति । शिल्पकर्मार्याश्च रजक-नापित-अयस्कार-कुलाल-सुवर्णकारादयो, वणिक्कर्मार्यास्तु चन्दन-घृत-शालि-कार्पास-मुक्तादिनानाविधगन्ध-रस-धान्य-आच्छादन-द्रव्यसंग्रहकारिणो बहुविधा भवन्ति ।

षड्विधाः अप्येतेऽविरतिप्रवीणत्वात्सावद्यकर्मार्याः इत्युच्यन्ते । अल्पसावद्यकर्मार्यास्तु-विरत्यविरतिपरिणामात्मका श्रावकाः, श्राविकाश्चेति, असावद्यकर्मार्याश्च कर्मक्षयार्थमुद्यता विरतिपरिणामात्मकाः 'संयता' भवन्तीति ।

चारित्रार्याः

अत्र चारित्रार्यास्तावदधिगतचारित्रार्याः, अनधिगतचारित्रार्याश्चेति द्विविधा[१४] भवन्ति । अत्रायं भेदो खलु अनुपदेशोपदेशापेक्ष एवास्ति । तथाहि—चारित्रमोहस्य क्षयादुपशमाच्च बाह्योपदेशानपेक्षत्वेऽपि आत्मप्रसादादेव चारित्रपरिणामास्कन्दिनरुपशान्तकषाया क्षीणकषायाश्चाधिगतचारित्रार्याः, अनधिगतचारित्रार्याश्च-अन्तश्चारित्रमोहक्षयोपशमे सति बाह्योपदेशनिमित्तविरतिपरिणामाः 'अनधिगतचारित्रार्या' इति ।

दर्शनार्याः

दर्शनार्यास्तु—आज्ञामार्गोपदेशसूत्रबीजसंक्षेपविस्तारार्थावगाढपरमावगाढरुचि-भेदाद्दशविधाः[५] । तत्र भगवदर्हत्प्रणीतागममात्रश्रद्दधाना 'आज्ञारुचयः', निःसङ्गमोक्षमार्गश्रवणमात्रजनितरुचयः 'मार्गरुचयः', तीर्थङ्करबलदेवादिशुभ-चरितोपदेशहेतुकश्रद्धाना 'उपदेशरुचय', प्रव्रज्या-मर्यादा-प्ररूपणाचार-सूत्र-श्रवणमात्रेण समुद्भूतसम्यग्दर्शनाः 'सूत्ररुचयः', बीजपदग्रहणपूर्वकेन सूक्ष्मार्थ-तत्त्वार्थश्रद्धाना 'बीजरुचय.', जीवादिपदार्थसमाससम्बोधनसमुद्भूतश्रद्धानाः 'संक्षेपरुचयः', अङ्गपूर्वविषयजीवाद्यर्थविस्तारप्रमाणनयादिनिरूपणोपलब्ध-श्रद्धाना 'विस्ताररुचय', वचनविस्तारविरहितार्थग्रहणजनितप्रसादा 'अर्थ-रुचय', आचारादिद्वादशाङ्गाभिनिविष्टश्रद्धाना 'अवगाढरुचयः' परमावधि-केवलज्ञानदर्शनप्रकाशितजीवाद्यर्थविषयप्रसादा 'परमावगाढरुचयः' इति ।

ऋद्धिप्राप्तार्याः

अनृद्धिप्राप्तार्यास्तु पञ्चविधा एवोपर्युक्ता, किन्तु ऋद्धिप्राप्तार्या अष्टविधा[६] भवन्ति । तद्यथा—बुद्धि-क्रिया-विक्रिया-तपो-बल-औषध-रस-क्षेत्रभेदादष्ट-विधा. । तत्र बुद्धिरवगमो ज्ञान वा, तद्विषया अष्टादशविधा ऋद्धयस्तथाहि—केवलज्ञानमवधिज्ञानम्, मन पर्ययज्ञानम्, बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, पदानुसारि-त्वम्, सभिन्नश्रोतृत्वम्, दूरादास्वादन-दर्शन-स्पर्शन-घ्राण-श्रवणसमर्थता दश-पूर्वित्वञ्चतुर्दशपूर्वित्वमष्टाङ्गमहानिमित्तज्ञता प्रज्ञाश्रवणत्वम्, प्रत्येकबुद्धता, वादित्वञ्चेति ।

क्रियाविषया ऋद्धिश्च-चारणत्वमाकाशगामित्वञ्चेतिभेदाद्द्विविधा । तत्र चारणा —जलजङ्घातन्तुपुष्पपत्रश्रेण्यग्निशिखाद्यालम्बनगमनभेदा अनेक-विधा । आकाशगामिनश्च-पर्यङ्कावस्था निषण्णा कायोत्सर्गशरीरा. वा पादो-द्धारनिक्षेपणविधिमन्तरेणापि आकाशगमनकुशला भवन्ति । विक्रियागोचरा-ऋद्धिरणिमा-महिमा-लघिमा-गरिमा-प्राप्ति प्राकाम्यमीशित्व वशित्वमप्रति-घातोऽन्तर्ध्यान कामरूपित्वमित्यादिरनेकविधा. । तपोऽतिशयर्द्धिस्तूग्र-दीप्त-महाघोर-तपो-वीर-पराक्रम-घोरब्रह्मचर्यभेदात्सप्तविधा भवति । बलालम्बना-ऋद्धिस्तु-मनोवाक्कायभेदात्त्रिविधा । औषधर्द्धि—असाध्यानामप्यामयानां विनिवृत्तिहेतुरामर्शक्ष्वेल-जल्ल-मलविट् सर्वौषधिप्राप्तास्यविषाः, दृष्टिविषाः, क्षीरास्रविण., सर्पिरास्रविणः, अमृतास्रविणश्चेति षड्विधा भवति ।

क्षेत्रर्द्धिप्राप्तार्याश्च-अक्षीणमहानसाऽक्षीणमहालयाश्चेति द्विविधास्तत्र लाभा-

न्तराय क्षयोपशमप्रकर्षप्राप्तेभ्यो यतिभ्यो यतो भिक्षा दीयते ततो भाजनाच्चक्रधरस्कन्धावारोऽपि यदि भुञ्जीत तदपि तद्दिवसे नान्नं क्षीयते, तेऽक्षीणमहानसाः। अक्षीणमहालयलब्धिप्राप्ताश्च यतयो यत्र वसन्ति तत्र देवमनुष्यतिर्यग्योना यदि सर्वेऽपि वसेयुस्तदपि परस्परमबाधमानाः सुखमासते। किन्त्वत्र केचनाचार्याः केवलं षड्विधा[९७] एवार्याः स्वीकुर्वन्ति, ते च यथा—
(१) क्षेत्रार्याः, (२) जात्यार्याः, (३) कुलार्याः, (४) कर्मार्याः, (५) शिल्पार्याः, (६) भाषार्याश्चेति।

तत्र पञ्चदशसु कर्मभूमिषूत्पन्नास्तथा च भरतक्षेत्रस्य सार्धपञ्चविंशतिजनपदेषु अवशिष्टेषु तु केवल चक्रवर्तिविजयेषु क्षेत्रेषूत्पन्नाः मानुषा 'क्षेत्रार्याः', इक्ष्वाकु-विदेह-हर्यम्बष्ठादिज्ञातिषूत्पन्ना 'जात्यार्याः', कुलकरचक्रवर्तिनोऽन्ये चातृतीयपञ्चमसप्तमेभ्यो कुलकरेभ्यो विशुद्धान्वयप्रकृतयो 'कुलार्याः', यजन-याजन-अध्ययन-अध्यापन-प्रयोग-कृषि-लिपि-वाणिज्य-योनिपोषणवृत्तयो 'कर्मार्याः', तन्तुवाय-कुलाल-नापित-तुन्नवाय-देवटादयोऽल्पसावद्या अगर्हिता जीवा 'शिल्पार्याः'। ये च शिष्टभाषानियतवर्णलोकरूढस्पष्टशब्दं पञ्चविधानामप्यार्याणां संव्यवहारार्थं भाषन्ते, ते 'भाषार्याः' इत्युच्यन्ते।

इत्थं क्षेत्र-जाति-कुल-कर्म-शिल्प-भाषाद्यपेक्षया ज्ञानदर्शनचारित्रविषये येषामाचरणं शीलञ्च शिष्टलोकैरभिमतं न्याय्यं धर्माविरुद्धञ्च भवति, ते 'आर्या' इति व्यवह्रियन्ते।

२. म्लेच्छाः

येषाञ्चाचरण शीलाद्विपरीतं, भाषाचेष्टादयश्चाव्यक्ताः, अनियताश्च भवन्ति, ते 'म्लेच्छाः'[९८] इत्युच्यन्ते। एते चान्तर्द्वीपज-कर्मभूमिजेतिभेदाद्द्विविधा[९९]। तत्र लवणोदधेरष्टसु दिक्ष्वष्टौ द्वीपाः, तेषामन्तराले चाष्टौ द्वीपाः, हिमवतः शिखरिणः, विजयार्धयोश्चान्तरालेऽष्टौ द्वीपा, समुदिताश्च चतुर्विंशतिरन्तर्द्वीपास्तेषूत्पन्ना म्लेच्छाः 'अन्तर्द्वीपजा'[१००] इत्युच्यन्ते। तत्र दिक्षुद्वीपाः वेदिकायास्तिर्यक् पञ्चयोजनशताग्रे विद्यन्ते, विदिक्ष्वन्तरालबहिर्द्वीपाश्च पञ्चाशदधिकपञ्चशतयोजनं प्रविश्य सन्ति। पर्वतान्तिमभागवर्तिनश्च द्वीपा षड्योजनशतं प्रविश्य भवन्ति। तथा च दिग्वर्तिनो द्वीपा शतयोजनविस्तीर्णाः, विदिग्वर्तिनश्च पञ्चाशतयोजनविस्तृताः, पर्वतान्त.वर्तिनश्च पञ्चविंशतियोजनविस्तृता भवन्तीति।

तत्र पूर्वस्यां दिशि एकोरुकाः, अपरस्यां दिशि लांगूलिनः, उत्तरस्यां भाषकाः, दक्षिणस्याञ्च विषाणिनः प्राणिनः सन्ति । विदिक्षु तु शशकर्ण-शष्कुलीकर्ण-कर्णप्रावरण-लम्बकर्णा, अन्तरेषु चाश्व-सिंह-श्व-महिष-वराह-व्याघ्र-उलूक-कपिमुखाः, शिखरिण उभयोरन्तयोश्च मेघविद्युन्मुखाः, हिमवत उभयोरन्तयोश्च मत्स्यमुखा कालमुखाश्च, उत्तरविजयार्धस्योभयोरन्तयोः हस्तिमुखाः, आदर्शमुखाश्च, दक्षिणविजयार्धस्योभयोरन्तयोश्च गोमुखाः मेषमुखाश्च प्राणिनो निवसन्ति ।

तत्रैकोरुका मृदाहारा गुहावासिनः, शेषास्तु पुष्पफलाहारा वृक्षवासिनश्च सन्ति । एते सर्वेऽपि पल्योपमायुषो भवन्ति । अत्र द्विविधेषु म्लेच्छेषु कर्मभूमिजास्तु शक-यवन-शबर-पुलिन्दादयो भवन्ति, अन्तर्द्वीपजाश्च म्लेच्छा एव भवन्तीति ।

तिर्यञ्चः

तिरोभावः—न्यग्भावः उपवाह्यत्वमित्यर्थः । ततः कर्मोदयापादितभावानां तिरश्चियोनिर्येषां ते तिर्यग्योनयः[१०१] । औपपादिकेभ्यो देवनारकेभ्यो, गर्भज-सम्मूर्च्छनजेभ्यो मानुषेभ्यश्च व्यतिरिक्ताः ये ते तिर्यग्योनयस्ते चैकेन्द्रियादि-पञ्चेन्द्रियान्ताः खलु सूक्ष्मबादरभेदाभ्यां द्विविधा भवन्ति । तत्र सूक्ष्मनाम-कर्मोदयापादितभावा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः सूक्ष्मा सर्वलोकव्यापिनः । बादरनामकर्मोदयापादितभावाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयो विकलेन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्च यत्र कुत्रचिदेव वर्तन्ते, न तु सर्वत्र ।

यथा खलु देवानामूर्ध्वलोकः, मनुष्याणां मध्यलोको, नारकाणामधोलोकस्तथै-वैतेषामपि यद्यप्याधारविशेषो (तिर्यग्लोक) मध्यलोक एवास्ति, तदपि तेषां स्थावरकायरूपेण सर्वत्रापि सद्भावात् सर्वलोकव्यापकत्वम् । मूलतस्त्विमे मध्यलोकस्थितत्वादेव 'तिर्यञ्च' इति सार्थकनामा सन्ति ।

एवमिमे संसारिणः प्राणिनश्चतुर्विधा देवनारकमानुषतिर्यञ्चस्तत्तन्नामकर्मो-दयात्तत्तज्जातिषु समुत्पन्नाः पुनः पुनः शुभाशुभकर्माणि कुर्वन्तश्च भवाद्-भवान्तरमधिगतवन्तस्तत्तज्जन्मोपात्तशुभाशुभफलं भुञ्जन्तोऽस्मिन्नेव जगच्चक्रे संसरन्तस्तिष्ठन्त्यतएवैतेषां संसारीति संज्ञा । अत एतेषां संसारि-त्वमनादितः प्रचलन्नद्यापि वर्तते, भविष्यत्यपि च स्थास्यति, अनाद्यनन्तत्वा-दिति ।

ये चात्मानो (जीवाः) अष्टविधैस्सर्वैरपि कर्मभिर्विमुक्ताः, केवलं स्वस्मिन् (आत्मनि) एव विचरन्ति, ते सर्वेऽपि सांसारिकजन्म-फल-कारणाद्विमुक्ताः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रयुक्ता भूत्वा मुक्तत्वं भजन्ते। एतेषां सांसारिक-बन्धनैर्विमोक्षस्य साधनानां, मोक्षावाप्तिहेतूनां, मोक्षावाप्तौ च तत्स्वरूपादीनां विवरणं षष्ठाध्याये वक्ष्यमाणत्वन्नात्र विश्लेषितमिति।

आत्मनः पारतन्त्र्यम्

यः खल्वात्मा रागद्वेषाभ्यां संयुक्तो भवति, यस्य बुद्धिर्वा मिथ्यात्वेन ग्रसिता भवति, स एव मलिनत्वमधिगच्छति। तया च बुद्ध्या पञ्चेन्द्रियविषयोप-भोगात्, हिंसादिपञ्चविधपापाचरणाच्च यस्यात्मा कर्ममलीमसः, अथ चार्त-रौद्रध्यानतीव्रपरिणामयुक्तो जायते, स एव तत्तन्निमित्तात्पारतन्त्र्यमधि-[101] गच्छति।

अत्र ये खलु रागद्वेषादयः, मिथ्यात्वादयः, रौद्रार्त्तध्यानाः, कषायाश्च तेषा-मत्र संक्षेपतो विवेचनमावश्यकम्।

रागः (Love)

रमणीयेषु योषितादिद्रव्येषु आत्मपरिणामरूपेच्छया, बाह्यवस्तुभिश्च सहैकी-भवनरूपपारिणामात्मिकया मूर्च्छया, अभीष्टवस्तुनोऽभिलषितेन कामेन, विशिष्टानुरागरूपेण स्नेहेन, अप्राप्तवस्तुनोऽभिकाङ्क्षणेन गार्ध्येन, 'इदं मदीय' 'अहमस्येश्वर' इत्यादिमनःपरिणामात्मकेन ममत्वेन, अभीष्टप्राप्तौ परितोषेणाभिनन्दनेन वा यदास्रवते, तदेव 'रागः'[102] इत्युच्यते।

द्वेषः (Hatred)

यस्य जीवस्यात्मनि परविभवादिदर्शनात् 'एतेन विभवेनायं वियुज्यताम्' 'विभवश्चायं ममैवास्तु' 'कस्यचिदन्यस्य मा भूत्' इत्यादिको यश्चित्तपरि-णामस्तदेवेर्ष्या, तया चेतरस्य कस्यचिदपि सौभाग्य-रूपलोकप्रियत्वादिदर्शना-दुत्पन्नेन क्रोधरूपेण रोषेण, दूषणात्मकेन दोषेण, परदोषोत्कीर्तनेन परिवादेन, सद्धर्माद्विचलनरूपेण च मत्सरेण, परगुणोत्कर्षाद्यसहनात्मकेनासूयत्वेन, परस्परं कलहादिनोत्पन्नेन क्रोधात्मकेन वैरेण, प्रकृष्टस्य क्रोधस्य प्रशान्त-

कोपाग्नेश्च संधोक्षणात्मकेन प्रचण्डेन वात्मनि य. भावः समुत्पद्यते, स एव 'द्वेषः[104]' इति ।

मिथ्यात्वम् (Wrong-Belief)

जैनदर्शनानुसारमर्हत्प्रतिपादितानां तत्त्वानामश्रद्धानमेव मिथ्यात्वम् । तच्च त्रिविधम्-अभिग्रहीतानभिग्रहीतसन्देहभेदेन । तत्र त्रिषष्टिशतत्रयं पाखण्डि-शतानां यन्मतम् तदभिग्रहीतम्, अप्रतिपन्नदेवतापाखण्डरूपमनभिग्रहीतम्, श्रुतज्ञानस्यैकस्मिन्नप्यक्षरे पदे वाऽनभिरुचिस्सन्देह । यस्य चैतत्त्रिविधं मिथ्यात्वं, तस्य बुद्धिरप्यवश्यं मलिना भवति । बुद्धेर्मालिन्येन च जीवः पञ्चेन्द्रियाणां विषयेष्वासक्तो भवति, अथ च हिंसाऽनृतास्तेयकुशीलपरिग्रहा-दिपञ्चपापेषु प्रवृत्तो भवति । एतस्माच्च कर्मणामास्रवो प्रारभते, कर्मास्रवा-च्चात्मनि कर्मरूपमलस्य पृथुला राशिरैकत्रिता भवति, तया चात्मा परतन्त्र-त्वमधिगच्छति[105] ।

आर्त्तध्यानम्

ऋतं दुखं, संक्लेशस्तत्र भवमार्त्तम् । आर्त्तञ्च यद्ध्यानं तदार्त्तध्यानम् । एतच्चतुर्विधं भवति । तथा हि—अप्रियवस्तुनः सम्बन्धे सति तन्निवृत्त्यर्थं रात्रिन्दिव यच्चिन्तन, तदात्मकं ध्यानमाद्यम् । येन केन वा रोगेण व्याकुलिते सति तन्निराकरणार्थं रात्रिन्दिवं तद्विषयकं चिन्तनं द्वितीयं ध्यानम् । अभीष्ट-वस्तुनो विप्रयोगे सति, पुनस्तत्प्राप्त्यर्थं यच्चिन्तनं रात्रिन्दिवं, तत्तृतीयम् । तथा च चक्रवर्त्यादीनां विभवदर्शनात् 'ममाप्यस्य तपसः फलं परलोके एवंविध एव स्यादि'त्यात्मकं चिन्तनं चतुर्थमार्त्तध्यानमिति[106] ।

रौद्र-ध्यानम्

क्रूरो-नृशंसो वा रुद्रस्तस्येदं रौद्रम् । रौद्रं यद्ध्यानं तद्रौद्रध्यानमिति । एतदपि चतुर्विधम्—अत्र 'येन केन प्रकारेण यन्त्रविशेषेणोपायविशेषेण वा, प्राणिनो व्यापाद्या.' इत्यात्मक चिन्तन हिंसानुबन्ध्याख्यं प्रथम रौद्रध्यानम् । यैश्च कूटसाक्षिदानादिविभिन्नोपायै परो वञ्च्यते, तेषामुपायानां चिन्तनं द्वितीय-मनृतानुबन्धिरौद्रध्यानम् । तथा च यैर्यैरुपायैः घुर्घुरुक-कर्तरिका-छेदक-खात्रादिभि. परधनमादीयते, तेषां चिन्तनं स्तेयानुबन्धी तृतीयं रौद्रध्यानम् । धनधान्यादिपरिग्रहसंरक्षणार्थं रात्रिन्दिव तदुपायानां चिन्तनं चतुर्थं विष-यानन्दी रौद्रध्यानम्[107] ।

अनयोर्द्वयोरपि ध्यानयोरात्मपरिणामास्तीव्रतरा जायन्ते । यस्य चैमे भावाः स नूनमेव रागद्वेषाधीनत्वमधिगच्छति । तेन च जीवरक्षादीनां कार्याणा, प्राणिहिंसादीनाञ्चाकार्याणां निर्णयेऽक्षमः, कलुषितपरिणामात्मकेन कालुष्येण च युक्तः सन् निर्मलभावात्मिकया विशुद्ध्यापरिचितश्चाहार-भय-मैथुन-परिग्रहादिकलहैर्ग्रस्तः रागादीनामाधीनत्वमुपगच्छति ।

सकषायत्वम् (With-Passion)

यश्च जीवः शताधिकानां गतीनामनेकेषु जन्ममरणात्मकेषु परिभ्रमणेषु पुनः पुनः परिभ्रममाणः क्लिष्टाष्टविधकर्मभिर्बद्धस्तथा च सहस्राधिकनरकादि-गतिषु निरन्तरं दुःखैराक्रान्तत्वात् कृशतामधिगमनाच्च करुणास्पदः, तथा च विषयेष्वीदृशोऽनुरक्तो यत्तस्येच्छा विषयसुखावाप्तावपि न तज्जनितेन सुखेन शाम्यति, अपितु सततं वर्द्धत एव, अस्मात्कारणात् विषयतृष्णया तृषितो रागद्वेषाधीनत्वमधिगच्छति । रागद्वेषादय एव कषायस्तदात्मकत्वादेवायं क्रोधी, मानी, मायावी, लोभवांश्च[१०८] जायते ।

तत्र मोहकर्मोदयादुत्पन्न आत्मनो क्रोधनपरिणामो क्रोधः । अनेनास्मिन्नेव लोके स्वीयैः प्रियजनैः सह स्नेहविच्छेदाद्दुःखमुत्पद्यते । अहमेव ज्ञानी-दाता-शूरश्चेत्यादिकात्मपरिणामो मानः । अस्माच्च विनयो विनश्यते । विनयश्च धर्ममूलमतः मानोदये सति, उपजातगर्वः जीवः देव-गुरु-साधु-वृद्धेषु यथायोग्यं करणीयाद्धर्माद्विनयाद्वा भ्रंश्यते । सत्यवादिनमेव पुरुषं लोकः (जनाः) न्यास-काद्युपस्थानं करोति, यतो हि तस्य प्रत्यर्पणे सत्यात्मकत्वाल्लोकस्तस्मिन् विश्वसिति, अयमेव विश्वासः प्रत्ययः । परं शाठ्यपरिणामस्य मायायाः समुदये सति न्यासकापह्नवात्मकादसत्यभाषणात्प्रत्ययस्य हानिर्भवति । आत्मनो लोभपरिणामश्च तृष्णा, तदुदयाच्च लोभाभिभूतो क्षमामार्दवादीनां सर्वेषामपि गुणानां समूलकाषमाप्नोति, तस्माच्च सर्वगुणविनाशभाग्भवति[१०९] ।

क्रोधः (Anger)

यथा खलु दाहज्वरपीडितस्य रोगिणो कायः सर्वदा परिदहति, तथैव क्रोधिनोऽप्यन्तरात्मा सततं परिदहति । क्रोधाभिभूतेन च कुतश्चिन्निमित्तात् कृतो वध-बन्धनाभिघातादिवैरः सन्तानपरम्परामुत्पादयति । अतएवायं सर्वस्यापि भयमुत्पादयति । क्रोधिनश्च मुक्तावप्यसमर्थत्वात् क्रोधो मुक्तिघातकः । शास्त्रेष्वपि श्रूयते, यत् सुभूमपरशुरामादयो क्रोधाविष्टात्मकत्वादेव न सुगतिं (मोक्षं) लब्धवन्तः । अनेन ज्ञायते, यत्क्रोध एवेहलोकपरलोकयोरपायकारी[११०] ।

मानः (Pride)

आगमः श्रुतम्, सर्वज्ञप्रणीतागमानुचरणं च शीलम्। परं गर्वोदयात् तद्युक्तं शास्त्रज्ञं दृष्ट्वा जनैरुच्यते यदयं 'श्रुतवानप्येवं गर्वितः' 'तेनैव मत्तः-मानी जातः' शास्त्रेषु श्रूयते-यत् 'श्रुतेन तु मानत्यागः कार्यः' यतो हि, श्रुतज्ञानेन मदो निर्मथ्यते, न चानेनासौ मदो निर्मथितोऽतः ज्ञानज्ञानिनोरभेदत्वात् श्रुतमेव दूषितं भवति।

एवमेव धर्मार्थकामानामप्ययं मानः विघ्नकारी भवति। तथाहि—कश्चन विनयरहितः शीलवानपि दुःशील एव, विनयरहितत्वे तु धर्मेऽपि विघ्नकारित्वं मानस्य, धर्मस्य विनयमूलकत्वात्। अर्थस्य चोपादानकारणं धर्मोऽतः धर्मविघ्नकारित्वादर्थेऽपि विघ्नकारित्वमस्योपपद्यते। यतो हि राजादिना विनयत एव पुरस्कारादयः संयोज्यन्ते। कामस्यापि च सम्प्राप्तिरर्थ-विनयसम्पन्नस्यैव दरीदृश्यते, यतो हि—कुलयोषिता वेश्यानाञ्च चित्तानुरोधलक्षणया चेष्टया कामी सुखभाग्भवति, अर्थविनयाभावे तु मान तत्रापि विघ्नकारकं भवेदतएव मानस्य धर्मार्थकामेषु विघ्नकारित्वं, श्रुतशीलदूषणत्वञ्चास्ति[111]।

माया (Deciet)

यथा खलूद्धृतदंष्ट्रोऽपि सर्पः लोकैः दूरादेव परिह्रियते, तथैव मायाशीलोऽपि यदि सम्प्रति मायाचरणात्मकात् पूर्वस्वभावाद् विरतस्तदापि पूर्वदृष्टदोषैर्जनैः पूर्वकृतेन दोषेण युक्तत्वादुपहन्यते, भुजङ्गवदविश्वास्यश्च[112] भवति।

लोभः (Greed)

सर्वेषामपि वैर-विरोध-स्तेयादीनां विनाशानामाश्रयो लोभ एव। तथाहि—हिताद् व्यंसयन्ति पुरुषमिति व्यसनानि, तेषां द्यूत-स्त्री-मद्य-आखेट-अर्थदूषणादीनां व्यसनानां राजमार्ग इव लोभ एव। यथा खलु राजमार्गेण द्विजादयश्चाण्डालादयश्च सर्वेऽपि गमनक्षमास्तथैव लोभराजमार्गेण सर्वाण्यपि व्यसनानि प्रस्फुटन्तीतस्ततः मनुष्यं गमयन्त्यागमयन्ति च। अत एवंविधस्य लोभस्य मुखे पतितः लोभपरिणामभाक् कः खलु दुःखानन्तरं सुखमुपेयात्[113] ? एवमेते सर्वेऽपि क्रोध-मान-माया-लोभाः नरकादिविभिन्नासु गतिषु परिभ्रामकत्वात् तीव्रदुःखदायकाः, संसरणमार्गप्रवर्त्तकाश्च सन्ति।

अस्यायमाशयः यद् हिंसानृतादिपापानामाचरणं संसारहेतुः, एतेषां पापानामाश्रयरूपश्च कषायवशीभूतो जीवः। ततश्च सः सांसारिक एव तिष्ठति।

सांसारिकत्वादेवात्मा पारतन्त्र्यमधिगच्छति, यतो हि, संसारस्थितो जीवो न कदापि पापैर्विमुक्तं स्वातन्त्र्य कथमप्यनुभवितुं शक्नोतीति ।

आत्मनो भवान्तरसंक्रमणम्

भवान्तरप्राप्तिः (Transmigrate)

जीवस्वभावः परिणामात्मकस्तत्परिणामेन च स यादृशानि कर्माणि गृह्णाति, आत्मसाद्वा करोति, तानि सर्वाण्यपि कर्माणि यथासमयमुदयं सम्प्राप्य स्वशक्त्यनुसारं फलं दातुं शक्नुवन्ति । तस्य फलस्य च जीवेनावश्यमेव भोक्तव्यत्वात्तत्कर्मनिमित्तकं जन्ममरणं संसारिणां जीवस्योपपद्यते ।

अत्र सञ्चितस्यायुष्कर्मणः समाप्तिर्मरणम्, नूतनस्यायुष्कर्मणश्चावाप्तिर्जन्मेत्युच्यते । मरणानन्तरमन्यज्जन्मग्रहण भवान्तरप्राप्तिस्तदर्थमात्मनो यत्संक्रमण जायते, तदेव भवान्तरसक्रमणमिति ।

भवान्तरग्रहणार्थ च कदा, कुत्र, केन मार्गेण, केन विधिना वा जीवेन गमनं क्रियते ? इत्यादिकं सर्व तत्कर्मनिमित्तादेव भवति, तथा च कर्मानुसारमेव यथायोग्यं जन्मक्षेत्रमधिगतो जीव औदारिकं वैक्रियिक वा शरीररचनायोग्यं पुद्गलद्रव्यं ग्रह्णाति । कर्मनिमित्तादेव तच्छरीरं भवति, यतोहि शरीररचनायोग्यपुद्गलाना ग्रहणमेव जन्मेति । तदेतज्जन्म सम्मूर्च्छनम्, गर्भः, उपपादश्चेति त्रिविधं[११८] भवति ।

सम्मूर्च्छनम् (Spontaneous)

त्रिष्वपि लोकेषूर्ध्वमधस्तिर्यक् समन्ततो देहस्य मूर्च्छनम्-अवयवप्रकल्पनम्, सम्मूर्च्छनमिति, अर्थात् यत्र जीव उत्पद्यमानस्तत्स्थानीयपुद्गलद्रव्यस्य तज्जीवशरीररूपपरिणमन सम्मूर्च्छनम्[११९] । तद्यथा—काष्ठादिषु घुणोत्पादः, फलादिषु क्रम्यादीनामुत्पादः, शैत्योष्ण्यनिमित्ताच्छरीरे वस्त्रादिषु वा यूकादीनामुत्पादः, जलादीनां निमित्ताद्बीजादिष्वङ्कुरोत्पत्तिः, पृथिव्याञ्च तृणादीनामुत्पादः सम्मूर्च्छनमुच्यते । यतो हि तत्स्थाने जीवस्यागमनादेव तत्स्थानीयाः पुद्गलाः शरीररूपेण परिणता. भवन्ति । एतदेव सम्मूर्च्छनम् । एकेन्द्रियाच्चतुरिन्द्रियपर्यन्ताना सर्वेषामपि जीवानामेतदेव जन्म भवतीति ।

गर्भः (Uterine)

स्त्रिय उदरमुपगतयो शुक्रशोणितयोर्यत्र गरणं-मिश्रणं भवति, स गर्भ इत्युच्यते । अर्थात् स्त्री-पुरुषयोः संयोगे सति तयोः रजो-वीर्यसंयोगाद्यच्छरीरमुत्पद्यते,

तदेव गर्भजन्मेत्युच्यते[११६]। यथा खलु पशु-पक्षि-मनुष्याणामिदं भवति, अथवा मात्रोपभुक्तस्याहारस्यात्मसात्करणादुपभोगाद् गर्भ इत्युच्यते ।

उपपादः (Instaneous)

उपेत्य पद्यतेऽस्मिन्नित्युपपादः । देवनारकाणां शरीररूपपरिणमनमेवोपपाद, इत्युच्यते, अर्थात् देवनारकाणामेव नियतस्थानपुद्गलेभ्य उपपादो[११७] भवति ।

गर्भजाः जीवाः (Uterine-Birth)

तत्र जरायुजानामण्डजपोतानाञ्च गर्भजन्म[११८] एव भवति । नान्येषामेतद्व्यतिरिक्तानाम् । अर्थात् गर्भजन्म जरायुजाण्डजपोतानामेव भवतीति । अत्र जालवत्प्रांततो विततं सशोणितं जीवस्य यदावरणं तज्जरायुरिति,[११९] तत्र जाताः जरायुजाः (Umbilical) मनुष्य-गो-महिष-अजा-अविका-अश्व-खर-उष्ट्र-मृग-चमर-वराह-गवय-सिंह-व्याघ्र-ऋक्ष-द्वीपि-श्व-शृगाल-मार्जारादयः[१२०] ।

अण्डजाश्च सर्प-गोधा-कृकलाश-गृहकोकिलिका-मत्स्यकूर्म-नक्र-शिशुमारादयः, लोमपक्षाः पक्षिणः—हंस-चाष-शुक-गृद्ध-श्येन-पारावत-काक-मयूर-मद्गु-बक-बलाकादयश्च । अत्र खलु शुक्रशोणितपरिवरणमण्डल नखत्वक्सदृशमुपात्त-काठिन्य यत्तदण्डम्,[१२१] तत्र जाता अण्डजाः (Incubatory) इति ।

किञ्चित्परिवरणमन्तरेण परिपूर्णावयवो योनिनिर्गतमात्र एव परिस्पन्दादि-सामर्थ्योपेत पोत[१२२]इत्युच्यते । पोताश्च (Unumbilical) शल्लक-हस्ती-श्वा-विल्लापक-शश-सारिका-नकुल-मूषकादय , चर्मपक्षाः पक्षिण जलूका-वल्गुलि-भारण्डपक्षी-विडालादयश्चेति । एतेषा जरायुजाण्डजपोताना त्रिविधाना गर्भ-जन्म एव भवतीति ।

एषु त्रिविधेष्वपि जरायुजा अभ्यर्हिताः, तेषु भाषाध्ययनादीनां क्रियाणां सत्त्वात् । एषु समुत्पन्नाः केचित्तु चक्रधर-वासुदेवादिमहाप्रभावा अपि भवन्ति तथा च सम्यग्दर्शनाद्यभ्युदयेन मोक्षसुखेनापि युज्यन्ते ।

उपपादजन्म तावत्केवलं देवनारकाणामेव भवति । अत्र तयोर्देव-नारक-गति-नामकर्मोदयाद्देवनारकादिव्यपदेशत्वात्तयोरिद जन्मेति न स्वीकरणीयम्, यतो हि तत्तद्गत्युदयस्तु विग्रहगतावेवास्ति परं न तत्र तत्तच्छरीरं विद्यते, तत्तच्छरीरनिर्वर्तकपुद्गलाभावात् । अतोऽत्र देवनारकादिशरीरनिर्वृत्तौ देवा-दिजन्मैवेष्टम्[१२३] ।

शेषाणां जरायुज-अण्डज-पोत-देव-नारकातिरिक्तानां सर्वेषां सम्मूर्च्छनं जन्म भवति । अर्थात् शेषाणामेव सम्मूर्च्छनं जन्म भवति, न तु जरायुजाण्डजपोत-देवनारकाणामिति[१२४] ।

जन्माश्रयाः (Birth-Place Or Nuclei)

इत्थमष्टविधकर्मरूपेणास्मिन् संसारे बद्धानां जीवानां जन्मोपरिलिखितेन त्रैविध्येन भवति । तच्च यत्र कुत्रचिदपि जीवेन धार्यते, सर्वत्रापि तदाधार-भूता योनयः सन्ति । योनिस्तु-पूर्वशरीरस्य विनाशे सत्युत्तरशरीरयोग्यं पुद्गलद्रव्यं यत्र गत्वा संग्राह्य कार्मणशरीरेण संसारिजीवो युज्यते, तत्स्थानम् । ताश्चेमा नवविधाः[१२५] भवन्ति, तथाहि—

(१) सचित्तयोनयः, (Living Matter)
(२) अचितयोनयः, (Non-Living-Matter)
(३) सचित्ताचित्तयोनयः, (Combination of Birth)
(४) शीतयोनयः, (Cold)
(५) उष्णयोनयः, (Hot)
(६) शीतोष्णयोनयः, (Combination of Both)
(७) संवृतयोनयः, (Covered)
(८) विवृतयोनयः, (Exposed)
(९) संवृतविवृतयोनयश्चेति । (Combination of Both)

अत्राचित्तयोनिका देवनारकाः भवन्ति, यतो हि तेषामुपपादप्रदेशपुद्गल-प्रचयोऽचित्तो भवति । सचित्ताचित्तयोनयश्च जीवा गर्भजास्तेषां तदात्मना चित्तवता मातुरुदरे शुक्रशोणितमचित्तं मिश्रम् । सम्मूर्च्छनजेषु केचन जीवाः सचित्तयोनयोऽन्येऽचित्तयोनयोऽपरे सचित्ताचित्तयोनयस्त्रिविकल्पाः भवन्ति । देवनारकाणां केषाञ्चनोपपादस्थानानां शीतात्मकत्वादुष्णात्मक-त्वाच्च शीतयोनित्वमुष्णयोनित्वञ्चाप्यस्ति । अग्निकायिकैकेन्द्रियजीवास्तु केवलमुष्णयोनय एव भवन्ति । अन्येषु केचन शीतयोनयः केचनोष्णयोनयः, केचन शीतोष्णयोनयो भवन्ति, संवृतयोनयस्तु देवाः, नारकाः, एकेन्द्रियाश्च जीवाः । विकलेन्द्रियस्तु विवृतयोनयः, गर्भजाश्च संवृतविवृतयोनयो-ऽवगन्तव्याः[१२६] ।

योनीनामुत्तरभेदाः

एतासां नवविधानां योनीनामुत्तरभेदाश्चतुरशीतिलक्षमिताः, ते च प्रामुख्येन यथा—नित्यनिगोतानां (त्रिष्वपि कालेषु ये न त्रसभावमधिगन्तु योग्यास्ते नित्यनिगोताः) जीवानां सप्तलक्षसंख्याकानि, पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकादीनां प्रत्येकं सप्तलक्षाणि वनस्पतिकायानामपि दशलक्षाणि, विकलेन्द्रियाणां द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां षड्लक्षाणि (प्रत्येकं द्विलक्षमितानि), देवनारकपञ्चे-न्द्रियतिरश्चां द्वादशलक्षाणि (प्रत्येकस्य चत्वारि लक्षाणि), मनुष्याणाञ्च चतुर्दशलक्षमितानि योनिभूतान्युत्पत्तिस्थानानि भवन्ति। एतानि सर्वाणि समुदितानि चतुरशीतिलक्षसंख्याकानि भवन्तीति।

शरीराणि (Bodies)

एषां त्रिविधजन्मनां संसारिणामनेकविधयोनीनां शुभाशुभनामकर्मनिर्वर्त-नानि बन्धफलानुभवनाधिष्ठानानि शरीराणि तु पञ्चविधानि[१२७] भवन्ति। तद्यथा— १—औदारिकम्, २—वैक्रियिकम्, ३—आहारकम्, ४—तैजसम्, ५—कार्मणञ्चेति।

शीर्यन्ते यथायोग्यं समयं सम्प्राप्यात्मना सम्बन्धं विच्छेद्य पौद्गलिकवर्गणा-रूपेणेतस्ततः प्रकीर्णा भवन्तीति शरीराणि। औदारिकादिषु पञ्चष्वप्ययं स्वभावो दृश्यतेऽतएवेमानि शरीराणीत्युच्यन्ते।

शरीररचना

अथ चैषा शरीराणां संरचनाऽन्तःपुद्गलविपाकिशरीरमनाकर्मोदयापेक्षया भवति। तत्रौदारिकशरीरनामकर्मोदये सति, उदार-स्थूल-आसार-पुद्गल-द्रव्यैर्यज्जायते तदौदारिकम्[१२८]। विक्रिया च प्रयोजनं यस्य, तद्वैक्रियिकम्, वैक्रियिकनामकर्मोदये सति विक्रिया-विविधकरणता-अणिमादिकाष्टर्द्धियुक्तं गुणयुक्तं वा यत् पुद्गलद्रव्यवर्गणोद्भूतं तद्वैक्रियिकम्[१२९]। सूक्ष्मपदार्थनिर्ज्ञा-नार्थमसंयमपरिजिहीर्षया च प्रमत्तसंयतेनाह्रियते, निर्वर्त्यते, यत्तदाहारकम्। आहारकशरीरनामकर्मोदये सति विशिष्ट-प्रयोजनसिद्धौ समर्थम्, शुभतर-विशुद्धपुद्गलद्रव्यवर्गणोद्भूतमन्तर्मुहूर्त्तस्थितिमात्रं च यत्तदाहारकम्[११०]। तेजो-निमित्तं तेजसिभवं वा तैजसम्, तैजसशरीरनामकर्मोदये सति तेजोगुणयुक्त-पुद्गलद्रव्यवर्गणोत्पन्नं तैजसं लब्ध्यलब्धिभेदेन द्विविधम्[१११]।

तत्र लब्धिरूपतैजसमपि शुभाशुभभेदेन द्विविधं भवति। तत्र गोशालकवद्य-स्य तैजसलब्धिः स क्रोधादिवशीभूतः सन् स्वशरीराद्बहिस्तैजसमेकमाकृतिकं

निस्सारयति, यच्चोष्णगुणयुक्तत्वादन्यस्य दाहकरणक्षमं भवति, तदशुभलब्धि-तैजसम्, शापदानाद्यशुभक्रियासमर्थमपि भवति। प्रसादे तु तदेव तैजसं शीतगुणयुक्तं निःसृत्यापरेषामनुग्रहकरणक्षमं शुभलब्धितैजसमित्युच्यते। अलब्धितैजसं तु पाचनशक्तियुक्तत्वादुपभुक्तस्याहारस्य पाचकं भवतीति।

किञ्चाष्टविधकर्मणां समूहरूपं यच्छरीरं, तत्कार्मण[112]मित्युच्यते। कर्मभि-र्निष्पन्नं, कर्मसु भवं, कर्मण्येव वेति कार्मणम्। अत्रान्येषां शरीराणां, तत्तन्नामकर्मोदयापेक्षत्वात्तच्छरीरनिष्पत्तिर्भवत्यतो नात्र सर्वेषां तेषां कार्मणत्वप्रसङ्गः समायाति।

शरीरस्वामिनः

एतेषु पञ्चविधेषु शरीरेषु गर्भसम्मूर्च्छनजन्मभिः प्राप्तमौदारिकं[113] शरीरम्, औपपादिकजन्मभिर्देवनारकैरधिगतं वैक्रियिकं[114] शरीरम्, अर्थादौदारिक-शरीरस्य गर्भसम्मूर्च्छनजाः, वैक्रियिकस्य च देवनारकाः स्वामिनो भवन्ति। वैक्रियिकस्य लब्धिप्रत्ययत्वात् औदारिकशरीरिषु मनुष्यतिर्यक्षु[115] तपसादि-निमित्तात् सम्प्राप्तशक्तिविशेषादिदं युज्यते। तैजसमपि लब्धिप्रत्ययं भवति। अथ शुभं, विशुद्धमव्याघातिशरीरमाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव, नान्यस्य[116] कस्यचित्सञ्जायते।

शरीराणां सौक्ष्म्यम्

पञ्चविधेष्वेषु शरीरेषु पूर्वपूर्वशरीरापेक्षयोत्तरशरीराणां सूक्ष्मता[117] विद्यते। तद्यथा—औदारिकशरीरापेक्षया वैक्रियिकं सूक्ष्मं, तदपेक्षया चाहारकम्, आहारकादपि तैजसम्, तैजसादपि च कार्मणशरीरं सूक्ष्म भवति। अत्र सूक्ष्म-पदेन पारस्परिकापेक्षया सूक्ष्मता ग्राह्या भवति। तद्यथा—मनुष्याणां तिर-श्चाञ्च शरीरं स्वभावत एव दृष्टिपथमायाति, अतएवौदारिकं शरीरं सर्वतः स्थूलम्, किन्तु वैक्रियिकं शरीरं विक्रियया एव द्रष्टुं शक्यते, न तु स्वभावेनात इदमौदारिकापेक्षया सूक्ष्माहारकापेक्षया तु स्थूलं भवति, आहारकस्य ततोऽपि सूक्ष्मत्वादियं सूक्ष्मतापेक्षिकीत्युच्यते। एवमेव तैजसापेक्षयाहारकं स्थूलं किन्तु तैजसमपि कार्मणापेक्षया स्थूलमतः कार्मणशरीरमेव केवलं सर्वतः सूक्ष्मं (सूक्ष्मतमं) विद्यते। अर्थात्कार्मणशरीरे सर्वतोऽधिका सूक्ष्मता, यतो हि, याभिः पुद्गलवर्गणाभिः शरीराणि विरच्यन्ते, तासां प्रचयः उत्तरोत्तरमधिकाधिक-सूक्ष्मो सघनश्च भवति।

शरीराणामसंख्येयगुणत्वम्

अत्रोक्तशरीरेषूत्तरोत्तरं सौक्ष्म्यं यथा विद्यते, तथैवोत्तरोत्तरमेतेषा प्रदेशेष्व-संख्येयगुणत्वमपि भवति । इदञ्चासंख्येयगुणत्वं तैजसात्प्रागेव[158] भवति । तद्यथा— औदारिकशरीरस्य यावन्तो प्रदेशास्तावन्तः प्रदेशाः वैक्रियिकस्य न भवन्त्यपितु औदारिकापेक्षया वैक्रियिकशरीरप्रदेशा असंख्यातगुणाः वैक्रियिक-शरीरापेक्षया चाहारकशरीरप्रदेशा असंख्यातगुणा भवन्ति । अत्र प्रदेशपदेन परमाणूनामेव ग्रहणं[159] भवति ।

अत्र च यदिदमसख्येयगुणत्वम्, न तच्छरीरोत्कृष्टप्रमाणापेक्षयापितु शरीर-विगाहनशक्त्यपेक्षयास्ति । यथा खलु समयपरिमाणाना तूल-काष्ठ-पाषाण-अयोगोलादीनामुत्तरोत्तरमाधिक्य भवति, तथैवात्रापि । परमत्र तेषां शरीराणां प्रदेशा उत्तरोत्तरं सूक्ष्मतरा अपि सन्त उत्तरोत्तरं प्रदेशापेक्षयाधिकतराः भवन्तीति वैशिष्ट्यम् ।

शेषयोरनन्तगुणत्वम्

औदारिक–वैक्रियिक—आहारकादतिरिक्तयोर्द्वयोस्तैजस - कार्मणोरनन्तगुणत्वं विद्यते, अर्थादाहारकप्रदेशापेक्षया तैजसप्रदेशा अनन्तगुणात्मका., तैजसप्रदेशा-पेक्षया च कार्माणप्रदेशा अनन्तगुणाः सन्ति । तथापि द्वे अप्युत्तरोत्तरे सूक्ष्म-सूक्ष्मतरे[160] स्त. ।

अनयोर्द्वयोश्शरीरयोरस्त्येकमन्यद्वैशिष्ट्यम्, तथाहि—इमे द्वे अपि अप्रति-घातात्मके[161] भवत', अर्थादनयोर्गति वज्रपटलेनापि न प्रतिहता भवति । किन्त्वनयोरिय गतिर्लोकान्ते तु सहकारिकारणाभावाद् (धर्माधर्माभावात्) प्रतिकृता भवत्येव ।

तैजस-कार्मणोरनादिसम्बन्धत्वम्

अथ चानयोर्द्वयोस्तैजसकार्मणोर्यावदयं संसारस्तावज्जीवेन सह सम्बन्ध-स्तिष्ठति, ससारिणश्च जीवा अनादिकालादेव संसारिण , अतएवानयोर्जीवे-नानादि[162] सम्बन्धो विद्यते । एते च द्वे एव शरीरे प्रत्येकमपि संसारिणो भवन्ति ।

एतेषु पञ्चविधेषु शरीरेषु तैजस-कार्मणाभ्या सहान्यान्यपि शरीराण्येकस्यैव जीवस्य भवितु शक्नुवन्ति । तद्यथा—तैजसकार्मणे तु सर्वेषा भवत एव,

अतस्ताभ्यां सहैवौदारिकं तृतीयं शरीरम्, अथवा वैक्रियिकं तृतीयं शरीरं भवितुं शक्नोति। यदि कस्यचिज्जीवस्य चत्वारि शरीराणि भवन्ति, तत्तानि शरीराणि तैजसकार्मणाभ्यां सह औदारिकवैक्रियिकात्मकानि, औदारिकाहारकात्मकानि वा भवितुमर्हन्ति। यतो हि—तत्राहारकवैक्रियिकयोरुत्पत्तेः परस्परं विरुद्धत्वान्न तयोर्यौगपद्यं युज्यते। अस्मात्कारणादेव पञ्चविधानि अपि शरीराणि नैकस्मिन्[13] जीवे सम्पद्यन्ते। यदि केवलं द्वे एव शरीरे कस्यचिज्जीवस्य भवतस्तदा ते तु तैजसकार्मणे एवावगन्तव्ये।

कार्मण उपभोगरहितत्वम्

अत्र पञ्चविधेषु शरीरेषु कार्मणं शरीरमन्त्यम्, तच्चोपभोगरहित भवति, यतो हि नानेन सुखदुःखयोरुपभोगः, कर्मणा बन्धो वा, कर्मफलानुभवनं, निर्जरणं वा विधास्यते। अतएवेदं निरुपभोगमित्युच्यते[14]। एतदतिरिक्तान्यन्यानि चत्वारि शरीराणि सोपभोगानि सन्ति, यतश्च तैः सुखदुःखादीनामुपभोगो, कर्मणां बन्धस्तत्फलानुभवनं, निर्जरणञ्चापि भवत्यत औदारिकादीनि चत्वार्येव सोपभोगानीत्युच्यन्ते।

अत्रोपभोगस्तु इन्द्रियनिमित्तशब्दाद्युपलब्धिः, अतो जीवस्य विग्रहगतौ सत्यामपि इन्द्रियोपलब्धौ द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्यर्थाभावात् शब्दादिविषयानुभवनाभावाच्च निरुपभोगं कार्मणमिति।

विग्रहगतिः (Transmigration)

कार्मणमिदं शरीरं विग्रहगतौ केवलमेव तिष्ठति। अत एतन्निमित्तक एव योगः—प्रदेशपरिस्पन्दस्तत्र जीवस्य भवति। अत्रौदारिकादिनामकर्मोदयात्तत्तच्छरीरयोग्यपुद्गलानां ग्रहणं विग्रहः। विरुद्धो ग्रहो यत्रार्थाद्यत्र कर्मपुद्गलाना ग्रहणे सत्यपि नोकर्मपुद्गलाना ग्रहणाभावः, स विग्रह इति। तदर्थं च या गतिरात्मना क्रियते सा विग्रहगतिरित्युच्यते[15]। क्षेत्रात्क्षेत्रान्तरप्राप्तिर्गतिः। ये च जीवाः विग्रहगतिकास्तेषा कर्मकृत एव योगः प्राप्यते। कार्मणशरीरेण यत्प्रदेशपरिस्पन्दन तदेव कर्मयोगः[16] इत्युच्यते। एतदतिरिक्तासु सर्वास्वप्यवस्थासु कायवाङ्मनस्त्रिविधोऽपि योगो भवतीति।

अत्रेय गतिश्शरीरधारणार्थमेव भवति, सा चैकदेशाद्देशान्तरप्राप्तिरूपा, जन्माज्जन्मान्तरप्राप्तिरूपा वा भवति। तत्रैक शरीरं परित्यज्यान्यच्छरीरप्राप्तिरन्यत्र गत्वा जीवो विदधाति, सा देशान्तरप्राप्तिरित्युच्यते। एतदर्थं

यदात्मनो संसरणं, न तच्चेष्टारूपाद्योगादृते शक्यम्। अतएव त्यक्त-ग्राह्यशरीर-योर्त्याग-ग्रहणमध्यवर्तिनी या जीवस्य गतिः, सैव विग्रहगतिरित्यभिधीयते।

गतेर्वैविध्यम्

विविधापीयं गतिः प्रामुख्येन द्विविधा-ऋज्वी, वक्रा चेति। तत्र धनुषाक्षिप्ते-षुरिव यस्य जीवस्य गतिः, सा ऋज्वी गतिः। एतद्विपरीता वक्रा तु त्रिविधा– पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका, गोमूत्रिका[१७] चेति।

अत्र यथा पाणिना तिर्यक्प्रक्षिप्तस्य द्रव्यस्य गतिरेकविग्रहा, तथा संसारिणा-मेकविग्रहा पाणिमुक्ता गतिर्द्विसामयिकी भवति। यथा च लाङ्गलं द्विवक्रितं, तद्वत् त्रिविग्रहा लाङ्गलिका गतिर्गोमूत्रिकी च चतुस्सामयिकी भवतीति।

तदेताः सर्वा अपि विग्रहगतय आकाशप्रदेशश्रेण्यनुसारमेव भवन्ति। लोकस्य मध्ये तिर्यगुपर्यधश्चाकाशप्रदेशाः क्रमशश्श्रेणिबद्धास्तिष्ठन्ति, एतदनुकूलमेव सर्वेषां जीवपुद्गलाना गतिर्भवति।

गतेरनुश्रेणित्वम् (Sheet Wise Spread)

अनुश्रेण्याः गतेर्देशो कालश्च नियतो भवति। जीवाना मरणानन्तरं नूतनपर्याय-धारणकाले, तथा च मुक्तजीवानामूर्ध्वगमनकाले गतेरनुश्रेणित्वमुपजायते। ऊर्ध्वलोकादधः, अधोलोकाच्चोपरि, तिर्यग्लोकाच्चोपर्यधश्च या गतिर्भवति सा अनुश्रेणिरेव[१८] भवति। पुद्गलानाञ्चापि या लोकान्तं यावद्गतिः, सापि नियमतोऽनुश्रेणिरेव भवति। परं मुक्तजीवस्य तु गतिरविग्रहैव[१९] जायते।

संसारिणो जीवाः यदा स्वीयं शरीरं परित्यज्यान्यत्शरीरमधिगन्तुं भवान्तरार्थ गमनं कुर्वन्ति, तदा तेषां यादृश जन्मक्षेत्र, तादृशी एव विग्रहात्मिकाऽविग्र-हात्मिका[२०] वा गतिर्भवति। यदि विग्रहवतिगतियोग्यं क्षेत्र, तद्गतिरपि विग्रहा, यद्यविग्रहगतिरूपं क्षेत्र तदविग्रहागतिर्भवतीति।

गतौ समयनिर्धारणम्

किञ्चेयं गतिस्तिर्यगूर्ध्वमधः यत्र-कुत्रापि भवतु, तत्र न चत्वारि समयादधिको काल उपयुज्यते। यतो हि, जगति न कश्चनैतादृशो देशो विद्यते, यत्प्रापणार्थं त्रयोधिका विग्रहाः सन्तु। अतो गतिरपि चतुःसमयात्प्रागेवोपपद्यते। अत्र कालापेक्षया गतेश्चातुर्विध्यमुपजायते—(१) अविग्रहा, (२) एकविग्रहा, (३)

द्विविग्रहा, (४) त्रिविग्रहा चेति। तत्रेषुगतिरिव ऋजुगतिरेकसमयात्मिका, लोकाग्रभागं यावज्जीवस्य पुद्गलानाञ्च गतिरेकसमयात्मिकैव भवति। यस्याञ्च गतावेको विग्रहः, सा द्विसमयात्मिका, द्विविग्रहवती च त्रिसमयात्मिका, त्रिविग्रहवती च गतिश्चत्वारि समयात्मिका[१५१] भवतीति।

विग्रहगतावनाहारकत्वम् (Non-Assimiliativeness)

भवाद्भवान्तरमधिगच्छन् एक-द्वि-त्रिसमयं यावज्जीवोऽनाहारकस्तिष्ठति। अत्रौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरयोग्यानां षड्पर्याप्तियोग्यानाञ्च पुद्गलानां ग्रहणमाहारः, तैजसकार्मणशरीरपुद्गलास्तु मोक्षात्प्राग्प्रतिक्षणमागच्छन्तस्तिष्ठन्ति। अतो कार्मणशरीरकारणात् गच्छन्नपि पूर्वदेहपरित्यागदुःखसंतप्तो जीवोऽष्टविधकर्मपुद्गलेभ्यो निर्मितेन कार्मणशरीरेण नोकर्मपुद्गलग्रहणादाहारको[१५२] भवतीति।

अत्रैकसमयात्मिक्यां गतौ नोकर्मपुद्गलान् ग्रहणन्नेव गच्छत्यतः नाऽनाहारको भवति, द्विविग्रहवत्यां त्रिकालिकायाञ्च गतौ द्विसमयमनाहारकस्त्रिविग्रहवत्यां चतुःसमयात्मिक्याञ्च गतौ त्रिसमयमनाहारकस्तिष्ठति। चतुर्थे समये आहारक एव भवतीति।

एवं भवक्षये सति मरणमुपगतो जीवोऽन्यद्भवप्राप्त्यै अविग्रहया विग्रहया वा गत्याकाशप्रदेशपङ्क्त्यनुसारं गच्छन्, स्वकर्मानुसारं स्वोपपातक्षेत्रं यत्रानेन जन्म ग्राह्यं, तत्क्षेत्र गत्वा शरीरयोग्यान् पुद्गलान् गृह्णाति। पुनश्च तत्रोपगृहीतेन शरीरेण नानाविधानि कर्माणि कुर्वन् सकषायत्वात्कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते, तदा च बन्धभाग्भवति। तथा च तेन बन्धेन समुपजातराग-द्वेष-मोहः पुनः काय-वाङ्-मनोयोगैर्नानाविधेषु शुभाशुभेषु द्रव्येषु संजातराग-द्वेषत्वात् संसारी जायते। तत्र चोपार्जितायुष्कर्मणः पुनःक्षये सति मरणमधिगच्छति। ततश्च पुनर्जन्म पुनर्मरणमित्यादिजन्ममरणात्मके संसरणे परिभ्रमन्, भवाद्भवान्तरमधिगच्छन् संसारोदधौ निमज्जन् तिष्ठतीति।

आत्मकर्मणोः सम्बन्धः

किमिद नाम कर्म ? का चावश्यकतास्य ययेदं स्वीकृतं दार्शनिकैः ? विषयेऽस्मिन् समग्राणामपि दर्शनाना पर्यालोचनेन ज्ञायते यत्पूर्ववर्तिभिर्महर्षिभिर्केवलमेतदर्थमेव कर्म स्वीकृतम्, यत् तर्कनिकषायां परीक्षितेऽपि न जगतः स्रष्टा ईश्वरादिरूपो कश्चनापि तिष्ठति, एतद्विषयेऽनेके प्रश्ना उपस्थिता-

स्तिष्ठन्ति यैर्न कोऽपि जगतः सर्जकः इति सिध्यति। नाप्यसंख्यजातीनां जगद्वै-चित्र्यस्यास्य केनाप्येकेन निर्माणं सम्भवं स्यात्। वस्तुतस्तु प्रत्येकमेव जीवः स्वीयस्य जगतः स्वयमेव स्रष्टा। स्वयमेव स्वीयस्य शरीरादिरूपस्यास्य जगतः स्रष्टा कथं सः सिध्यतीति कर्मसिद्धान्ताना विवेचनेन मननेनाध्ययनेन च सुस्पष्टतया ज्ञायते।

किमिदं नाम कर्म ?

राग-द्वेषादियुक्तेऽस्मिन् संसारिजीवे प्रतिसमय परिस्पन्दरूपात्मिका क्रिया भवन्ती तिष्ठति, तन्निमित्तेनात्मनि एकमचेतनं द्रव्यं यदा बीजरूपमागच्छति, तदैव रागद्वेषादिपरिणामनिमित्तादात्मनि बन्धत्वमधिगच्छति। यच्च काले प्राप्ते सति सुखदुःखरूपपरिणामफलं दातु क्षम जायते, तदेव कर्मेति[१५३] कथ्यते। यथा खल्वाकरे स्वर्ण-पाषाणयोरनादिकालिकस्सम्बन्ध. प्रचलन्नद्यापि विद्यते, तथैव जीवकर्मणामप्यनादिकालिकः सम्बन्धो विद्यते। जीवोऽनादिकालतस्तु सर्वथा शुद्धचैतन्यस्वरूप एवासीत्पश्चात्कस्मिंश्चित्काले तस्य कर्मभिस्सम्बन्धः सञ्जात, नैतादृशी व्यवस्था विद्यते, यतश्च जीवकर्मणामनादिस्सम्बन्ध-स्सर्वैरेव स्वीक्रियते। यतो ह्यस्य कर्मग्रहणस्वभाव., स्वभावश्च कारणं विनैव सहजतया जायते। प्रकृति., शीलमप्यस्यैव नामान्तराणि। यथा खल्वग्ने-रूर्ध्वगमन, वायोस्तिर्यग्गमन, जलस्य चाधोगमन स्वभावस्तथैवात्मनो स्वभावः रागादिरूपपरिणाम, रागादीनाञ्च स्वभावो रागादिरूपपरिणा-मयकः।

कर्मणां रागाद्युत्पादकत्वम्

यथा खलु भङ्ग-मदिरादिमादकपदार्थानां मादकस्वभावस्तदुपयोगकानाञ्च तन्मदेन मत्तस्वरूपो परिणामः, तथैव जीवस्वभावो रागद्वेषादिकषायरूप-परिणमनम्, तथा च कर्मणां रागादिकषायस्वरूपेण जीवस्य परिणामकः, यावच्चानयोर्द्वयोस्सम्बन्धस्तावदेव विकाररूपो जीवस्य[१५४] परिणाम। अयञ्चा-नादिकालत एव स्वतस्सम्बन्धयुक्तोऽस्ति। अत्र जीवस्यास्तित्वमहमित्या-त्मिकया प्रतीत्या, कर्मणाञ्चास्तित्वं जीवानां भिक्षुक-श्रीमतादिरूपवैचित्र्य-परिणामेन प्रत्यक्षत एव[१५५] दृश्यते।

अनादिः कर्मपरम्परा

अद्याप्ययमात्मा स्थूल-सूक्ष्म-कर्मशरीराभ्यां बद्धो विद्यते। अस्य ज्ञान, सवेदन, सुखदुःखानि, जीवनशक्तिश्चापि, सर्वेऽपि शरीराधीनाः। शरीरे च विकारे

सति ज्ञानतन्तूनां क्षीणत्वं, स्मृतेर्भ्रंशः, उन्मादादीनामाविर्भावश्चापि जायते। आत्मनः संसरणशीलत्वात् शरीरे बद्धत्वेऽपि गत्यात्मकत्वमस्ति। यद्यात्मा शुद्धः स्यात्तर्हि शरीरसम्बन्धस्य न किञ्चित्कारणमन्यत्। शरीरसम्बन्धस्य च राग-द्वेष-मोह कषायादिभावाः हेतुभूताः, शुद्धात्मनि चैतेषां परिणामानां भावो शुद्धात्मकत्वादशक्यः[55] स्यात्। किन्त्वेते विभावास्तेषां शरीरसम्बन्धरूपं फलञ्च प्रत्यक्षतयैवानुभूयेतेऽतो ज्ञायते, यदद्यावधिरियमस्याशुद्धपरम्परैव प्रचलन्ती विद्यते।

अस्यायमेवाभिप्रायो यज्जीवस्य रागद्वेषादिवासना, पुद्गलकर्मबन्धसन्ततिश्च बीजवृक्षसन्ततिवदनादित एव वर्तन्ते। पूर्वोपार्जितकर्मोदयाद्रागद्वेषादयस्समुत्पद्यन्ते, तदा च या जीवस्यासक्तिः, सैव कर्मबन्धहेतुर्भवति। किन्त्वत्र न केवलं पूर्वोपार्जितकर्मभोगान्नवीनानां कर्मणां बन्धो जायतेऽपि तु तत्र (भोगकाले) नूतनरागादिभावानामुत्पत्तिरपि बन्धहेतुरूपोत्पद्यते।

नूतनकर्मोत्पत्तिः

यथा खलु तप्तमयःपिण्डं पयसि प्रक्षिप्ते सति, पयःपरमाणून् स्वस्मिन् गृह्णाति, तथा च शोषितेषु तेषु परमाणुषु केचन बहिर्गच्छन्ति बाष्परूपेण, यावच्च तत्पिण्डमुष्णं तिष्ठति, तावदियं प्रक्रिया प्रचलति, येन पयसि मन्थनञ्चापि भवति। तथैव यदायमात्मा रागद्वेषादिभिरुत्तप्तो भवति, तदा शरीरे हलनचलनक्रियोत्पद्यते। तद्यथा—क्रोधे चक्षूंषि रक्तवर्णानि जायन्ते, रुधिरगतिर्वर्धते, वदनं शौष्क्यमुपगच्छति, नासिकापुटौ च स्फुरतः, कामवासनायाः जागृतौ सत्यां शरीरे तु मन्थनविशेषः प्रारभते। यावच्च नायं कषायः शांतो भवति, तावन्मन्थनं भवत्येव, नावरुध्यतेऽर्थादात्मनो विचारानुसारमेव पुद्गलद्रव्येष्वपि परिणमनं जायते। तद्विचारोत्तेजकाश्च पुद्गलपरमाणवो वासनया (कषायेण) युक्ते सूक्ष्मकर्मशरीरे श्लिष्टाः भवन्ति। यदा च ते कर्मपुद्गलाः स्फुरन्ति, तदा पुनःपुनस्तेषां भावानामुत्पत्तिः, ततश्च नूतनकर्मपुद्गलानामास्रवः, ततश्च तत्परिपाकानुसारं नूतनरागादिभावानामुत्पत्तिर्जायते। एवं रागादिभावकर्मपुद्गलाना सम्बन्धेनेदं जगच्चक्रं, यावन्न विवेकचारित्राभ्यां रागादीनां विनाशस्तावत् सततं प्रचलति।

अतएव सम्यग्दृष्टेः पूर्वकर्मणामुपभोगः रागादिभावानामभावात्मकत्वान्निर्जराहेतुर्भवति। यदा हि तेनैवोपभोगेन मिथ्यादृष्टिर्नूतनैःकर्मभिर्बध्यते। यतो हि सम्यग्दृष्टिस्तु पूर्वकर्मोदयोत्पद्यमानान् रागादिभावान् स्वज्ञानात् शमयति, न तेषु नूत्नामासक्तिं करोति। अतस्तानि कर्माणि फलदानानन्तरं निर्जरामधि-

गच्छन्ति । मिथ्यादृष्टिस्तु नित्यं प्रति नूत्नवासनासक्तितया द्रुतेन कर्मबन्धत्वमधिगच्छति ।

भौतिकमिदं जगत् पुद्गलेनात्मना च प्रभावितं भवति । यदा कर्मणां विशिष्टशक्तेरेकं स्रोतः भौतिकपिण्डमात्मना सम्बध्यते, तदा तस्य सूक्ष्म-तीव्रशक्त्यनुसारं बाह्यपदार्था अपि प्रभाविताः भवन्ति, प्राप्तसामग्र्यनुसारं च सञ्चितकर्मणां तीव्र-मन्द-मध्यमादिपरिणामोऽपि समुपलभते, एवमिदं कर्मचक्रमनादिकालात्प्रचलितं विद्यते, तथा च यावद्बन्धकानां रागादिवासनानां न सर्वथा विनाशो भविष्यति, तावत्प्रचलिष्यत्येव ।

आत्मना कर्मणामनादिः सम्बन्धः

ये खलु राग-द्वेषादिजन्यसंस्काराः कर्मबन्धकास्तेऽपरस्मिन्नेव क्षणे शील-व्रतसंयमादिपवित्रैर्भावैर्क्षीणत्वमप्युपगच्छन्ति । यदि तस्मिन् क्षणेऽन्येषामपि नूतनानां रागादिभावानां निमित्तं प्राप्यते, तत्प्राग्बद्धेषु कर्मपुद्गलेषु तदितरेषामपि कृष्णकर्मपुद्गलानां संयोगस्तीव्रतयोपजायते । इत्थं जीवनस्यान्ते कर्मणां बन्धनिर्जरयोरपकर्षणोत्कर्षणसंक्रमणादिषु सत्स्वपि यानि कर्माण्यवशिष्यन्ते, तान्येव सूक्ष्म-कर्मशरीररूपेण परलोकं यावद्गच्छन्ति ।

आत्म-शरीरसम्बन्धः, प्रकृति-पुरुषयोश्च संयोग', ब्रह्मणोऽविद्योत्पत्तिश्च कदा जाता ? इत्यस्य केवलमेकमेवोत्तरं यत् 'अनादिकालत'' । किञ्च—यस्मिन् समये समग्ररूपेणैतेषां संयोगानामभावो, विनाशो वा स्यात्तदा संसारस्याप्यभावो विनाशो वावश्यम्भावी, किन्तु नैतादृशस्य कालस्य केनापि दार्शनिकेन कल्पन कृतम् । व्यक्तिशस्त्वात्मना पुद्गलसंसर्गस्य, प्रकृतिसंयोगस्य वा तत्स्वरूपं परिसमाप्यते, येनात्मा संसारीत्युच्यते । अथवेदमपि तदुत्तर शक्यम्, यद्येते आत्मा-पुरुष-ब्रह्मादयः शुद्धस्वरूपास्तदैतेषां संयोगोऽपि न स्यात् । यतो हि, शुद्धेष्वेतेषु न कश्चनैतादृशो हेतुरवशिष्यते, यः खलु पुद्गलस्य, प्रकृतेः, अविद्याया वा सम्बन्धकः, संयोजको वा तिष्ठतु । यदीदृश एवात्मा शुद्धः, इति चेत्तस्याशुद्धत्वस्य शरीरसम्बन्धस्य वा न कश्चनापि हेतुरासीद्विद्यते वा ।

आत्मकर्मणोः पृथक्त्वम्

यदा हीमौ स्वतन्त्रसत्ताकौ भिन्नौ पदार्थौ, तदा तयोरतिप्राचीनोऽपि संयोगोऽपाकर्तुं शक्यः, ततश्च द्वयोरपि पृथक्करणं शक्यम् । अर्थादात्मनः पुद्गलस्य चानादिकालिकः सम्बन्धः, तद्बन्धश्च जीवस्य रागद्वेषादिभावैरुत्तरोत्तरं

वर्धते । यदा चेमे रागादिभावाः क्षीयन्ते, तदायं बन्धो नात्मनि नूतनविभाव-मुत्पादयितुं प्रभवत्यतः शनैश्शनैस्सकृद्वा परिसमाप्यते । यतश्चायं बन्धो द्वयोः स्वतन्त्रसिद्धयोः पदार्थयोरेवास्ति, अतः विनाशयोग्योऽथवा तदवस्थायामप्य-वस्थातुं योग्यो भवति, यस्यां तत्सन्निधानेऽप्यात्मा तेन निस्सङ्गो निर्लेपो वा जायते ।

एवं जैनदर्शनेऽयमात्मानाद्यशुद्धः स्वीकृतः, किन्तु प्रयोगैः शुद्धोऽपि साद्व्यः । एकदा च शुद्धौ सत्यां न पुनरशुद्धत्वस्योत्पादकः कश्चन हेतुस्तत्रावशिष्यते । आत्मनोऽशुद्धेयं दशा स्वरूपप्रच्युतिरूपा परपदार्थेषु च ममत्वाहङ्काररूपा[५७] । अतोऽस्याः अन्तोऽपि स्वरूपज्ञानेनैव शक्यः ।

आत्मज्ञानयोः सम्बन्धः

आत्मनो ज्ञानस्वभावः

आत्मशब्दस्य सिद्धिः अत्-सातत्यगमनार्थकधातोर्भवति, गमनार्थकशब्दानां ज्ञानार्थकत्वादात्मनोऽपि ज्ञायकत्वं-ज्ञानसंयुक्तत्व स्वत एव सिध्यतीति प्रागेवोक्तम्, अर्थादात्मनो ज्ञानेनानादिकालिक एव सम्बन्धो विद्यते, न तु कदाप्यात्मा ज्ञानविरहित आसीत्, नापि भविष्यति ।

यावत्खल्वयमात्मा विभिन्नकर्मवशात् मलीमसो भूत्वास्मिन् संसारे संसरन् तिष्ठति, यद्यपि तावत्तस्य स्वाभाविकाः गुणाः तत्तत्कर्मकृदावरणजन्यमालिन्य-युक्ताः भवन्ति, येन न ते स्वाभाविक्या शक्त्यात्र प्रस्फुटन्ति, तथापि तद्गुणा-नामात्मनो स्वाभावादस्तित्वं तु विद्यत एव । यावच्चायं विभिन्नावरणैर्युक्त-स्तिष्ठति तावत्तस्य ज्ञानशक्तिरप्यंशत्वेनावृता तिष्ठति, येन तस्य ज्ञानं विभावयुक्तं जायते, किन्तु ज्ञानावरणादिकर्मणां क्षयोपशमात् मति-श्रुतादीनि ज्ञानानि प्रस्फुटन्ति । ततश्च घातिचतुष्कस्यापि यदा विनाशं करोति, तदा स ज्ञानस्य परिपूर्णां शक्तिमधिगच्छति ।

यथा खलु सूर्यस्य प्रतापनः प्रकाशकश्च स्वभावः, किन्तु मेघपटलाच्छादितेऽपि तस्य प्रताप-प्रकाशयोरस्तित्वं ज्ञायत एव लोकैः । किञ्च, यदैव तन्मेघपटला-वरणमपसरति तदा पुनरपि सूर्यः स्वीयेन प्रताप-प्रकाशस्वभावेन सयुक्तः सर्वैरेवानुभूयते, तथैवायमात्मापि ।

सोऽयमात्मा यदा कर्मसंयुक्तस्तदा स्वीयेनेन्द्रियरूपकरणेन विभिन्नपदार्थान-वगच्छति, किन्तु यदा स शुद्धोपयोगसामर्थ्यात् घातिकर्मणां प्रक्षीणात्, क्षायोप-

शमिकादिज्ञानासंपृक्तत्वाच्चातीन्द्रियो जायते, तदा च ज्ञानदर्शनसम्बन्धिनां सर्वेषामप्यावरणानां सर्वथा क्षयत्वात् समुपलब्धज्ञानदर्शनतेजः, स्वयमेव स्वपरप्रकाशक ज्ञानमधिगच्छति, अर्थादिन्द्रियैर्विनाप्यात्मनि ज्ञानं संपद्यते[१५८]।

आत्मज्ञानयोरेकत्वम्

यच्चात्मनि ज्ञानं जायते तद्ज्ञानं जीवातिरिक्तेष्वन्येषु न कुत्रापि युज्यते, केवलमात्मनि जीवे एव वा तस्य सम्बन्धो जायते, येनात्मनो ज्ञानस्य चैकत्वमित्युच्यते। यतो हि, ज्ञानमात्मनो गुणः, सहभावित्वात्। न ज्ञानमात्मना विरहित कुत्रचिदपि प्राप्यते, नापि तस्य कश्चिदात्मातिरिक्तस्तु आधारो विद्यतेऽतः ज्ञानस्य आत्माश्रयत्वात्तदात्मकत्वमेव स्वीक्रियते। अस्मात्कारणादेवात्मनो ज्ञानस्य चाभेदमवलोक्यानयोरेकत्वं स्वीकृत जैनदार्शनिकैः।

किन्त्वत्र नात्मनो ज्ञानगुणात्मकत्वं स्वीकृत्य सर्वथाभेदस्तयो· स्वीकृतोऽपितु ज्ञानगुणस्य तदात्मकत्वापेक्षयैवायमभेद., यतो हि, आत्मनो द्रव्यत्वात्तस्मिन्नन्येऽपि ज्ञानातिरिक्ता सुखादयो गुणा सन्ति। यदि ज्ञानात्मनोःसर्वथाऽभेद एव स्वीक्रियेत तदा ज्ञानात्मकत्वात् तस्य द्रव्यत्वमुपपद्यते, गुणस्य च द्रव्यत्वे सति, तत्र गुणानामभावात् तस्य गुणविरहितत्वादभाव सम्पद्येतातो न ज्ञानस्यात्मनश्च सर्वथा भेदः स्वीकरणीयः।

एवमेवात्मनोऽपि गुण. ज्ञानमिति स्वीकृते तत्र केवल ज्ञानमेवैको गुणस्तिष्ठेत, अन्येषा गुणाना त्वभावस्सम्पद्येत, तदा च गुणानामभावे सति आत्मद्रव्यस्याप्यभाव. सिद्ध्येत, आत्मद्रव्याभावे तु ज्ञानगुणस्यापि निराश्रयत्वादभावः स्यादतो ज्ञानगुणस्यात्मातिरक्तेऽन्यपदार्थेऽविद्यमानत्वात्तस्य कथञ्चिदात्मरूपत्वम्, अथ चात्मनोऽपि ज्ञानगुणापेक्षया ज्ञानत्वमस्तीति[१५९]।

आत्मनो ज्ञानप्रमाणत्वम्

यावन्तोऽपि पदार्था जगति विद्यमानास्सन्ति, तेषा सर्वेषामपि ज्ञायकं ज्ञानम्। आत्मा च ज्ञानगुणयुक्तोऽत. सर्वेष्वपि पदार्थेषु ज्ञानस्य विद्यमानत्वात् तत्र सर्वत्रात्मापि तिष्ठति। यतो हि, यस्य द्रव्यस्य ये गुणास्सन्ति तस्य तेषु सर्वत्र विद्यमानत्वात् तत्प्रमाणत्व भवति। अत आत्मापि स्वगुणभूतज्ञानप्रमाणत्वात् सर्वेष्वपि पदार्थेषु तिष्ठति, न तदधिकं, तद्हीन वा कदापि तिष्ठति। यथा खलु स्वर्णद्रव्य स्वपर्ययिषु कुण्डलादिषु सर्वत्रापि पीतिमादिगुणरूपेण सहैव तिष्ठति, तथा चेन्धनस्थिताग्निर्यथेन्धनप्रमाणा भवति, तथैवायमात्मापि स्वज्ञानगुणप्रमाणमवसेयम्[१६०]।

ज्ञानज्ञेययोः परस्परं गमनम्

पदार्थानां ज्ञेयत्वात्, आत्मनश्च ज्ञायकस्वभावत्वाद्द्वयोः परस्परं ज्ञेय-ज्ञायक-सम्बन्धस्तथापि पदार्थानां केवलं ज्ञेयस्वरूपेणैव विद्यमानत्वात् न तु ज्ञायक-रूपेण, तथा चात्मनोऽपि केवलं ज्ञायकस्वरूपत्वादेव विद्यमानत्वात्कथमेतयोः परस्परगमकत्वं स्वीक्रियेत, यथा खलु चक्षुः, पदार्थेष्वप्रविश्यैव तत्स्वरूपग्रहणे समर्थ, तथा च पदार्थाः अपि नेत्रेष्वप्रविशन्त एव स्वस्वरूपं चक्षुषोर्गमयितुं समर्थास्तथैवायमात्मापि न तु पदार्थेषु गच्छति, नापि पदार्था आत्मनि प्रवि-शन्ति, अतएवात्मा तान् पदार्थान् ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्धेनैव[151] विजानाति ।

ज्ञेय-ज्ञानयोः परस्परं गमनम्

यथा खलु दुग्धपूरिते कस्मिंश्चित् पात्रे इन्द्रनीलरत्ने प्रक्षिप्ते सति तत्पात्रा-ध्युषितं सर्वमपि दुग्धं, तन्नीलरत्नसंयोगात् नीलवर्णं प्रतीयते । यद्यप्यत्र सूक्ष्मेक्षया दृष्टिपाते कृते सति ज्ञायते, यन्न दुग्धस्य प्रदेशेषु इन्द्रनीलरत्न प्रविष्टम्, नापि दुग्धमिन्द्रनीलान्तर्भूतम्, तथापि तद्रत्नसंयोगाद्यथा व्यव-हारेणेदमुच्यते यत् 'इन्द्रनीलरत्न दुग्धव्याप्तम्' । वस्तुतस्तु इन्द्रनीलमणि-स्तत्रापि दुग्धात्पृथक्स्वास्तित्वयुक्तः, केवलं स्वप्रभयैव तद्दुग्धं नीलं करोति, तदपि तस्यानया नीलप्रभात्मिकया शक्त्या योऽयं व्यवहारस्तथैव निश्चयेना-त्मन्येव ज्ञान विद्यते, पर तस्य ज्ञानरूपया शक्त्या 'ज्ञान पदार्थेषु व्याप्तम्, पदार्था वा ज्ञानगताः' इत्यात्मको व्यवहारो जायते । अर्थात् ज्ञानस्य तत्तत्पदार्थाकाररूपत्वात् ज्ञेयस्वरूपात्मकत्वाद् ज्ञेयत्वमुपयुज्यते, येन तस्य ज्ञायकशक्त्यपेक्षया ज्ञान पदार्थेषु[152] विद्यते, इति व्यवहारोऽपि सार्थक्यं भजते ।

आत्मनो ज्ञेयत्वम्, ज्ञायकत्वञ्च

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यभेदैः द्रव्य-गुण-पर्यायभेदैः, अतीतागतानागतभेदैश्च पदार्थानां युक्तत्वात्त्रिविधत्वम् । एते सर्वेऽपि पदार्थाः मूलतः षड्विधा इति पूर्वमेव (द्वितीयाध्याये) लिखितम् । तेषु पञ्चविधानां जीवातिरिक्तानां पदार्थानां ज्ञानभावपरिणामानामज्ञायकत्वात् केवलं ज्ञेयत्वमेवास्ति, यदाहि जीवः ज्ञानभावेन परिणतः, केवलं स्वसाहाय्येनैव पदार्थानां ज्ञायकत्वात् ज्ञान-रूपो विद्यते । अतो जीवस्यापि द्रव्यत्वात् पदार्थानां ज्ञेयत्वम् (पञ्चविधानां) ज्ञायकत्वञ्चेति द्विविधो भेदः सञ्जायते । तत्र जीवातिरिक्तानां केवलं ज्ञेयत्वम्, आत्मनश्च ज्ञेयत्वं ज्ञायकत्वञ्चेति उभयत्वमपि[153] सम्पद्यते । यतो हि, ज्ञानं

प्रदीपवत् स्व-परप्रकाशकम् । अतएवात्मनो ज्ञेयपदार्थानां ज्ञायकत्वम्, तथा च स्वस्यापि ज्ञानपरिणतिरूपावस्थायाः ज्ञेयत्वात् ज्ञेयत्वमपि सम्भाव्यते ।

आत्म-ज्ञानयोः कर्तृकरणत्वम्

यथा खल्वग्निर्ज्वलनक्रियायाः कर्ता, उष्णगुणञ्च तत्क्रियायाः करणमित्युच्यते, तथैवात्मा ज्ञानक्रियायाः कर्त्ता, ज्ञानञ्च तत् क्रियायाः करणमित्युच्यते । अत्र यदग्नेरौष्ण्यम्, तदेवाग्निः, अतएवाग्निरुष्णपदेनापि व्यवह्रियते । किन्तु, अग्न्युष्णयोर्भेदव्यवहारापेक्षया भिन्नत्वम् । तथैवात्मनो ज्ञानस्यापि च व्यवहारापेक्षया कर्तृ-करणत्वरूपो भेदस्तथापि ज्ञानस्यात्मरूपत्वात्, आत्मनश्च ज्ञानात्मकत्वात् न वस्तुतः कश्चनापि[11] भेदो विद्यते ।

अत्र केचनाभिदधति—यद्यथा परशुना देवदत्तो लावकः भवति, अत्र परशोः देवदत्तस्य चापि पृथगस्तित्वम्, तथैव ज्ञानेन ज्ञायकस्वभाव आत्मा, तद्वदत्रापि ज्ञानेन आत्मना च पृथग्भाव्यम् । अतएवात्मज्ञानयोर्भेद एव सिध्यति, नत्वभेदस्तयोः पृथक् सत्वात्, यश्चात्मनो ज्ञानस्वभावस्तज्ज्ञानसम्बन्धादेव तस्मिन्नुपपद्यते ।

तदेतन्न जैनदृष्ट्या समीचन प्रतिभाति । यतो हि, यथा खलु देवदत्तस्य पृथगस्तित्व परशुना प्रतीयते, न तथाग्नेरौष्ण्यमग्नित पृथक्, नाप्यात्मनो ज्ञानमात्मन. पृथक् प्रतीयते । अत एतयोर्युतसिद्धयोर्कथं संयोग. समवायाख्यो वा कश्चनापि सम्बन्ध. सम्पद्येत ? किञ्च, यद्यात्मनो ज्ञानभिन्नत्वे स्वीकृते ज्ञानसम्बन्धादेव तस्य ज्ञायकत्वमिति स्वीक्रियेत, तदात्मनोऽचेतनत्वं तथैव स्वीकरणीयं स्याद्यथान्येषामपि पदार्थानां ज्ञानसंयोगाभावादचेतनत्वमस्ति । तथा चाचेतनानामपि पदार्थाना ज्ञानेन संयोगे सति चेतनत्वमुपयुज्यते । अत इयमव्यवस्था न स्यात्तथा चात्मापि नाचेतनत्वभाग्भवेदित्यर्थ तस्य ज्ञानेनानादिकालिकः सहभावी गुणरूपः सम्बन्ध· स्वीकृत· जैनदार्शनिकैरिति । अतोऽत्र यत्कर्तृ-करणरूपात्मको भेदस्तस्य व्यवहारार्थमेव कल्पनम्, न तु वास्तविकमिति ।

सन्दर्भोल्लेखाः

१. (क) तरावा-२।१०।१ ।। (ख) स्थासू-२।१।५७।१०० ।। २. तरावा-२।१०।२ ।।
३. (क) तसू-२।२४ ।। (ख) नसू-४० ।। ४. तरावा-२।२४ ।।

५. स्थासू-२।१।३६४॥

६. षख-'तसकाइया वीइ दियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलिति ।' सं० सू० ४४ ॥

७. ताधिभा-२।१२ ॥ ८. क-तसू-पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः २।१३ ॥
ख-स्थासू-५।१।३६४ ॥

९. ससि-पुढिवी पुढिवीकायो पुढिवीकाइय पुढिविजीवो य । २।१३ ॥

१०. प्रसू-६५६ ॥

११. एकेन्द्रिया उपयोगवन्तः, आहारादिषु विशिष्टप्रवृत्यन्यथानुपपत्तेः ॥

१२. क-तरावा-२।१४।४ ॥ ख-जीवाप्र-१।२७ ॥

१३. तसा (असू)-मसूराम्बुषपृत् सूचीकलापसन्निभाः ।
धराप्तेजोमरुत्कायाः नानाकारास्तरुत्रसाः ॥५७॥

१४. गोसाजी-१८५।१८६ ॥ १५. क-तसू-२।२२ ॥ ख-प्रसू-१

१६. क-ताधिभा-२।२४ ॥ ख-प्रसू-१ ॥ १७. ताधिभा-२।२४ ॥

१८. ताधिभा-२।२४ ॥ १९. गोसाजी-१६७ ॥

२०. ताधिभा-२।२५ ॥ २१. निसा-(S.B.J Vol-9)-१७ ॥

२२. गोसाजी-१५१ ॥ २३. क-ताधिभा-४।१ ॥ ख-व्याप्रश-२।७ ॥

२४. क-ताधिभा-४।३ ॥ ख-प्रसू-१ (देवाधिकार)

२५. क-ताधिभा-४।४ ॥ ख-औपसू-४१ ॥ ग-स्थासू-३।१।१३४ ॥
घ-स्थासू-४।१।२४८ ॥

२६. अचिम-'वेश्याचार्यः पीठमर्द -वेश्याचार्यः-वेश्यानां नृत्तोपाध्यायः, पीठं-नर्तनस्थानं पादैर्मृद्नाति पीठमर्द' २।२४४ ॥

२७. ताधिभा-४।५ ॥ २८. क-ताधिभा-४।४ ॥ ख-प्रसू-१ (देवाधिकार)

२९. ताधिभा-४।११ ॥ ३०. तरावा-४।१०।१ ॥ ३१. तरावा-४।१०।८ ॥

३२. तरावा-४।१०।८ ॥ ३३. तरावा-४।१०।८ ॥ ३४. तरावा-४।१०।८ ॥

३५. ताधिभा (टिप्पण्या)-भवनं-तावत्-बहिर्गोलमन्तश्च चतुष्कोणमधोभागे च कमल-कर्णिकारनिर्मितं भवनम् । ४।११ ॥

३६. उप (टिप्पण्या)-आवासास्तावत्-नानाविधरत्नप्रभोद्दीप्ताः शरीरप्रमाणानुनिर्मिताः महामण्डपा. आवासा. ॥

३७. क-ताधिभा-४।११ ॥ ख-प्रसू (प्र० पद-देवाधिकार) ३८ ताधिभा-४।१२ ॥

३९. तरावा-४।११ ॥ ४०. ताधिभा-४।१२ ॥ ४१. ताधिभा-४।१२ ॥

४२. ताधिभा-४।१२ ॥ ४३. ताधिभा-४।१२ ॥ ४४. ताधिभा-४।१२ ॥

४५. ताधिभा-४।१२ ॥ ४६. ताधिभा-४।१२ ॥ ४७. तरावा-४।११।४ ॥

४८. क-तसू-४।१२ ॥ ख-प्रसू-(प्र० देवाधिकार) ।

४६. द्रष्टव्य-ससि-णवदुत्तरसत्तसया दससीदिच्चतुदिगं चदुगचदुगचदुक्कं ।
तारारविससिरिक्खा बुधभग्गवगुरु अगिरारसणी । जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति । १।१२ ॥

५०. तरावा-४।१२।१० ॥ ५१. तरावा-४।१२।१० ॥ ५२. तरावा-४।१२।१० ॥
५३. तरावा-४।१२।१० ॥ ५४. तरावा-४।१२।१० ॥ ५५. तरावा-४।१६।१ ॥
५६. क-ताधिभा-४।१७-१८ ॥ ख-प्रज्ञापन-२-वैमानिकदेवाधिकार ।
५७. क-ताधिभा-४।२० ॥ ख-असू-१०३ ॥ ग-प्रसू-६।४६ ॥
५८. क-तरावा-४।२४।१ ॥ ख-स्थासू-८।६२३ ॥ ५६. तरावा-४।२५।३ ॥
६०. क-तसू-४।२० ॥ ख-जीवाप्र-३।२।२१६ ॥
६१. क-तसू-४।२१ ॥ ख-प्रसू-२ देवाधिकार ॥ ६२. तवा-४।२२।२ ॥
६३. तवा-४।२२।३ ॥ ६४. तवा-४।२२।४ ॥ ६५. तवा-४।२२।५ ॥
६६. क-तवा-४।२२।६ ॥ ख-जीवाप्र-३।१।२१४ ॥
६७. क-प्ररप्र-८।१६० ॥ ख-प्रसू-नरकाधि० २ ॥
६८. क-तवा-३।१।३ ॥ ख-जीवाप्र-२।७०-७१ ॥
६६. तवा-३।१।१० ॥ ७०. तवा-३।१।८ ॥ ७१. ताधिभा-३।२ ॥
७२. तवा-३।१।८ ॥ ७३. तवा-३।२ ॥ ७४. तवा-३।२।२ ॥
७५. तवा-३।२।२ ॥ ७६. क-तवा-३।२।२ ॥ ख-जीवाप्र-३।८६ ॥
७७. क-तवा-३।२।२ ॥ ख-प्रसू-२ नरकाधिकार ।
७८. तवा-३।२।२ ॥ ७६. तवा-३।२।२ ॥ ८०. तवा-३।२।२ ॥
८१. क-तसू-३।३ ॥ ख-प्रव्या-१, नरकाधिकार ।
८२. क-ताधिभा-३।३ ॥ ख-स्थासू-३।१।१३२ ॥
८३. ताधिभा-३।३ ॥ ८४. क-ताधिभा-३।३ ॥ ख-प्रसू-२, नरकाधिकार ।
८५ तवा-३।३।४ ॥ ८६. तवा-३।३।४ ॥ ८७. गोसाजी-१४६ ॥
८८. क-ताधिभा-३।४-५ ॥ ख-जीवाप्र-३।२।१७८ ॥
८६. क-तसू-३।३६ ॥ ख-प्रसू-१, मनुष्याधिकार ।
६०. तवा-३।३६।१ ॥ ६१. तवा-३।३६।२ ॥ ६२. तवा-३।३६।२ ॥
६३. तवा-३।३६।२ ॥ ६४. तवा-३।३६।२ ॥ ६५. तवा-३।३६।२ ॥
६६. तवा-३।३६।३ ॥ ६७. ताधिभा-३।१५ ॥ ६८ तसू-३।३६ ॥
६६. तवा-३।३६।४ ॥ १००. तवा-३।३६।४ ॥ १०१ तवा-३।३६।१ ॥
१०२. प्ररप्र-२।२० ॥ १०३. प्ररप्र-१।१८ ॥ १०४. प्ररप्र-१।१६ ॥
१०५ प्ररप्र-२।२० ॥ १०६ प्ररप्र-२।२० ॥ १०७. प्ररप्र-२।२१ ॥
१०८. प्ररप्र-२।२२-२३ ॥ १०६. प्ररप्र-२।२५ ॥ ११०. प्ररप्र-२।२६ ॥
१११. प्ररप्र-२।२७ ॥ ११२. प्ररप्र-२।२८ ॥ ११३. प्ररप्र-२।२६ ॥
११४. क-तसू-२।३१ ॥ ख-उसू-३६।११७ ॥ ग-दवैसू-४, त्रसाधिकार ॥

११५. तवा-२।३१।२ ॥ ११६. तवा-२।३१।२-३ ॥
११७. क-तवा-२।३१।४ ॥ ख-स्थासू-२।३।८५ ॥
११८. क-तसू-२।३३ ॥ ख-दवैसू-४ ॥ ११९. तवा-२।३३।१ ॥
१२०. ताधिभा-२।३४ भाष्ये ॥ १२१. तवा-२।३३।२ ॥ १२२. तवा-२।३३।३ ॥
१२३. तवा-२।३४।१ ॥ १२४. क-तसू-२।३५ ॥ ख-सूकृसू-२।३ ॥
१२५. क-तसू-२।३२ ॥ ख-प्रसू-योनिअधिकार-९ ॥ १२६. गोसाजी-८३-८६ ॥
१२७. क-तसू-२।३६ ॥ ख-प्रसू-(शरीरपद)-२१ ॥ १२८. तवा-२।३६।५ ॥
१२९. तवा-२।३६।६ ॥ १३०. तवा-२।३६।७ ॥ १३१. तवा-२।४७।२-३ ॥
१३२. तवा-२।३६।९ ॥ १३३. क-तसू-२।४५ ॥ ख-प्रसू-(शरीरपद)-२१ ॥
१३४. क-तसू-२।४६ ॥ ख-स्थासू-२।१।७५ ॥
१३५. क-तरावा-२।४७।४ ॥ ख-गोसाजी-२३२ ॥ ग-औसू-४० ॥
१३६. क-तवा-२।४९।६ ॥ ख-प्रसू-२१।३७ ॥ १३७. ताधिभा-२।३८ ॥
१३८. क-तवा-२।३८।३ ॥ ख-प्रसू-२१ ॥ १३९. द्रस-२५ ॥
१४०. द्रस-२।३९।२-३ ॥ १४१. द्रसं २।३०।१-२ ॥
१४२. गोसाजी-पयडीसीलसभावो जीवेगाण अणाइसबंधो ।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित सयं सिद्ध ॥
१४३. क-तवा-२।४३।६ ॥ ख-प्रसू-२१ ॥
१४४. क-तवा-२।४४।१-२ ॥ ख-स्थासू-२।१।७६ ॥ ग-भश-१।७ ॥
१४५. क-तवा-२।२५।१-२ ॥ ख-प्रसू-१६ ॥
१४६. क-तवा-२।२५।४ ॥ ख-प्रसू-१६ ॥
१४७. क-तवा-२।२८।४ ॥ ख-स्थासू-३।४।२२५ ॥ ग-व्याप्रश-३४।१।८५१ ॥
१४८ क-तवा-२।२६।१,६ ॥ ख-व्याप्रश-२५।३।७३० ॥
१४९. क-तवा-२।२७।१ ॥ ख-औसू (सिद्धाधिकार)-४३ ॥
१५०. क-तवा-२।२८।१,४ ॥ ख-व्याप्रश-३४।१।८५१ ॥
१५१. क-तवा-२।२९-३० ॥ ख-व्याप्रश-३४।८५१ ॥ १५२. गोसाजी-६६४ ॥
१५३ कप्र-प्रस्तावनायाम् । १५४. प्रसा-१४३ ॥ १५५. गोसाजी-२ ॥
१५६. प्रसा-२।५८ ॥ १५७. प्रसा-२।५८ ॥ १५८. प्रसा-१।२० ॥
१५९. प्रसा-१।२७ ॥ १६०. प्रसा-१।२३ ॥ १६१. प्रसा-१।२८ ॥
१६२. प्रसा-१।३०-३१ ॥ १६३. प्रसा-१।३६ ॥ १६४. प्रसा-१।३५ ॥

टिप्पणी—कृपया निम्ननिर्दिष्टेषु पृष्ठेषु निर्देशानुसारं संशोध्य पठनीयम्

पृष्ठे	पंक्तौ		
९७	२६	कञ्चन स्थाने	किञ्चन इति
९९	१०	रहस्यमजानन् स्थाने	रहस्यमजानद्भि इति
१०५	१३	सर्वैरेवाचारेर्यै स्थाने	सर्वैरेवाचार्यै इति
१०८	८	न्नवगच्छति स्थाने	नवगच्छति इति
१०९	२२	रित्युच्यते स्थाने	इत्युच्यते इति
११३	४	रित्युच्यते स्थाने	इत्युच्यते इति
११४	४	जीवरेता स्थाने	जीव.एता इति
११४	१२	जीवा स्थाने	जीवा इति
११४	१४	रोदयिकं स्थाने	औदायिकै: इति
११४	१९	तस्मात्तषा स्थाने	तस्मात्तेषां इति
११५	१२	शुद्धशुद्धो स्थाने	शुद्धाशुद्ध: इति
११६	२९	ग्रहस्था. स्थाने	गृहस्था इति
१२३	१७	रित्युच्यते स्थाने	इत्युच्यते इति
१२५	८	रुत्पद्यमानस्य स्थाने	उत्पद्यमानस्य इति
१२५	११	व्याख्यायन् स्थाने	व्याख्यातृभि· इति
१२५	१२	चत्वारो स्थाने	चत्वार: इति
१२६	२२	स्पष्टयन् स्थाने	स्पष्टयद्भि इति
१३०	२०	प्रियङ्गु स्थाने	प्रियङ्गु इति
१३०	२२	रुज्ज्वल स्थाने	उज्ज्वल इति
१३२	२	मान्मुकुट स्थाने	मन्मुकुट इति
१३२	४	राक्षसा स्थाने	राक्षसा: इति
१३३	२	ज्यौतिष्का स्थाने	ज्यौतिष्का. इति
१४४	१५	ऋद्ध्य स्थाने	ऋद्धय इति
१४४	२२	वस्था निषण्णा स्थाने	वस्थानिषण्णा इति
१४८	१	य: स्थाने	यो इति
१४८	११	रैकत्रित स्थाने	रेकत्रिता इति
१४८	२४	हिसानुबन्ध्याख्य स्थाने	हिसानुबन्ध्याख्यं इति
१४८	२९	यानन्दी स्थाने	यानन्दि इति
१५२	१९	विडालादय स्थाने	विडालादय इति
१५३	११	अचित स्थाने	अचित्त इति
१५३	१२	Birth स्थाने	Both इति
१५९	१९	ग्रहीतेन स्थाने	गृहीतेन इति
१५९	२९	स्रष्ट्रा स्थाने	स्रष्टा इति

आत्मनो बन्ध-प्रक्रिया

पञ्चमोऽध्यायः

बन्धस्तद्धेतवो भेदाश्च

जीवपुद्गलयोर्क्रमशश्चेतनाचेतनात्मकत्वाद्द्वयोरपि परस्परं विरुद्धः स्वभाव-स्तथापि द्वयो. परस्परं बन्धो भवत्येवानेनैव बन्धेनेदं जगत् स्थितं वर्तते। जगत्यस्मिन् न कश्चनाप्येतादृशः प्रदेशोऽस्ति यत्र बद्धा जीवा न स्युः। यतो हि जीवपुद्गलयोस्सदात्मकत्वात्तयोर्बन्धोऽपि सदात्मकः।

बन्धस्य लक्षणम्

जैनदर्शनाचार्यैः बन्धस्य लक्षणं नैकदृशं कृतं, तत्र सन्ति बहवः सिद्धान्ता-स्तथाहि—उत्तराध्ययनस्य नेमिचन्द्रीयटीकाया 'जीवकर्मणोः संश्लेषो बन्धः'[१] इत्युक्तम्। जीव. स्वभावादेव कर्मयोग्यान् पुद्गलानादत्तेऽत. गृहीताना पुद्-गलानां जीवप्रदेशानाञ्च यो बन्धः स 'संयोगबन्धः'[२] इत्यपि शास्त्रेषु प्राप्यते। अभयदेवसूरिणा[३] च 'निगडादिभिर्यद्बन्धनं जायते सः द्रव्यबन्धः, कर्मभिश्च यद्बन्धनं तद्भावबन्धन'मिति स्वीकृतम्। नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिना त्वे-तद्विषयेऽभिहितम्,[४] यत्—'येन चैतन्यभावेन जीवो बध्यते स 'भावबन्धः', तथा च कर्मण आत्मप्रदेशानामन्योन्यप्रवेश एकक्षेत्रावगाहनं वा 'द्रव्यबन्ध' इति। एतदेव पूज्यपादैरपि[५] सर्वार्थसिद्धिटीकायां स्वीकृतम्।

जीवकर्मणोरयं पारस्परिको बन्धोऽनादिः,[६] प्रवाहापेक्षया। यतो हि, नैतन्नि-र्णीतं विद्यते, यज्जीवः प्रथममुत्पन्नः कर्म वा, सहोत्पन्नौ वा तदुभयौ, अनादि-कालादुत्पन्नौ वेति। किञ्चेदं तु सुनिश्चितमेव, यद्द्वावेवानादी, द्वयोस्सम्ब-न्धश्चापि एतस्मात्कारणादनादिर्विद्यते[७]।

बन्धहेतवः

जैनदर्शने प्रतिपादितानां बन्धहेतूनां विषयेऽपि दार्शनिकैर्भिन्नं भिन्नमेव स्वीय-मभिमतम् प्रकटितम्। तथाह्यागमेषु द्वावेव[८] बन्धहेतू प्रतिपादितौ—रागो द्वेषश्च। यावन्त्यपि पापकर्माणि सन्ति, तानि सर्वाण्यपि रागद्वेषार्जितानि[९]

भवन्ति । अतः रागद्वेषावेव मूलतः कर्मबीजौ'' स्तः । स्थानाङ्गटीकाकर्तृभिरत्र रागेण मायालोभयोः, द्वेषेण च क्रोधमानयोर्ग्रहणं कृतम्'' । किन्त्वत्रैषां चतुर्णामपि संग्राहकः केवलं कषायोऽस्तो मूलतः कषाय एवात्र बन्धहेतुः सिध्यति ।

किन्त्वत्रैव स्थानाङ्गटीकायां प्रतिपादितं, यद्योगः प्रकृतिबन्धस्य प्रदेशबन्धस्य च हेतुः, कषायश्च स्थित्यनुभागबन्धयोर्हेतुः । एतेन प्रतिपादनेन योगकषाययोर्बन्धहेतुत्वमभिहितम्'' । अग्रे चात्रैव मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगानां'' बन्धहेतुत्वं निर्दिष्टम् । अत्र प्रमादस्य ग्रहणं न कृतं विद्यते, किन्त्वागमेषु तस्यापि ग्रहण'' विद्यते । श्रीमदुमास्वामिभिश्चापि बन्धहेतुषु प्रमादो'' गृहीतः ।

इत्थमत्र बन्धहेतुसंख्याविषये मतभेदो दरीदृश्यते । केचनैक एव, अन्ये द्वावेव, अपरे चत्वारः, इतरे च पञ्चबन्धहेवः स्वीकुर्वन्ति । अत्र यैः प्रमादस्य ग्रहणं न कृतं तैः प्रमादकषाययोरभेदः स्वीकृतः, यतश्च प्रमादकषाययोरेकत्वान्न तस्य पृथग्ग्रहणस्यावश्यकता जायते, अत एवोमास्वामिभिः 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसे'तिसूत्रे 'प्रमादः सकषायत्वमि'त्युक्तम् । अनेनैव हेतुना कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थेष्वपि चत्वार एव बन्धहेतवो निर्दिष्टाः ।

यथा खलु कूपे जलागमस्य मार्गस्तदन्तःस्रोतो भवति, प्रासादप्रवेशसाधनञ्च तदीयं द्वारं भवति, तथैव जीवप्रदेशेषु कर्मणामागमनमार्ग आस्रवो भवति, अतएवास्रवः कर्मागमनिमित्तात्तद्द्वारमप्यभिधीयते'' । यदैव कर्मणामास्रवः प्रारभते, तदैवात्मनि बन्धोऽपि प्रारभ्यतेऽतः आस्रवस्य बन्धमूलकत्वाद्यावन्त आस्रवभेदास्तावन्त एव बन्धहेतवो भवन्ति ।

यद्यपि विषयेऽस्मिन्नपि मतवैभिन्न्य दरीदृश्यते, किन्तु सर्वेषामप्यवान्तरास्रवभेदानां प्रमुखेषु पञ्चभेदेष्वेवान्तर्भावो जायतेऽतोऽत्र तेषामेव पञ्चबन्धहेतूनां विवेचनं क्रियते । ते च पञ्चबन्धहेतवो यथा—(१) मिथ्यादर्शनम्, (२) अविरतिः, (३) प्रमादः, (४) कषायः, (५) योगश्चेति ।

१. मिथ्यादर्शनम् (Wrong-Belief)

योऽर्थो यथावस्थितस्तस्य तथैव श्रद्धान-सम्यग्दर्शनम्, एतद्विपरीतश्रद्धानम्मिथ्यादर्शनमिति । तदेतद्दशविधम्''—(१) अधर्मे धर्मभावः, (२) धर्मे चाधर्मभावः, (३) कुमार्गे सन्मार्गभावः, (४) सन्मार्गे च कुमार्गभावः, (५) अजीवे जीवभाव, (६) जीवे चाजीवभाव, (७) असाधौ साधुभावः, (८) साधौ चासाधुभावः, (९) अमूर्ते मूर्तभावः, (१०) मूर्ते चामूर्तः भावः, इति ।

मिथ्यात्वञ्चास्य पूज्यपादैः प्रामुख्येन द्विविधं[१८] स्वीकृतम्-नैसर्गिकम्, परोपदेशपूर्वकञ्चेति । तत्र परोपदेशं विनैव मिथ्यादर्शनकर्मोदयाज्जीवादिपदार्थानामश्रद्धानं नैसर्गिकम् । अन्यनिमित्तादुत्पद्यमानं मिथ्यात्वं परोपदेशपूर्वकमित्युच्यते । उमास्वातिभिश्चैष एव भेदः क्रमशोऽनभिगृहीतमभिगृहीतमिति प्रतिपादितः[१९], एतस्योल्लेखो स्थानाङ्गेऽपि[२०] प्राप्यते ।

मातान्तरेण तु मिथ्यादर्शनं पञ्चविधमपि स्वीकृतम्, तथा हि—

१. **आभिग्राहिकम्**—तत्त्वमनपरीक्ष्यैव कञ्चन सिद्धान्तविशेषं स्वीकृत्यान्यसिद्धान्तखण्डनमाभिग्राहिकम् ।

२. **अनाभिग्राहिकम्**—गुणदोषानपरीक्ष्यैव सर्वसिद्धान्तानां सामान्येन ग्रहणमनाभिग्राहिकम् ।

३. **संशयितम्**—देव-गुरु-धर्मस्वरूपेषु संदेहबुद्धिः संशयितम् ।

४. **आभिनिवेशिकम्**—स्वीयं सिद्धान्तमसत्यमिति ज्ञात्वापि तद्ग्रहणमाभिःनिवेशिकम् ।

५. **अनाभोगिकम्**—मोहस्य प्राबल्ये यन्मौढ्यं, तदनाभोगिकम् ।

पूज्यपादाचार्यैरन्ये पञ्चभेदाः[२१] परिगणितास्तथाहि—

१. **एकान्तम्**—'इदमेव' 'इत्थमेवे'ति धर्मधर्मिणोरेकान्तरूपोऽभिनिवेशः एकान्तम् (One Sided Belief)

२. **विपर्ययः**—सग्रन्थे निर्ग्रन्थभावः, केवलिनः कवलाहारः, स्त्रीणा सिद्धत्वस्वीकारश्च विपर्ययः (Perverse Belief)

३. **संशयः**—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गभूतानि सन्ति न वेत्यात्मकः सशय. (Doubtfull Belief)

४. **वैनयिकम्**—सर्वदेवशास्त्राणां समदर्शनं वैनयिकम् (Veneration of falls Creeds)

५. **अज्ञानिकम्**—हिताहितपरीक्षाविरहत्वमज्ञानिकमिति (Indiscriminate Belief)

२. **अविरति**. (Vowlessness)

हिसा-अनृत-अस्तेय-अब्रह्म-परिग्रहेभ्यः पञ्चपापेभ्यो विरमणं विरतिः, एतत्प्रतिपक्षभूता विरति.[२२] । अर्थात् पापेभ्यः, उपभोग्यपदार्थेभ्यः, सावद्यकर्मभ्यश्चाविरमणमविरतिरिति । पूज्यपादाचार्यै. षड्जीवनिकायापेक्षया, षडिन्द्रियापेक्षया च द्वादशविधाऽविरतिरभिहिता[२३] ।

अत्र केचनाचार्याः अविरतेरत्यागभावं, प्रमादस्यानुत्साहभावञ्चैकरूपं संस्मृत्यानयोरेकत्वं स्वीकुर्वन्ति। किन्त्वेतद्विषये भट्टाकलङ्कैः सुस्पष्टमभिहितम्[२४]—यत् नैतदुचितं प्रतिभाति, यतो हि अविरतेरभावेऽपि प्रमादस्तिष्ठति, विरतोऽपि प्रमादी भवत्यतो नैतयोरेकत्वं स्वीकरणीयमिति।

३. **प्रमादः** (Carelessness)

प्रमाद व्याख्यातृभि. पूज्यपादैरभिहितम्—यत् 'कुशलेष्वनादरः प्रमादः'। भट्टाकलङ्कैश्च 'सयम-धर्मेष्वनुत्साहोऽनादरो वा प्रमादः'[२५] इत्युक्तम्। उमास्वातिभिश्च 'स्मृत्यनवस्थान योगदुष्प्रणिधानं कुशलेष्वनादरश्च प्रमादः'[२६] इत्यभिहितम्। स चायं शुद्ध्यष्टकोत्तमक्षमादिभेदादनेकविधो[२७] भवति।

४. **कषायः** (Passion)

जीवस्य क्रोधादिरूपपरिणामः कषायः। अत्र कषाय-नोकषाययोरीषद्भेदोऽपि न भेदः, इति कृत्वा षोडशकषायाः नव नोकषायाश्च समुदिता. पञ्चविंशतिविधाः भवन्ति। अत्रेमे नवनोकषाया हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पु-नपुसकवेदाः। तद्यथा—यस्योदयाद् हास्याविर्भावस्तद्हास्यम्। यस्योदयाद्विषयेष्वौत्सुक्य सा रति.। एतद्विपरीता चारतिः। यस्योदयात् शोचनं सञ्जायते, स शोकः। यस्योदयादुद्वेग उत्पद्यते-तद्भयम्। यस्योदयादात्मदोषाना संवरण, परदोषाणाञ्चाविष्करणं जायते सा जुगुप्सा। यस्योदयात् स्त्रैणभावान् प्रतिपद्यते स स्त्रीवेद.। यस्योदयात् पुवद्भावान् प्राप्नोति स पुवेद.। यस्योदयाच्च नपुसकत्वभावान्नधिगच्छति स नपुसकवेद।

कषायाश्चानन्तानुबन्ध्यादिविकल्पात् पोडशविधा.। तद्यथा—मूलतश्चत्वारः कषाया.—क्रोधमानमायाल।भाश्चेति। तेषा प्रत्येकमपि चतस्रोऽवस्थाः[२८]—(१) अनन्तानुबन्धिन. (Error feeding), (२) अप्रत्याख्यानावरणाः (Partial vow preventing), (३) प्रत्याख्यानावरणा (Total Vow Preventing) (४) सञ्ज्वलनाश्चेति (Perfect-Right Conduct-Preventing))। तद्यथा—

अनन्तस्यास्य जगत. कारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तसज्ञाकम्। ये च कषायास्तदनुबधिनस्ताः अनन्तानुबधिन. क्रोधमानमायालोभभेदाच्चतुर्धा। यदुदयाज्जीवः सयमाभिधा विरति न पूर्णतया कर्तुं शक्नोति, ते सकलप्रत्याख्यानमावृण्वन्तो प्रत्याख्यानावरणाः क्रोध मान-माया-लोभभेदाच्चतुर्विधाः। यदुदयाज्जीवः संयमासयमापरनाम्नी देशविरतिमल्पामपि कर्तुं न शक्नोति,

ताः देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणाः क्रोध-मान-माया-लोभभेदा-च्चतुर्विधाः। अथ च संयमेन सहावस्थानादेकीभूताः ज्वलन्ति, अथवा एषु सत्स्वपि संयमो ज्वलतीति सञ्ज्वलना, क्रोध-मान-माया-लोभभेदाच्चतुर्विधाः। इत्थमिमे सर्वे समुदिताः षोडशविधाः कषायाः भवन्ति तथा चोपर्युक्तैः नवनोकषायैः सह पञ्चविंशतिविधाः भवन्तीति।

५. योग (Vibration)

कायवाङ्मनसां प्रवृत्तिर्योगः[११]। आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो[१२] वा योगः। स च काय-वाङ्मनसापेक्षया त्रिविधस्तत्र वीर्यान्तरायकर्मणः क्षयोपशमे सत्यौदारिका-दिसप्तविधकायवर्गणास्वन्यतमवर्गणालम्बनापेक्ष आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः काय-योगः[११](Body-Vibration) प्राणातिपातादत्तादानमैथुनादिभेदैः पञ्चविधः।

शरीरनामकर्मोदयात्प्राप्तानां वाग्वर्गणानामालम्बने सति, वीर्यान्तरायमत्यक्ष-राद्यावरणानां क्षयोपशमाप्राप्ताया आभ्यन्तरवचनलब्धेः सान्निध्ये सति वाक्परिणाममभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिष्पन्दो वाग्योगः[१३] (Speech-Vibration)। स चानृतभाषणपरुषासभ्यवचनादिभेदाच्चतुर्विधो भवति।

वीर्यान्तरायाणां नोइन्द्रियावरणानाञ्च क्षयोपशमरूपाभ्यन्तरमनोलब्धि-सन्निधाने सति बाह्यनिमित्तभूतानां मनोवर्गणानामालम्बने च सति मनः-पर्यायाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोग.[११] (Mind-Vibration)। स च वध-चिन्तन-असूया-ईर्ष्यादिभेदात्मकश्चतुर्विधः।

एतेषां यौगपद्यविषये उमास्वातिभिरभिहितं यत्—'मिथ्यादर्शनादीनां बन्ध-हेतूना पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन् सति नियतमुत्तरेषां भवतः। उत्तरोत्तरभावे तु पूर्वेषामनियमः'[१४] इति।

बन्धस्य भेदाः

अजीवपुद्गलद्रव्यवर्गणास्वेकैकवर्गणा कर्मरूपेण परिणमति। जीवः स्वक्षेत्रान्त-रिताना कर्मवर्गणानां ग्रहणं करोति, ततश्च काषायिकत्वात्कर्म रूपेण परिण-मयति, ततश्च कर्मभावपरिणतानां पुद्गलानामात्मप्रदेशैर्यः सम्बन्धो जायते, स एव बन्ध इत्युच्यते।

तत्र पूर्वं पुद्गलकर्मवर्गणानामात्मप्रदेशेष्वागमनं भवति, तत एव बन्धो जायते। कर्मपुद्गलानामागमनञ्च नास्रवेण ऋते भवत्यत बंधोत्पत्तेर्मूलाधार[१५]आस्रवः।

मिथ्यात्वादिहेतूनाञ्चाभावे कर्मपुद्गलानां न प्रवेशो भवितुमर्हति, तदभावे च बन्धाभावः । अतो मिथ्यात्वादय आस्रवश्चैव बंधोत्पत्तिहेतुभूताः ।

बन्धानन्तरमात्मप्रदेशसम्बद्धानि कर्माणि सद्य एव फलदानि स्युर्नैतादृशः कश्चन नियमः । यतश्च बंधकालात्समारभ्य फलदानकालं यावत् सत्तारूपेणैव कर्माणि तिष्ठन्ति । अस्यामेवावस्थायां द्रव्याणामियं बन्धस्थितिः 'द्रव्यबन्ध' इत्युच्यते । अतोऽनंतरं फलदानावस्थितानि कर्माणि सुखदुःखादीन्नुत्पादयन्ति । अतोऽत्र कर्मणां यदा फलदानशक्तिरुदेति सैवावस्था 'भावबन्ध' इत्युच्यते ।

यथा खलु जन्मग्रहणकाले भावी तीर्थङ्करो द्रव्यतीर्थङ्कररूपः, तथा च सयोग-केवलिगुणस्थानं सम्प्राप्य वस्तुतस्तीर्थङ्करत्वमधिगच्छति तदा स भावतीर्थ-ङ्कर इत्युच्यते । तथैव बद्धकर्मणा स्थितिर्द्रव्यबन्धः, उदयानन्तर फलदाय-कानां कर्मणां शक्तिर्भावबन्ध इत्युच्यते ।

कर्माणि द्विविधानि शुभाशुभाख्यानि । तत्र शुभकर्माणि पुण्येनाशुभकर्माणि च पापेनाप्युच्यन्ते । जीवप्रदेशैः शुभाशुभकर्मणा संश्लेषापेक्षया बंधोऽपि शुभाशुभभेदेन द्विविधो भवति । इत्थमयं बन्धो मूलतो द्रव्यभावबन्धेन पुण्य-पापबन्धेन चापि द्वि विधो भवति ।

बन्धस्य चातुर्विध्यम्

जीवः खल्वास्रवमाध्यमेन कर्मयोग्यपुद्गलान् संगृह्य कर्मरूपेण परिणमयति । कर्मणाञ्च स्वभावाः भिन्नाः सन्ति । अतोऽत्र कर्मणां स्व-स्वभावयुक्तो जीवेण सम्बन्धः (Nature of Bondage)[१६] स प्रकृतिबन्ध इत्युच्यते ।

प्रत्येकमपि प्रकृतेः कर्मनिर्धारितकालं यावदेवात्मप्रदेशैः सम्बन्धस्तिष्ठति । अर्था-दात्मना गृहीता पुद्गलकर्मराशिर्यावत्कालमात्मप्रदेशेषु तिष्ठति, सा मर्यादा (Duration of bondage) 'स्थितिबन्ध'[१७] इत्युच्यते ।

कर्मणः शुभाशुभफलस्य तीव्रता मन्दता वा रसपदवाच्या । उदयावस्थाया कर्मणोऽनुभवस्तीव्रो मन्दो वा कीदृशो भविष्यतीति प्रकृत्याद्यनुसारं कर्मबन्ध-काले एव निर्धारितो भवति । तत्रायमनुभव एव 'अनुभावबन्धः'[१८](Maturity with duration)।

आत्मनोऽसंख्येयाः प्रदेशास्तत्रैकैकस्मिन्नपि प्रदेशेऽनन्तानन्तकर्मवर्गणानां संग्रहः 'प्रदेशबन्धः' । अर्थात् जीवपुद्गलयोः प्रदेशानामेकक्षेत्रावगाहनपूर्विका स्थितिः (Quantity of karmic moleculer) 'प्रदेशबन्ध'[१९] इत्युच्यते । इत्थमिमे बन्धस्य चत्वारो भेदाः ।

साम्परायिकास्रवावस्कर्म बन्धत्वमधिगच्छति, तस्येमे चत्वारो रूपाः भवन्ति । बन्धमधिगतस्य कर्मणः कः स्वभावः ? कियती च स्थितिः ? स्वभावानुसारञ्च न्यूनमधिकं वा कियत्कालं कार्यक्षमं तिष्ठति ? अथ चात्मना कियत्प्रमाणेन बन्धमाप्नोति ?

एषां चतुर्णामपि पूर्वापरयोः योगकषायौ निमित्तभूतौ । अतो यत्र योगकषाययोरभावस्तत्र कर्मबन्धस्याप्यभावः । कषायस्तु दशमं गुणस्थानं यावदेव प्राप्यते, एकादशतमे गुणस्थाने न कषायात्मको जीवपरिणामः, द्वादशतमे च गुणस्थानेऽस्योच्छेदोऽतः जीवस्य स्थित्यनुभागबन्धौ दशमगुणस्थानं यावदेव भवतः । किन्त्वेकादशद्वादशत्रयोदशतमेषु गुणस्थानेषु कषायाभावेऽपि सद्वेद्यस्य प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धश्च जायेते ।

किञ्च, यद्येषु गुणस्थानेषु स्थितिं विनैव सद्वेद्यस्य बन्धस्तत्कथं तस्यात्मन्यवस्थानम् ? अथ चानुभागबन्धं विनैवैतस्य सद्वेद्यरूपो विपाकोऽपि कथं भविष्यति ? इति शङ्कनमनुचित, यतो ह्येषु गुणस्थानेषु कर्मणां गमनागमनमीर्यापथास्रवमाध्यमेनैव सम्पद्यते, न तेषां कर्मणां तत्रैकाधिकसमयं यावदवस्थानं, अतएवात्र स्थितिबन्धस्य निषेधस्तथा च कषायनिमित्तकस्यानुभागबन्धस्यात्रानन्तगुणहीनात्मकत्वादेतस्याप्यभावः ।

कषायस्तावद्दशमगुणस्थानं यावदेव तिष्ठत्यतएव स्थित्यनुभागबन्धावपि दशमगुणस्थानं यावद्भवतः । योगस्तु त्रयोदशतमगुणस्थानं यावद्भवत्यतः प्रकृति-प्रदेशबन्धावपि त्रयोदशगुणस्थानं यावद्भवतः । अयोगकेवलिगुणस्थाने तु योगस्याप्यभावान्न तत्र कश्चनापिविधो बन्धो भवति ।

चतुर्विधबन्धस्यान्ये प्रमुखाः भेदाः

बन्धस्य प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेशाश्चत्वारः प्रमुखाः भेदास्तत्र प्रत्येकमप्युत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट-जघन्य-अजघन्यात्मकश्चतुर्विधो[11] भवति । अत्रापि च प्रत्येकं सादि-अनादि-ध्रुव-अध्रुवभेदात्मकश्चातुर्विध्यं[12] भजते । अत्र निरन्तरं यद्बध्यते, स ध्रुवो बन्धः, यश्च सान्तरं बध्यते, सोऽध्रुवो बन्धः ।

तत्र मिथ्यादर्शन-सासादनाद्यूर्ध्वोर्ध्वगुणस्थानवर्तिषु गुणस्थानप्रतिपन्नेषु जीवेषु, येषां कर्मणामुत्कृष्टः स्थित्यनुभागप्रदेशबन्धस्तेषामेव कर्मणामनुत्कृष्टोऽपि स्थित्यनुभागबन्धस्तत्र भवति । स च साद्यनादिभेदेन चतुर्विधो

भवति । एवमेवोर्ध्वगुणस्थानवर्तिषु जीवेषु येषां कर्मणां जघन्यः स्थित्यनुभाग-प्रदेशबन्धस्तेषामजघन्योऽपि बन्धस्तथैव[12] चातुर्विध्येन तिष्ठति ।

उपशमश्रेण्यारोहकः सूक्ष्मसाम्पराय(दशम)गुणस्थानवर्ती जीव उत्कृष्टोच्चैर्गोत्रस्यानुभागबंधानन्तरमुपशातकषाय(एकादश)गुणस्थानवर्ती जातः, पुनश्च ततोऽवरुह्य सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थाने समागतः, अतोऽत्रानुत्कृष्टोच्चैर्गोत्रस्यानुभागबन्धः, एतदेवास्य सादिबन्धत्वम् । यतोह्यत्रास्य बंधस्य पूर्वमभाव एवासीत्, ततश्चोत्पत्तिः सञ्जाता । सूक्ष्मसाम्परायादध.स्थानां त्वयं बन्धोऽनादिर्विद्यते । अथ चाभव्यानामयमेव बन्धो ध्रुव., उपशमश्रेणिनाञ्चानुत्कृष्टबन्धातिरिक्तमुत्कृष्टो यो बन्ध. सोऽध्रुवबन्ध इत्युच्यते ।

यथा कश्चन मिथ्यादृष्टिर्जीव. सप्तमनरकपृथिव्या प्रथमोपशमसम्यक्त्वाभिमुखस्तत्र मिथ्यादृष्टि(प्रथम)गुणस्थानस्यान्तकाले जघन्यनीचैर्गोत्रस्यानुभागबधानन्तरं सम्यग्दृष्टिः सन्नप्यनन्तर पुनः मिथ्यात्वोदयान्मिथ्यादृष्टिर्जायते । तत्राजघन्यनीचैर्गोत्रस्यानुभागो बध्यते । अत्रायमजघन्यनीचैर्गोत्रस्यानुभागबन्ध. सादिबन्धः । तस्यैव मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य तदेतत्समयात्प्रागेव यो बन्धः सोऽनादिरिति । इमे उत्कृष्टानुत्कृष्टादिभेदा प्रकृतिबन्धादन्येषु त्रिष्वेव भवन्ति ।

प्रकृतिबन्धस्य भेदाः (Nature of Karmic Matter)

ज्ञानावरणादिकर्मप्रकृतिषु ज्ञानदर्शनादिविघातको य स्वभाव स एव प्रकृतिबन्ध इत्युच्यते । सोऽय प्रकृतिबन्धो[13] द्विविध —मूलप्रकृतिबन्ध , उत्तरप्रकृतिबन्धश्चेति । तत्र मूलप्रकृतिबन्धोऽष्टविधस्तथाहि[14]—(१) ज्ञानावरणम् (Knowledge obscuring), (२) दर्शनावरणम् (Conation Obscuring), (३) वेदनीय· (Feeling), (४) मोहनीयः (Deluding), (५) आयुः (Age), (६) नाम (Body-Making), (७) गोत्रम् (Family Determining), (८) अन्तरायश्चेति[15] (Obstructive) ।

अत्र ज्ञानमाव्रियतेऽनेन, आवृणोति वा यत्तद् ज्ञानावरणम् । दर्शनमाव्रियतेऽनेन, दर्शनमावृणोति वा यत्तद्दर्शनावरणम् । वेदयति, वेद्यते इति वा वेदनीयम् । मुह्यतेऽनेन मोहयति वेति मोहनीयम् । येन नारकादिभवमेतीत्यायु· । नम्यतेऽनेन, नमयति वात्मानमिति नाम । येनात्मोच्चैर्नीचैर्वागूयते—शब्द्यते इति गोत्रम् । दातुर्देयादीना वा मध्येऽन्तर वैतीति अन्तराय. । यथा च सकृदुप-

भुक्तस्यान्नस्य रस-रुधिरादिरूपेणानेकविधं परिणमनं तथैवैकेनात्मपरिणामेन सकृद् गृहीताः कर्मपुद्गलाः ज्ञानावरणाद्यनेकभेदान् प्राप्नुवन्ति ।

उपरिलिखितस्य मूलप्रकृतिबन्धस्याष्टानामेव भेदानां येऽवान्तरभेदाः उत्तर-भेदाः वा भवन्ति, त एवोत्तरप्रकृतिबन्धेनोच्यन्ते । ते च यथा—ज्ञानावरणस्य पञ्चभेदाः, दर्शनावरणस्य नवभेदाः, वेदनीयस्य द्वौ भेदौ मोहनीयस्याष्टा-विंशतिभेदाः, आयुषश्चत्वारो भेदाः, नाम्नो द्विचत्वारिंशद्भेदाः, गोत्रस्य द्वौ भेदौ, अन्तरायस्य पञ्चभेदाश्चेति ।

ज्ञानावरणभेदाः (Knowledge Obscuring)

येन वस्तुनो विशेषधर्माणा ज्ञानं भवति, तज्ज्ञानमिति । तच्च येन कर्मणा-व्रियते, तज्ज्ञानावरणीय कर्मेति । यथा चक्षुषो वस्त्रेणावृते सति चक्षुर्ज्ञानमा-व्रियते, तथैव ज्ञानावरणीयकर्मप्रभावादात्मनः पदार्थज्ञानमाव्रियते[1] । ज्ञाना-वरणकर्मण उत्तरप्रकृतयश्च[x] पञ्चविधास्तथाहि—

(क) **मतिज्ञानावरणीयकर्म**—इन्द्रियैर्मनसश्चोत्पद्यमानमाभिनिबोधिकाख्यं मतिज्ञान यत्कर्मावृणोति तन्मतिज्ञानावरणीयं कर्मेत्युच्यते ।

(ख) **श्रुतज्ञानावरणीयकर्म**—शब्दार्थयो पर्यालोचनजन्यं श्रुतज्ञानं यदावृणोति तत् श्रुतज्ञानावरणीयकर्मेति ।

(ग) **अवधिज्ञानावरणीयकर्म**—इन्द्रियमनसा साहाय्यं विनैव, रूपिपदार्थानां मर्यादित प्रत्यक्षज्ञानमवधिज्ञान यदावृणोति, तदवधिज्ञानावरणीयं कर्म ।

(घ) **मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्म**—इन्द्रियमनसामसाहाय्येन संज्ञिजीवानां मनोगताना भावाना ज्ञायक मनःपर्ययज्ञानमावृणोति यत्कर्म तन्मनः-पर्ययज्ञानावरणीयकर्म ।

(ङ) **केवलज्ञानावरणीयकर्म**—सर्वद्रव्यपर्यायाणा यौगपद्येन प्रत्यक्ष ज्ञानं केवलज्ञान यत्कर्मावृणोति, तत् केवलज्ञानावरणीयकर्मेति ।

अत्र मतिज्ञानवरणीयादीनि चत्वारि देशघातिकर्माणि, केवलज्ञानावरणीय तु देशघाति-सर्वघातिभेदेन द्विविधम्[x] ।

दर्शनावरणीयभेदाः (Conation Obscuring)

पदार्थानामाकाराद्व्यतिरिक्ताना विशेषाणामग्रहणपूर्वकं केवलं सामान्यस्य

ग्रहणं दर्शनम्, तदावरणभूतं यत्कर्म तद्दर्शनावरणीयमिति । अस्योत्तरप्रकृतयो नवविधास्तथाहि[10]—

(क) **चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्म**—चक्षुषा जायमानो सामान्योऽवबोधश्चक्षु-र्दर्शनम् । तदाव्रियते येन तच्चक्षुर्दर्शनावरणीयम् ।

(ख) **अचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्म**—चक्षुःर्व्यतिरिक्तेन्द्रियमनसोत्पद्यमानमचक्षु-र्दर्शनम् । तदावरणभूतमचक्षुर्दर्शनावरणीयमिति ।

(ग) **अवधिदर्शनावरणीयकर्म**—इन्द्रियमनसा साहाय्येनोत्पद्यमानमवधि-दर्शनम् रूपिद्रव्याणां सामान्योऽवबोधः । तदावरणभूतमवधिदर्शना-वरणीयकर्म ।

(घ) **केवलदर्शनावरणीयकर्म**—सर्वद्रव्यपर्यायाणां युगपत्साक्षात्सामान्योऽ-वबोधः केवलदर्शनमिति । तदावरणभूतं केवलदर्शनावरणीयं कर्म ।

(ङ) **निद्रा**—मद-खेद-क्लेदादीन्नपनेतुं स्वापो निद्रा । येन सुखपूर्वकं जागरणं सम्पद्यते तन्निद्रादर्शनावरणीयं कर्म ।

(च) **निद्रानिद्रा**—निद्राया उत्तरोत्तरप्रवृत्तिः निद्रानिद्रा । येन कर्मणा सुप्तो जीवः काठिन्येन निद्रामुक्तो भवितु शक्नोति, तन्निद्रा-दर्शनावरणीय कर्म ।

(छ) **प्रचला**—शोक-श्रम-भयादिकारणैरुत्पन्ना, आसीनस्यापि प्राणिनो नेत्र-गात्र-विक्रियायाः सूचिका या क्रियात्मानं प्रचालयति सा प्रचला । येन कर्मणा उत्तिष्ठन्, उपतिष्ठन् वा निद्रायुक्तो भवति, तत् प्रचलादर्शना-वरणीयं कर्म ।

(ज) **प्रचला-प्रचला**—प्रचलायाः पुन पुनरावृत्तिः प्रचलाप्रचला । येन कर्मणा गच्छन्नपि निद्रितो भवति तत् प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीयं कर्म ।

(झ) **स्त्यानगृद्धिः**—स्त्याने स्वप्नेऽपि गृद्ध्यति दीप्यते, अर्थात् यस्याः निमित्तेन स्वप्नेऽपि वीर्यविशेषस्याविर्भावः स स्त्यानगृद्धिः । येन कर्मणा स्वपन्नपि जीवः कार्यसंलग्नस्तिष्ठतु, तत् स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीयकर्मेति ।

तत्त्वार्थसूत्रस्य श्वेताम्बरीयपाठे भाष्ये च निद्रादिकान्ते वेदनीयशब्द[10] प्रयुक्तम्, दिगम्बरपाठे चैतन्न विद्यते । सर्वार्थसिद्धौ च प्रत्येकमपि दर्शनावरणीयकर्मणः संयोगस्य[11] निर्देशः कृतः ।

वेदनीयभेदाः (Feeling)

येन कर्मणा सुख-दुःखयोरनुभवस्तद्वेदनीयम् । तच्च द्विविधम्-सातावेदनीयम्, असातावेदनीयञ्चेति ।

(क) **सातावेदनीयम्**—यस्योदयात् सुखानुभूतिस्तत् सद्वेद्यं कर्म मधुलिप्तास्यवलेहवद्[१२] भवति। अत्रास्य बन्धहेतवः तत्त्वार्थसूत्रे एवं निर्दिष्टाः-भूतेष्वनुकम्पा, व्रतिष्वनुकम्पा, दानम्, सरागसंयमादियोगः, क्षान्तिः, शौचमिति सद्वेद्यस्य[११] हेतवो भवन्ति ।

(ख) **असातावेदनीयम्**—यस्योदयाज्जीवो दुःखमनुभवति तन्मधुलिप्तास्यवलेहात् जिह्वाच्छेदवत् असातावेदनीयं, एतस्य च हेतुभूताः—दुःख-शोक-ताप-आक्रन्दन-वधपरिदेवनानि आत्मपरोभयस्थानानि[१४] भवन्तीति। सोऽयममनोज्ञशब्दरूप-स्पर्श-गन्ध-रस-मनो-वाग्-दुकायदुःखताचेतिभेदेनाष्टविधो[१५] भवति ।

मोहनीयभेदाः (Deluding)

मौढ्योत्पादकं यत्कर्म तन्मोहनीयमित्युच्यते । यथा खलु मद्यपानात्परवशो मनुष्यः स्वपरज्ञानरहितः, हिताहितपरीक्षणासक्तश्च जायते, तथैव मोहनीयकर्मप्रभावाज्जीवः तत्त्वातत्त्वयोर्भेदज्ञानशून्यः सम्भूय दुष्कृत्येषु[१६] रमते ।

तदेतन्मोहनीयं दर्शन-चारित्रभेदात्मकं[१७] द्विविधम् । अत्र यत्सम्यग्दृष्ट्युत्पत्तौ तत्त्वातत्त्वभेदज्ञाने च बाधकं तद्दर्शनमोहनीयम्, यच्च सम्यग्दर्शनानुकूलचारित्रे बाधकं, तच्चारित्रमोहनीयमित्युच्यते । तदिदं दर्शनमोहनीयं त्रिविधम्,[१८] तथाहि—

(क) **सम्यक्त्वदर्शनमोहनीयम्**—यत्कर्मवशात् सम्यक्त्वस्योत्पत्तौ सत्यपि औपशमिकसम्यक्त्वं क्षायिकसम्यक्त्वञ्च नोत्पद्यते, तत्रास्य बाधकत्वात् । अतोऽत्र बाधकमिदमेव कर्म सम्यक्त्वदर्शनमोहनीयाख्यं भवतीति ।

(ख) **मिथ्यात्वदर्शनमोहनीयम्**—यत्कर्म तत्त्वेषु सम्यक्श्रद्धानाभावमुत्पाद्य विपरीतश्रद्धानमुत्पादयति, तन्मिथ्यात्वदर्शनमोहनीयमिति ।

(ग) **सम्यङ्मिथ्यात्वदर्शनमोहनीयम्**—यत्कर्म चित्तस्थितिं विचालयत्तिष्ठति, अर्थात् तत्त्वेषु न तु श्रद्धानमेवोत्पादयति, नाप्यश्रद्धानमेव, तत् सम्यङ्मिथ्यात्वदर्शनमोहनीयमिति ((Right Belief Deluding)) ।

एतेषु मिथ्यात्वदर्शनमोहनीयं सर्वघाति, अन्ये तु देशघातिनौ स्तः। चारित्र-मोहनीयमपि ((Right conduct deluding)) कषाय-नोकषायभेदाद्द्वि-विधम्, तद्यथा—

(क) **कषायमोहनीयम्**—कषः संसारः, आयः-प्राप्तिः। ससारप्राप्तिर्येन तत्कषाय इति, नेमिचन्द्रोऽपि चर्चयाञ्चकार यज्जीवस्य कर्मक्षेत्रकर्षकत्वादयं[88] कषाय इत्युच्यते। तदेतत् कषायमोहनीयं षोडशविधम्। चत्वारः कषायाः—क्रोध-मान-माया-लोभाख्याः। तत् प्रत्येकमपि अनन्तानुबंधि[90]-अप्रत्याख्यानावरणीय[91] - प्रत्याख्यानावरणीय[92]- सञ्ज्वलनभेदाच्चतुर्विधं[93] भवत्यतः सर्वे समुदिताः षोडशविधाः जायन्ते।

(ख) **नोकषायमोहनीयम्**—कषायसहवर्तिनः सहचरास्तदुत्तेजकाश्च हास्य-शोक[94]-भयादयः नोकषायाः नवविधा.,[95] सप्तविधाः वा (मतान्तरेण) भवन्तीति ।

आयुषो भेदाः (Age)

विभिन्नगतिकानां जीवाना जीवनावधिनियामक यत्कर्म तदायुष्कर्मेति। यथा कश्चनापराधी न्यायाधीशेन कारागृहे प्रतिष्ठापितः, सोऽभिलषन् अपि न तावत्तस्माद्विमुच्यते यावन्न तदवधिः समाप्यते, तथैव यावदायुष्कर्मोऽवस्थितस्तावदात्मा कथमपि कारागारसदृशमात्मदेह परित्यक्तुं न प्रभवति। एतन्न तु सुखकारकं, नापि दुःखकारकं कर्म, अपितु आत्मान केवल देहस्थित तावदेव निर्धारयति यावत्तस्यावधिः[96]। अकलङ्कदेवैस्तूक्तमस्मिन् विषये—'यद् यस्य सद्भावे जीवो जीवितः, यस्याभावे च मृत इत्युच्यते, तदायुष्कर्मेति[97]। अर्थादायु भवधारणहेतुरिति। अत्र नारकादिगतिषु भवसम्बन्धादायुष्कर्मणश्चत्वारो[98] भेदाः—नारकायु., तिर्यञ्चायुः, मानुषायु, दैवायुरिति। तद्यथा—

(क) यस्योदयात्तीव्र-शीतोष्णवेदकेषु दीर्घजीवननिमित्तं, तन्नारकायु[99]।

(ख) यस्योदयात् क्षुधा-तृषा-शीतोष्णाद्यनेकोपद्रवस्थानभूततिर्यग्भववासस्तत्तिर्यञ्चायुरिति[100]।

(ग) यस्योदयात् शारीरिक-मानसिक-सुखदुःखसमाकुले मानुषभववासस्तन्मानुषायु[101]।

(घ) यस्योदयाच्च शारीरिक-मानसिकसुखयुक्तदेवभववासस्तद्देवायुष्कर्मेत्युच्यते[102]।

नामकर्मभेदाः (Body Making)

प्रज्ञापनायां नामकर्मेत्थं व्याख्यातम्—जीवं गत्यादिपर्यायान् यद् बलादनुभावयति, तन्नामकर्मेति[73]। नेमिचन्द्रश्चेत्थं निरूपयति—यत्कर्म जीवेषु गत्यादिभेदानुत्पादयति, यच्च देहादिभिन्नतायाः हेतुः, येन च गत्यंतरपरिणमनं, तन्नाम[74] कर्मेति।

तदेतन्नामकर्म शुभाशुभभेदेन द्विविधं[75] भवति। अत्र शुभनामानि पुण्यरूपाणि अशुभनामानि च पापरूपाणि। तत्र शुभनामकर्मणो भेदाः सप्तत्रिंशद्विधाः[76] (३७), अशुभनामकर्मणश्च भेदाश्चतुस्त्रिंशद्विधाः[77] (३८) भवन्तीति।

अत्र नामकर्मण उत्तरप्रकृतीनामुपभेदानां पुण्य-पापरूपनिर्देशकं वर्गीकरणं संलग्नचित्राङ्कितविधं भवति।

क्रम.	नामकर्मण उत्तरप्रकृतयः (मुख्यभेदाः)	उपभेदाः				
		क्रमेण संख्या	पुण्यरूपाः प्रकृतयः	क्रमः	पापरूपाः प्रकृतयः	क्रमः
१	गतिनाम	१			नरकगतिनाम	१
		२			तिर्यञ्चगतिनाम	२
		३	मनुष्यगतिनाम	१		
		४	देवगतिनाम	२		
२	जातिनाम	५			एकेन्द्रियजातिनाम	३
		६			द्वीन्द्रियजातिनाम	४
		७			त्रीन्द्रियजातिनाम	५
		८			चतुरिन्द्रियजातिनाम	६
		९	पञ्चेन्द्रियजातिनाम	३		
३	शरीरनाम	१०	औदारिकशरीरनाम	४		
		११	वैक्रियिकशरीरनाम	५		
		१२	आहारकशरीरनाम	६		
		१३	तैजसशरीरनाम	७		
		१४	कार्मणशरीरनाम	८		

४	शरीराङ्गोपाङ्गनाम	१५	औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम	९		
		१६	वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम	१०		
		१७	आहारकशरीराङ्गोपाङ्गनाम	११		
५	संहनननाम	१८	वज्रर्षभनाराचसंहनननाम	१२		
		१९			ऋषभनाराचसंहनननाम	७
		२०			नाराचसंहनननाम	८
		२१			अर्द्धनाराचसहनननाम	९
		२२			कीलिकासंहनननाम	१०
		२३			सेवार्त्तसंहनननाम	११
६	संस्थाननाम	२४	समचतुरस्रसंस्थाननाम	१३		
		२५			न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम	१२
		२६			सादिसस्थाननाम	१३
		२७			वामनसस्थाननाम	१४
		२८			कुब्जसंस्थाननाम	१५
		२९			हुण्डसस्थाननाम	१६
७	वर्णनाम	३०	शुभवर्णनाम	१४		
		३१			अशुभवर्णनाम	१७
८	गन्धनाम	३२	सुरभिगंधनाम	१५		
		३३			दुरभिगंधनाम	१८
९	रसनाम	३४	शुभरसनाम	१६		
		३५			अशुभरसनाम	१९

१०	स्पर्शनाम	३६	शुभस्पर्शनाम	१७		
		३७			अशुभस्पर्शनाम	२०
११	अगुरुलघुनाम	३८	अगुरुलघुनाम	१८		
१२	उपघातनाम	३९			उपघातनाम	२१
१३	पराघातनाम	४०	पराघातनाम	१९		
१४	आनुपूर्वीनाम	४१			नरकानुपूर्वीनाम	२२
		४२			तिर्यञ्चानुपूर्वीनाम	२३
		४३	मनुष्यानुपूर्वीनाम	२०		
		४४	देवानुपूर्वीनाम	२१		
१५	उच्छ्वासनाम	४५	उच्छ्वासनाम	२२		
१६	आतपनाम	४६	आतपनाम	२३		
१७	उद्योतनाम	४७	उद्योतनाम	२४		
१८	विहायोगति-	४८	प्रशस्तविहायोगतिनाम	२५		
	नाम	४९			अप्रशस्तविहायोगतिनाम	२४
१९	त्रसनाम	५०	त्रसनाम	२६		
२०	स्थावरनाम	५१			स्थावरनाम	२५
२१	सूक्ष्मनाम	५२			सूक्ष्मनाम	२६
२२	बादरनाम	५३	बादरनाम	२७		
२३	पर्याप्तनाम	५४	पर्याप्तनाम	२८		
२४	अपर्याप्तनाम	५५			अपर्याप्तनाम	२७
२५	साधारणशरीरनाम	५६			साधारणशरीरनाम	२८
२६	प्रत्येकशरीरनाम	५७	प्रत्येकशरीरनाम	२९		
२७	स्थिरनाम	५८	स्थिरनाम	३०		
२८	अस्थिरनाम	५९			अस्थिरनाम	२९
२९	शुभनाम	६०	शुभनाम	३१		
३०	अशुभनाम	६१			अशुभनाम	३०
३१	सुभगनाम	६२	सुभगनाम	३२		

३२	दुर्भगनाम	६३			दुर्भगनाम	३१
३३	सुस्वरनाम	६४	सुस्वरनाम	३३		
३४	दुस्वरनाम	६५			दुःस्वरनाम	३२
३५	आदेयनाम	६६	आदेयनाम	३४		
३६	अनादेयनाम	६७			अनादेयनाम	३३
३७	यशःकीर्तिनाम	६८	यशःकीर्तिनाम	३५		
३८	अयशःकीर्ति-नाम	६९			अयशःकीर्तिनाम	३४
३९	निर्माणनाम	७०	निर्माणनाम	३६		
४०	तीर्थङ्करनाम	७१	तीर्थङ्करनाम	३७		
योगः ४०	उत्तरप्रकृतयः	७१	पुण्यप्रकृतयः	३७	पापप्रकृतयः	३४

उत्तर-प्रकृतीनां	उत्तरप्रकृतीना-मवान्तरभेदा	पुण्यप्रकृतीनां योगः	पापप्रकृतीनां योगः
योगः	७१	३७	३४

विषयेऽस्मिन् आगमोल्लेखानुसार[36] शरीराङ्गोपाङ्गप्रकृतेरनन्तरं शरीर-बन्धननामोत्तरप्रकृतिस्ततश्च शरीरसंघातनामोत्तरप्रकृतेश्चोल्लेखो विद्यते। एव समुदिता उत्तरप्रकृतयो द्वाचत्वारिशद्विधा भवन्ति।

गोत्रभेदाः (Family Determining)

पूज्यापूज्यत्वादीनामुत्पादकं यत्कर्म तद्गोत्र[37]मित्याख्यायते, यस्मात्कर्मण. समुदयादुच्चावचैश्शब्दैरात्मा शब्द्यते तद् गोत्रमिति[38] वा। तदेतदुच्चैर्नीचै-र्भेदाद् द्विविधम्। अत्रोमास्वामिभिः स्वोपज्ञभाष्ये[39]ऽभिहितम्, यत्-देशजाति-कुल-स्थान-मान-सत्कार-ऐश्वर्यादिविषयकानामुत्कर्षनिर्वर्तकमुच्चैर्गोत्रम्। एत-द्विपरीत चाण्डाल-नट-व्याध-पारिधि-मत्स्यबध-दास्यादिभावनिर्वर्तक नीचै-र्गोत्रम्। आगमेषूच्चैर्नीचैर्गोत्रकर्मणोरुपभेदानां तदनुभावानाञ्चोल्लेख एवविध प्राप्यते—

क्रमः उच्चैर्गोत्रम्	अनुभाव.	नीचैर्गोत्रम्	अनुभाव
१ जाति	मातृपक्षीयजातिवैशिष्ट्यं	जातिः	जातिविहीनता (मातृपक्षीयविशिष्टतायाःअभावः)

२	कुलम्	पितृपक्षीयकुलवैशिष्ट्यम्	कुलम्	कुलविहीनता (पितृपक्षीयकुलवैशिष्ट्याभावः)
३	बलम्	बलविषयकं वैशिष्ट्यम्	बलम्	बलविहीनता
४	रूपः	रूपविषयकं वैशिष्ट्यम्	रूपः	रूपविहीनता
५	तपः	तपविषयकं वैशिष्ट्यम्	तपः	तपोविहीनता
६	श्रुतम्	श्रुतविषयकवैशिष्ट्यम्	श्रुतम्	श्रुतविहीनता
७	लाभः	लाभविषयकं वैशिष्ट्यम्	लाभः	लाभविहीनता
८	ऐश्वर्यम्	ऐश्वर्यविषयकं वैशिष्ट्यम्	ऐश्वर्यम्	ऐश्वर्यविहीनता

एतेनेदं सुस्पष्टं परिज्ञायते, यद्व्यक्तित्वविषयकं यद्वैशिष्ट्यमवैशिष्ट्यं तद्गोत्र-निमित्तकमेव भवति ।

अन्तरायभेदाः (Obstructive)

अन्तरायो व्याघात । यत्कर्म क्रियालब्धि-भोगबलस्फाटनेषु अवरोधकस्सोऽन्तराय इत्युच्यते । अस्यान्तरायकर्मणः पञ्चभेदाः—दानान्तरायः, लाभान्तराय, भोगान्तरायः, उपभोगान्तराय., वीर्यान्तरायश्चेति । ते च यथा—

(क) **दानान्तरायः**—दानकर्मणि यद्विघ्नकारी तद्दानान्तराय इति । अर्थात् एतदुदयाद्दातुकामोऽपि न दानकर्मणि प्रभवति ।

(ख) **लाभान्तरायः**—यस्योदये सति शब्द-गन्ध-रस-स्पर्शादीनां ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपसादीना वा लब्धुकामोऽपि न तांल्लभते, तल्लाभान्तराय इति ।

(ग) **भोगान्तरायः**—यत्कर्मवशात् भोग्यपदार्थानामुपस्थितेऽपि न तान् भोक्तु शक्नोति तद् भोगान्तराय. ।

(घ) **उपभोगान्तरायः**—वस्तुनः पुन.पुनर्भोगः उपभोग., उपभोग्याश्च वस्त्राणि, गृहाणि, इत्यादीनि । एतेषां कर्मोपभोग्याना सत्त्वेपि तदुपभोग यद् व्याघातयति, तद्भोगान्तराय इति ।

(ङ) **वीर्यान्तरायः**—वीर्यं-शक्तिविशेषः[८२], काय-वाङ्मनसां व्यापाराः वीर्यादेव[८३] सम्भवन्ति । ससारिणि च जीवेऽनन्तवीर्यं तिष्ठति[८४] । यच्च कर्मात्मनो वीर्यविरोधकं तद्वीर्यान्तरायः । निर्बलत्वमेतस्यैव फलभूतम् ।

वीर्यञ्च त्रिविधम्—(१) बालवीर्यम्, (२) पण्डितवीर्यम्, (३) बाल-पण्डित-वीर्यञ्चेति । वीर्यान्तरायकर्मैतेषां त्रिविधानामेवावरोधकं[८५] भवतीति ।

स्थितिबन्धस्य भेदाः (Duration of the attachment of Karmic Matter)

आत्मना गृहीतानां कर्मपुद्गलानां राशिर्यवत्कालमात्मप्रदेशैः सम्बद्धा तिष्ठति, तावत्कालस्थितिरेव स्थितिबन्धत्वेनाभिधीयते । सेयं स्थितिर्द्विविधा[१]-उत्कृष्ट-स्थितिः, जघन्यस्थितिश्चेति । यद्यपि कर्मणां स्थितिः, बन्धेन संक्रमणेन, सत्त्वेन च त्रिधा भवति, परमत्र बन्धापेक्षयैवोत्कृष्टजघन्यरूपं द्वैविध्यं निर्दिष्टम् । अतोऽत्राष्टविधेषु कर्मसु चतुर्णां ज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीयान्त-रायकर्मणामुत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्कोट्यकोटिसागरोपमा समानमाना भवति । मिथ्यादृष्टेः संज्ञिनः पञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य जीवस्य मोहनीयकर्मणः परा स्थितिः सप्तति(७०)सागरकोटीकोट्यात्मिकावसेया । नामगोत्रयोः कर्मणोः (उपरि-लिखितस्य जीवस्य) विंशतिसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः । आयुषश्च कर्मण उत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशतकोटीकोट्यः सागरोपमा भवति । सर्वेषा-मपि कर्मणामियमुत्कृष्टा स्थिति. मिथ्यादृष्टि-सज्ञि-पञ्चेन्द्रियं जीवमुद्दिश्य निर्दिष्टा ।

सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थाने ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायाणां, अनिवृत्तिबादरसाम्प-रायगुणस्थाने च मोहनीयस्य, सङ्ख्येयवर्षायुष्केषु तिर्यक्षु मनुष्येषु चायुषो जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्त्ता, वेदनीयस्य तु द्वादश मुहूर्ता, नामगोत्रयोश्चाष्टौ-मुहूर्त्ता जघन्या स्थितिर्भवतीति ।

अनुभावबंधभेदाः (The Fruition being Strong or Mild)

बन्धकालेऽध्यवसायस्य तीव्रमन्दभावानुसारमेव कर्मषु तीव्रमंदफलदानशक्ति-रुत्पद्यते । विविधफलदानशक्तिरेवानुभवपदवाच्या । बद्धकर्मणामुदयस्या-वश्यम्भावित्वात्तेषामुदयात् फलदानानन्तरं कर्माण्यकर्मरूपाणि सम्भूयात्म-प्रदेशेभ्योऽपसरन्ति । यावन्न फलदानकालः समायाति, तावद्बद्धैः कर्मभिर्न सुखदुःखयोरनुभूतिर्भवति । बद्धकर्मणा शुभाशुभत्वात्तद्विपाकोऽपि शुभाशभा-त्मको भवति । तीव्रमन्दात्मकत्वाच्च तीव्र-मन्दो विपाक ।

जीवाना शुभपरिणामप्रकर्षात् शुभप्रकृतीना प्रकृष्टोऽनुभवो, अशुभप्रकृती-नाञ्चानिकृष्टोऽनुभवः । अशुभपरिणामानां प्रकर्षभावात् अशुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः, शुभप्रकृतीनाञ्च निकृष्टोऽनुभवो जायते ।

सोऽयमनुभव एव निमित्तवशात् स्वमुखेन परमुखेन च द्विधा[२] प्रवर्त्तते । अत्र सर्वासामपि मूलप्रकृतीनामनुभवो यद्यपि स्वमुखेनैव प्रवर्तते, परं तुल्यजातीया-नामुत्तरप्रकृतीनामायुर्दर्शनचारित्रमोहातिरिक्तानामनुभवः परमुखेनापि[३]

प्रवर्त्तते । अत्रेदमवसेयम् यन्नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुषः, मनुष्यायुषो वा विपाकस्तथा च चारित्रमोहरूपेण दर्शनमोहस्य, चारित्रमोहस्य च दर्शनरूपेण वा विपाको न[41] भवति ।

अनुभवोऽनुभागः, फलदानशक्तिर्वेति नामान्तराणि । अयमनुभागो बन्धकाले यथा प्राप्यते, नैकान्ततः स तादृश एव व्यवतिष्ठते, यतो हि, स स्वावस्थानकाले कदाचित्परिणमति, कदाचिच्च न परिणमति । किन्तु, यदायं परिणमति तदास्य तिस्रोऽवस्थास्तद्यथा-संक्रमणम्, उत्कर्षणम्, अपकर्षणञ्चेति । तत्र संक्रमणमवान्तरप्रकृतिष्वेव जायते, न तु मूलप्रकृतिषु । अवान्तरप्रकृतिषु चायुष्कर्मणः, दर्शनचारित्रमोहनीययोः, सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयस्य च न संक्रमणं भवति ।

तदेतत् संक्रमणमपि चतुर्विधम्-प्रकृतिसंक्रमणम्, स्थितिसंक्रमणम्, अनुभाग-सक्रमणम्, प्रदेशसंक्रमणञ्चेति । तद्यथा—यत्र प्रकृतिसंक्रमणं प्रदेशसंक्रमणं वा प्रमुखं, तत्र तु संक्रमणेनैव भण्यते, किन्तु यत्र स्थितिसंक्रमणमात्रं, अनुभागसंक्रमणमात्रं वा, तत्र तत्क्रमशरुत्कर्षापकर्षणेनोच्यते । बन्धकाले तु या स्थितिः, अनुभागश्च प्राप्यते, तस्मिन् ह्रासोऽपकर्षणम्, तथा च क्षीण-स्थितौ, क्षीणेऽनुभागे वा वृद्धिरुत्कर्षणमित्युच्यते ।

एवं त्रिविधावस्थासु परिणममाने उदयकाले योऽनुभागो विद्यते, स एव परि-पच्यते । तद्यथा—अनुदयावस्थायां सम्प्राप्तानां प्रकृतीनां परिपाक उदया-वस्थाया सम्प्राप्तप्रकृतिरूपो भवति । यतो हि, उदितानां प्रकृतीनां फलं स्वमुखेनानुदितानाञ्च प्रकृतीनां फलं परमुखेनैव प्राप्यते ।

घात्यघातिभेदाभ्यां तु अनुभागस्य द्वैविध्यम् । तत्र घातिप्रकृतीनामनुभागो लता-दारु-अस्थि-शैलभेदात्मकश्चतुर्विधः । अघातिप्रकृतीनाञ्च पुण्यपाप-भेदाभ्या द्विविधो भवति । तत्र पुण्यप्रकृतीनामनुभागः गुड़-खण्ड-शर्करा-अमृतरूपेषु चतुर्षु भागेषु विभक्तः, अथ च पापप्रकृतीनामपि निम्ब-काञ्जीर-विष-हलाहलरूपेण चतुःप्रकारकोऽनुभागो भवति ।

प्रदेशबन्धभेदाः (The number of karma Varganas)

कर्मप्रकृतीनां कारणभूतानामेकक्षेत्रावगाहस्थितानामनन्तानां सूक्ष्मपुद्गल-परमाणूनां योगविशेषनिमित्तादात्मनः सर्वेष्वपि प्रदेशेषु यो बन्धो जायते, स प्रदेशबन्ध इति[40] । अर्थात् येषा पुद्गलपरमाणूनां संसारावस्थाया जीवेन सर्व-दैव ग्रहणं, तद्ग्रहणकारणञ्च योगः । अत्रात्मक्षेत्रस्थितानामेव सूक्ष्मपरमाणूनां

ग्रहण भवति, नान्यत्र स्थिताना, तथापि स्थितानामेव, न तु गतिशीलानाम् । अथ च गृहीता अनन्तानन्तकर्मपरमाणव आत्मन सर्वेष्वपि प्रदेशेषु तिष्ठन्ति, एतदेवास्य प्रदेशबन्ध इति ।

मिथ्यादर्शनादीनां विनाशक्रमः

बन्धहेतूनां निरोधः

गतिस्वभावात्मकस्य जीवस्य काय-वाङ्मनःपरिस्पन्देन येषा कर्मणामागमनं जायते, तेषा द्रव्य-भावात्मको बन्ध आत्मनि सम्पद्यते । तद्बन्धस्य च कारणानि मिथ्यादर्शनादीनि प्रमादकषाययोगाश्चेति पूर्वोक्तानि । एतेषा कर्मणां यावदागमनद्वाराणि नावरुन्धन्ति, तावत्तेषा सततमागमन भवत्येव, यावच्च तेषामागमनं, तावद्बन्धोऽपि निरन्तर भवत्येव । बन्धस्य चैतस्य नैरन्तर्यात् जन्ममरणादीनामपि चक्र सतत प्रचलिष्यत्येव । चक्रेणानेनात्मा सांसारिकत्वमेवोपलभन् न कदापि स्वविशुद्धस्वरूपमधिगन्तु प्रभवति ।

स्वभावतस्त्वात्मातिविशुद्ध. निर्मलश्च, अतस्तत्स्वरूपाधिग्रहणार्थं, जन्ममरणपूर्वकससारचक्रान्मुक्त्यर्थं आत्मना यदि प्रयत्नानि विधीयन्ते, तत्तस्य स्वाभाविकमेवोद्देश्यमित्यपि पूर्वमेव सुस्पष्टम् । अतोऽत्र मुमुक्षुना यैर्मिथ्यादर्शनादिभिर्बन्धोऽधिगतस्तेषा विनाशाय तद्विनाशकहेतूनामाश्रयणमावश्यकम् ।

मिथ्यादर्शनादिभि. बन्धहेतुत्वादास्रवद्वारिभिर्य आस्रवो जायते, तन्निरोधादेवागमनमवरुध्यते । तदेवोक्त वाचकमुख्यै.—'आस्रवनिरोध. संवर:'[११] । अर्थात् कर्मागमननिमित्ताना काय-वाङ्मनःप्रयोगानामनुत्पन्नत्वमेवास्रवनिरोध इत्युच्यते[१२] । एवमास्रवनिरोधे च सति तत्पूर्वकानेकसुखदुःखबीजभूताना कर्मणामग्रहणमेव 'संवर.'[१३] इति ।

मिथ्यादर्शनाद्यास्रवप्रत्ययनिरोधादागामिकर्मणा निरोधात्मकोऽयं संवरः द्रव्यभावभेदात् द्विविधस्तत्र द्रव्यादिनिमित्ताद्भवान्तरप्राप्तिः ससार. । तत्र निमित्तभूताना क्रियापरिणामाना निवृत्ति 'भावसवर.'[१४], तथा च भावबन्धनिरोधात्तत्पूर्वकागतकर्मपुद्गलानां निरोधो 'द्रव्यसवर.'[१५] इत्युच्यते ।

बन्धहेतूनां विनाशक्रमः

अस्मात्सवरात् मिथ्यादर्शनादीनां यदावरोधो जातस्तदा कर्मणामपि अवरोधो जायते । कर्माभावे चात्मनो सांसारिकत्वस्यापि क्रमशो ह्रासः प्रारभते । यदा

चात्मा क्रमेणतेषां हेतूनां सर्वथा क्षयमुपलभते, स शुद्धो निर्मलः सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रयुक्त. सन् केवलत्वं भजते ।

चतुर्दशगुणस्थानानि

आत्मनोऽयं विकासक्रमो यथा प्रचलति, तस्यैका विशिष्टा श्रेणिरस्मिन् दर्शने स्वीकृता विद्यते, या नान्यस्मिन् कश्मिश्चिदपि दर्शने समवलोक्यते । सेयं सरणिश्चतुर्दशगुणस्थानरूपक्रमयुक्ता, यत्र मिथ्यादर्शनादीना क्रमशो विनाशः कथं जायते ? कस्य स्थानिकस्य जीवस्यायं विनाशः कियत्परिमाणे वा जायते ? इत्यादिकस्य सुस्पष्टं विवरणं विद्यते । तानि च चतुर्दशगुणस्थानानि निम्नाङ्कितानि—

(१) मिथ्यादृष्टिर्गुणस्थानम् (Delusion-Stage) ।

(२) सासादनसम्यग्दृष्टिर्गुणस्थानम् (Dawn fall-Stage) ।

(३) सम्यङ्मिथ्यादृष्टिर्गुणस्थानम् (Mixed-Stage) ।

(४) असंयतसम्यग्दृष्टिर्गुणस्थानम् (Vowless-Right-Belief Stage) ।

(५) संयतासंयतगुणस्थानम् (Partial-Vow-Stage) ।

(६) प्रमत्तसंयतगुणस्थानम् (Imperfect-Vow-Stage) ।

(७) अप्रमत्तसंयतगुणस्थानम् (Perfect-Vow-Stage) ।

(८) अपूर्वकरण (उपशमकक्षपक) गुणस्थानम् (Newthought Activity-Stage) ।

(९) अनिवृत्तिकरण (बादरोपशमकक्षपक) गुणस्थानम् (Advanced thought-Activity-Stage) ।

(१०) सूक्ष्मसाम्पराय(उपशमकक्षपक)गुणस्थानम् (Slightest-Delusion-Stage) ।

(११) उपशान्तकषाय(वीतरागछद्मस्थ)गुणस्थानम् (Subsided Delusion-Stage) ।

(१२) क्षीणकषाय (वीतरागछद्मस्थ) गुणस्थानम् (Delusionless Stage) ।

(१३) सयोगिकेवलिगुणस्थानम् (Vibrating Omniciant Conqueror Stage)।

(१४) अयोगिकेवलिगुणस्थानञ्चेति (Non-Vibrating Omniciant Conqueror Stage)।

एषु चतुर्दशष्वपि गुणस्थानेषु प्रथमतः समारभ्य क्रमशस्तत्तद्गुणस्थानमधिगतो जीवोऽन्ते सिद्धत्वमुपगच्छति"। अर्थात् प्रथमे मिथ्यात्वे गुणस्थाने जीवस्यौदयिको भावः, द्वितीये पारिणामिकस्तृतीये च क्षायौपशमिकश्चतुर्थे च त्रय एव भावाः भवन्ति। तथा च पञ्चमे, षष्ठे, सप्तमे गुणस्थाने औपशमिकक्षायिकश्च भावौ सम्पद्येते। ततश्च सर्वेष्वपि उपशमकक्षपकेषु गुणस्थानेषु क्षायिकौपशमिकप्रभावः। किञ्च, क्षायिको भावस्तु केवलमयोगिजिने एव सम्पद्यते, यश्च सिद्धत्वपरनाम्नाप्युच्यते। तत्र कस्मिन् गुणस्थाने कियतां बन्धहेतूनामभाव इत्यर्थमत्रचतुर्दशानामपि गुणस्थानां क्रमशो विवेचन क्रियते।

१. मिथ्यादृष्टिर्गुणस्थानम् (Delusion-Stage)

गुणाः ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषास्तेषां स्थानं शुद्ध्यशुद्धिप्रकर्षाप्रकर्षकृत स्वरूपभेद.। तिष्ठन्ति गुणा. यस्मिन्निति स्थानम्, गुणानां स्थानं गुणस्थानम्। तत्र मिथ्या-विपर्यस्ता, दृष्टिरर्हत्प्रणीतजीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य स. मिथ्यादृष्टिस्तस्य यद्गुणस्थान तन्मिथ्यादृष्टिर्गुणस्थानमिति।

अर्थाद्यस्य मिथ्यादर्शनोदयः, सः मिथ्यादृष्टिरस्ति"। मिथ्यादर्शनोदयाच्च तत्त्वेष्वश्रद्धानमुत्पद्यते। एतादृशस्य जीवस्य ज्ञानावरणक्षयोपशमादुत्पद्यमानानि त्रीण्येव ज्ञानानि मिथ्यात्वयुक्तानि भवन्ति।

अत्र स्थितस्य जीवस्य मिथ्यात्वोदयात् या विपरीतदर्शनात्मिका बुद्धिर्जायते, तया यथा ज्वरिताय मधुरो रसो न रोचते, तथैवायमपि धर्मेषु नाभिलषति। नापि केनचिदप्युपदिष्टे वचने श्रद्दधाति, अपितु वस्तुनोऽसद्भावे तथाचानुपदिष्टे" वचने एव श्रद्दधाति। सामान्यतश्चायं हिताहितपरीक्षाविरहितः, परीक्षकश्चेति भेदेन द्विविधो भवति। तत्र संज्ञिपर्याप्तकव्यतिरिक्ता एकेन्द्रियादय. सर्वेऽपि जीवाः हिताहितपरीक्षाविरहिता., संज्ञिपर्याप्तकाश्चोभयविधाः अपि भवन्ति।

अत्र ज्ञानादिगुणा. कथं विपर्यस्तायां दृष्टौ सम्पद्यन्ते, इति नोचितं शङ्कनम्,

यतोहि—यद्यपि प्रबलमिथ्यात्वमोहनीयोदयात् जीवाजीवादिप्रतिपत्तिरूपा-दृष्टिः प्राणिषु विपर्यस्ता जायते, तथापि काचिन्मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्तिरत्व-विपर्यस्तैव भवति। तस्मात् निगोदावस्थायामपि तथाभूताव्यक्तस्पर्शमात्र-प्रतिपत्तिरविपर्यस्ता भवति,' अन्यथाऽजीवत्वप्रसङ्गः सम्पद्येत। अर्थात्प्रबल-मिथ्यात्वोदयेऽपि काचिदविपर्यस्तापि दृष्टिर्भवति, ययापेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसम्भवः[९९]।

२ सासादनसम्यग्दृष्टिर्गुणस्थानम् (Down-Fall-Stage)

अत्रेदमौपशमिकसम्यक्त्वलाभलक्षणः, सादयत्यपनयतीति सासादनमनन्तानु-बन्धिकषायवेदनम्। आसादनेन सह वर्तते इति सासादन। सम्यगविपर्यस्ता दृष्टिः—वस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य स सम्यग्दृष्टिः। सासादनश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्चेति सासादनसम्यग्दृष्टि.[१००]अत्र सास्वादनसम्यग्दृष्टिरित्यपि पाठो विद्यते। तदपेक्षया त्वौपशमिकसम्यक्त्वलक्षणेन रसास्वादनेन सह वर्तते इति सास्वादनस्तथाहि—भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तः कश्चन पुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमा-स्वादयति, तथैव मिथ्यात्वाभिमुखेन सम्यक्त्वे व्यलीकचित्तो जीव सम्यक्त्व-मुद्वमन् तद्रसमास्वादयति। सास्वादनश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्चेति सास्वादन-सम्यग्दृष्टिस्तद् गुणस्थानं सास्वादनसम्यग्दृष्टिर्गुणस्थानमित्युच्यते।[१०१]

मिथ्यादर्शनोदयाभावे सत्यपि यस्यात्मानन्तानुबन्धेरुदयात्कालुष्यमधिगच्छति स सासादनसम्यग्दृष्टिर्भवति। अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य मोहनीयषड्विंशति-प्रकृतीनां, सादिमिथ्यादृष्टेश्च षड्विंशतिप्रकृतीनां, सप्तविंशतिप्रकृतीना-मष्टाविंशतिप्रकृतीनां वा सत्ता तिष्ठति[१०२]। एते च यदा प्रथमसम्यक्त्वग्रहणो-न्मुखास्तिष्ठन्ति, तदानवरतमनन्तगुणविशुद्धि वर्धयन्तः शुभपरिणामसंयुक्ता जायन्ते। ततश्च चतुश्चतुर्विधेषु वाङ्मनोयोगेष्वेकैकेन योगेनौदारिकवैक्रियि-कयोश्चैकतरेण काययोगेन युक्ता. भवन्ति। एक कश्चन कषायोऽपि हीनाधिको जायते, तथा च त्रिष्वपि वेदेषु केनचिदेकेन साकारोपयोगेन सहितः, संक्लेश-रहितः, प्रवर्धमानैः शुभपरिणामैः कर्मप्रकृति स्थितिञ्च क्षयमाणोऽशुभकर्म-प्रकृतीनामनुभागञ्च विदारयन्, शुभप्रकृत्यनुभागरसञ्च वर्द्धयन् करणत्रयं[१०३] प्रारभते।

अन्ते च सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-सम्यङ्मिथ्यात्वादीनामनन्तानुबन्धिक्रोधमान-मायालोभानामुदयाभावेऽन्तर्मुहूर्त यावत्प्रथमोपशमसम्यक्त्वं भवति। तस्मिन्काले चात्यधिकं षडावलिं यावन्न्यूनतमञ्चैकसमयकमिदमवशिष्यते।

तदा च यदि अनन्तानुबन्धि-क्रोध-मान-माया-लोभेषु कश्चिदुदयमधिगच्छति, तदा स सासादन इत्युच्यते ।

अत्र मिथ्यादर्शनोदयाभावेऽपि मतिश्रुतावधिज्ञानान्यज्ञानाख्यान्यस्य भवन्ति । कषायश्चानन्तमिथ्यादर्शनानुबन्धित्वादनन्तानुबन्धीत्युच्यते । एवमत्र परमानन्दरूपानन्तसुखफलप्रदो मोक्षबीजभूतः, औपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः एकसमयेन, उत्कृष्टत षडावलिकाभिरवगच्छति, स एव सास्वादनगुणस्थानकाल इत्युच्यते ।

३. सम्यङ्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् (Mixed-Stage)

सम्यक् च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यङ्मिथ्यादृष्टिस्तस्य गुणस्थानं सम्यङ्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् । अत्र सम्यङ्-मिथ्यात्वोदयान्न तु केवलं मिथ्यादर्शनं, नापि केवल सम्यङ्दर्शनमपितूभयोर्मिश्रित एव भावो[104] जायते । अर्थात् क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रवोपभोगाद्यथेषत्कलुषितः मदपरिणामो जायते, तद्वदेव सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृतेरुदयात्तत्त्वार्थश्रद्धानरूपोऽश्रद्धानरूपश्च मिश्रित एव परिणामो जायते । अर्द्धविशुद्धदर्शनमोहनीयपुञ्जोदयादर्धविशुद्ध तत्त्वश्रद्धानं भवति । यतो ह्यस्य त्रीण्यपि ज्ञानान्यज्ञानमिश्रितानि भवन्ति । तदेतत् अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण सम्यङ्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमुच्यते । अन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं तु नियमत. सम्यक्त्वं, मिथ्यात्व वैवाधिगच्छतीति ।

४ असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् (Vowless-Right-Belief-Stage)

हिंसानृतादिभ्य. पापेभ्यो विरमणं विरतिस्तदेव विरतम्, तत्पुन सावद्ययोगप्रत्याख्यानम्, तदेतन्न तु जानाति, नाभ्युपगच्छति, नापि तत्पालनाय यतते, इत्येषा त्रयाणा पदानामष्टौ भेदाः जायन्ते । तत्र प्रथमेषु चतुर्विधेषु भेदेषु अज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टित्वम्, शेषेषु त्रिषु च ज्ञानित्वात्सम्यग्दृष्टित्वमुपपद्यते । सप्तभेदेषु नास्य विरतत्वमस्तीति-अविरतः, चरमे तु भेदे विरतिरस्त्येव । अतः विरमति स्म, सावद्ययोगेभ्यो निवर्तते स्मेति विरत, न विरतोऽविरतः, स चासौ सम्यग्दृष्टिश्चेत्यविरतसम्यग्दृष्टिः ।

स च क्षायिकसम्यग्दृष्टिरौपशमिकसम्यग्दृष्टिक्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिर्वा सावद्ययोगविरतिं सिद्धिरूपसौधाग्र्यारोहणनिःश्रेणिकल्पां जानन्नप्यप्रत्याख्यानकषायविघ्नितत्वात् नाभ्युपगन्तु शक्नोति, नापि तत्परिपालनाय यतते, इत्यसावविरतसम्यग्दृष्टिस्तस्य गुणस्थानमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् ।[105]

एतच्च गुणस्थानं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमं यावद्भवति । परतः देशविरतित्वादिभावात् । मिश्रवर्जान्येतान्येव त्रीणिगुण-स्थानानि गत्यन्तरमनुगच्छन्ति, न शेषाणि ।

अत्र दर्शनमोहस्योपशमात्, अनन्तानुबन्धिकषायानाञ्च क्षयादुपशमसम्यक्त्व-मुपपद्यते । किन्तु त्रिविधिस्य मिथ्यात्वस्य चतुर्णामनन्तानुबन्धिकषायाणाञ्च क्षयात् क्षायिकं सम्यक्त्वमुपपद्यते, तथा चाप्रत्याख्यानावरणीयकषायाणा-मुदयादिदं सम्यक्त्वमसंयतमविरतं वा जायते । अर्थात्तस्मिन् सम्यक्त्वं त्रिविधं भवति[101] । तथाहि—

१. **उपशमसम्यक्त्वम्** (Subsidential-Right-Belief)

इदमप्यत्र द्विविधं भवति, तत्र प्रथमस्य कालोऽन्तर्मुहूर्तः, यस्मादात्मा प्रथम-द्वितीय-तृतीयादिगुणस्थानेषु पतितुं शक्नोति । किन्त्वस्य काले व्यतीते सति नात्मा पतितु प्रभवति, यतो हि, तदनन्तर स द्वितीयं सम्यक्त्वमभिगच्छति ।

२. **क्षायौपशमिकसम्यक्त्वम्** (Destructive-Subsidential-Right-Belief)

यत्र सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्वस्योदयात् दर्शनमोहस्यान्तिमास्त्रिभेदास्तथा चानन्तानुबन्धिकषायाणामांशिकक्षयेन सह द्वावन्यावपि कषायौ विनाश-मगच्छताम्, तत्क्षायौपशमिक गुणस्थानमित्युच्यते । अस्य जघन्योऽन्त-मुहूर्तात्मक काल., उत्कृष्टश्च षड्षष्टिसागरोपमः । मध्यमं तु परिमाणमस्य त्रयोदशसागरोपम. ।

३. **क्षायिकसम्यक्त्वम्** (Destructive-Right-Belief)

त्रिविधस्यापि दर्शनमोहनीयस्य चतुर्णामपि चानन्तानुबन्धिकषायाणां सर्वथा क्षयादिदमुत्पद्यते । क्षायिकसम्यक्त्वमिदं दर्शनस्य सर्वाष्वपि कोटिषूत्तम-मिति । येनात्मनेदमधिगतं तेनोत्कृष्टेन कालेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमेण सिद्धत्व-मवश्यमेवाधिगन्तव्यं स्यात् । अस्य विस्तृतं विवेचनं गोम्मटसार-जीवकाण्डे आङ्ग्लभाषीयव्याख्यायां प्रतिपादितं विद्यते । तस्यायमभिप्रायः—

'यदयं मनुष्यजातिषु केवलं जम्बूद्वीपस्य सप्तक्षेत्रेष्वन्तर्भाविनि विदेहक्षेत्रे समुत्पन्नस्यात्मनो न्यूनत्वेन जायते । यस्यायुरेककोटिपूर्वात्मिका भवति । यदा चेदं समुपजायते, तदा आयुषः पूर्णत्वे सति सर्वार्थसिद्धिनामकं सर्वत ऊर्ध्वं

स्वर्गं त्रयस्त्रिंशत्सागरात्मकमायुष्कञ्चाधिगच्छति । तदनन्तरञ्च स पुनर्विदेहक्षेत्रे समुत्पद्यैककोटिपूर्वात्मकमायुष्कञ्चाधिकतया सम्पाद्य सिद्धत्वमधिगन्तुं शक्नोतीत्यादिः[107] । अस्मिन् गुणस्थाने त्रीण्यपि ज्ञानानि सम्यगेव भवन्ति, अतस्तत्त्वार्थेषु सम्यक्श्रद्धानादग्रिमेष्वपि गुणस्थानेषु सम्यक्त्वं नियमतः सम्पद्यते ।

५. संयतासयत(देशविरत)गुणस्थानम् (Partial-Vow-Stage)

चारित्रमोहोपशमात्, क्षयात्, क्षयोपशमाद्वा, अनन्तानुबन्धिकषायाणां क्षयात्, अक्षयाद्वा, सर्वघात्यप्रत्याख्यानावरणकषायाणामुदयक्षयरूपे सदवस्थारूपे वोपशमे, सर्वघातिप्रत्याख्यानावरणकषायाणामुदयात्सयमलब्ध्यभावे, देशघातिसञ्ज्वलनादिनोकषायाणाञ्चोदये, सयमासंयमलब्धौ सत्यां जीवेन्द्रियविषयक विरताविरतपरिणामयुक्त सयतासयतगुणस्थानमिदमधिगच्छति[108] । अर्थात् सर्वमावद्ययोगस्य देशिकमेकव्रतविषयक वा स्थूलसावद्ययोगादौ विरमणरूप विरत यस्यासौ देशविरतः । अस्य खलु प्रत्याख्यानावरणकषायोदयात् सर्वसावद्ययोगेषु विरतिर्न भवति, यतो हि, प्रत्याख्यानावरणाः सर्वविरतिरूप प्रत्याख्यानमावृण्वन्त्यतएवेद गुणस्थान देशविरतपदेनाभिधीयते ।

६. प्रमत्तसंयतगुणस्थानम् (Imperfect-Vow-Stage)

सयमयोगेषु प्रमाद्यति, सीदति स्मेति प्रमत्त । यद्वा (प्रमाद) प्रमत्तमस्यास्तीति प्रमत्त —प्रमादवान्, प्रमदन प्रमाद, स च प्रणय-विषय-कषाय-निद्राविकथानामन्यतम, सर्वे वा समुदिता । प्रमत्तश्चासौ संयतश्च प्रमत्तसयतः, तस्येद गुणस्थानमिति[109] ।

अनन्तानुबन्धिकषायाणा क्षीणेऽक्षीणे उदये वा सति तथा च प्रत्याख्यानावरणाप्रत्याख्यानावरणकषायाणामुदये क्षये सदवस्थितौ वोपशमे सति, सञ्ज्वलननोकषायाणाञ्चोदयात् सयमलब्धौ चाभ्यन्तरसंयमपरिणामानुसारिभिर्बाह्यसाधनैः सहैव प्राणिसयममिन्द्रियसयमञ्च पालयन्, पञ्चदशविधप्रमादवशात् यदाकदापि चारित्रपरिणामस्खलनात्मकत्वं[110] भजते, तदैतद्गुणस्थान प्रमत्तसयताख्यमित्युच्यते ।

अत्र देशविरतगुणस्थानापेक्षया विशुद्धेः प्रकर्षोऽविशुद्धेश्चापकर्षः, अप्रमत्तसयतगुणस्थानापेक्षया विपर्ययश्च । अतोऽस्य गुणस्थानस्य विशुद्ध्यविशुद्धिप्रकर्षाप्रकर्षकृतोऽय भेदः ।

७. अप्रमत्तसंयतगुणस्थानम् (Perfect-Vow-Stage)

न प्रमत्तोऽप्रमत्तः, यद्वा नास्ति प्रमत्तमस्यासावप्रमत्तः, स चासौ संयतश्चा-प्रमत्तसंयतस्तस्येदं स्थानमिति[111]। अर्थात्प्रमादाभावादविचलितः संयमी 'अप्रमत्तसंयतः' इत्युच्यते। तस्य यद्गुणस्थानं तदप्रमत्तसंयतगुणस्थानम्[112]।

यदा हि प्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्ती जीवो व्यक्ताव्यक्तप्रमादयुक्तोऽपि शीलगुण-संयुक्तो भवति, किन्तु सप्तमगुणस्थानवर्ती जीवः प्रमादं विनाश्य, पञ्चमहा-व्रतेषु सलग्नः, गुणशीलयुक्तः सन् न पुनरुपशम-क्षपकश्रेणीमारोढुं प्रभवति स स्वस्थानाप्रमत्तसंयतः[113] (Ordinary-Perfect-Vow) इत्युच्यते। यश्च त्रिविधेषु करणेष्वेकतरेण एकविंशतिविधचारित्रमोहस्य क्षयमुपशमं वा कर्तुं प्रभवति, तदधःप्रवृत्तिकरणाख्यं सप्तमगुणस्थानमेव सातिशयप्रमत्त[114]संयतः (Extra-Ordinary-Perfect-Vow) इत्युच्यते।

८. अपूर्वकरण (उपशम-क्षपक) गुणस्थानम् (New-Thought-Activity-Stage)

स्थितिघात-रसघात-गुणश्रेणि-गुणसंक्रमणाभिनवस्थितिबन्धानां पञ्चाना-मर्थाना निवर्तनं करणम्, अपूर्वमभिनवं करण यस्यासौ अपूर्वकरणः, तस्य गुणस्थानमपूर्वकरणगुणस्थानमित्युच्यते[115]।

सप्तमगुणस्थानेऽध प्रवृत्तिकरणाख्ये तावदुपरितनभावा अपि अधस्तनभाव-सदृशा एव जायन्ते, किन्त्वत्र जीवे खलु ये भावा. विद्यमानाः सन्ति, अधस्तन-भावेषु न स तत्सदृशभावान् अधिगच्छत्यपितु ये भावा अनेन न कदापि पूर्वमधि-गृहीतास्ते उपरितनभावा. विसदृशाः[116] (स्वभावादुच्चतराः, अगृहीतपूर्वाश्च) एव जायन्ते। अर्थादपूर्वकरणरूपया परिणामविशुद्ध्या अग्रिमा श्रेणीमारोह-यन्नपूर्वकरणो भवति। यद्यप्यत्र न तु कर्मप्रकृतीनामुपशमः, नापि क्षयः. तदपि तदन्तर्भाविन उपशमस्य क्षयस्य,वापेक्षयात्राप्युपशमक्षपकव्यवहार[117] उपचारा-देव वर्तते।

एतद्गुणस्थानप्रतिपन्नानां परस्परमध्यवसायस्थानानां व्यावृत्तिलक्षणा निवृत्तिरप्यस्ति, अतो निवृत्तिगुणस्थानमप्येतदुच्यते।

९. अनिवृत्तिकरण (बादरसम्पराय) गुणस्थानम् (Advanced-Thought Activity-Stage)

यद्गुणस्थानप्रतिपन्नानां बहूनामपि जीवानामन्योन्याध्यवसायस्थानस्य युग-

पदेव व्यावृत्तिः—निवृत्तिः, सा नास्ति यत्र तदनिवृत्तिकरणगुणस्थानम्। अनिवृत्तिकरणपरिणामविशुद्धिवशात् कर्मप्रकृतीनां स्थूलरूपेणोपशमकक्षपकत्वमनिवृत्तिकरणगुणस्थानमिति वा। सम्परैति पर्यटति संसारमनेनेति सम्परायः-कषायोदयः, सूक्ष्मकिट्टिकृतसम्परायापेक्षया बादरः-स्थूलः सम्परायो यस्य स बादरसम्परायः। अनिवृत्तश्चासौ बादरसम्परायश्चानिवृत्तबादरसम्परायः, तस्य यद्गुणस्थानं तद्बादरसम्परायगुणस्थानमिति।[118]

एतद्गुणस्थानप्रतिपन्नानां, प्रतिपद्यमानानां, प्रतिपत्स्यमानानाञ्च प्रथमसमयवर्तिनां सर्वेषामपि जीवानामेकमेवाध्यवसानस्थानमपूर्वकरणं चरमसमयविशुद्धिवशादनन्तगुणविशुद्धोऽनिवृत्तबादरसम्परायः द्वितीयसमयविशुद्धितोऽनन्तगुणहीनश्च भवति[119]।

१० सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् (Slightest-Delusion-Stage)

सूक्ष्मः सम्परायो यस्य, सोऽयं सूक्ष्मसम्परायः, अर्थात् सूक्ष्मभावेनोपशमनात्क्षपणाच्च सूक्ष्मसम्पराय इत्युच्यते। अत्र कषायाणां रागस्य चात्यन्तं सूक्ष्मत्वमेव सस्पर्शात्मकं तिष्ठति, तथा चात्र जीवः उपशमकः क्षपको वा सन्नपि लोभकषायस्यैषत्स्वरूपेण युक्तो भवति, अतएवायं सूक्ष्मसम्परायः[120], सूक्ष्मसरागः, इति वोच्यते। यथा खलु धौतमपि कौसुम्भं वस्त्रं सूक्ष्मरक्तवर्णं (रागरञ्जितमिव) भवति, तथैवात्रापि सर्वेषामपि कषायाणामभावे सत्यपि लोभकषायांशसम्पर्कात्सूक्ष्मसरागत्वमभिहितम्[121]।

११. उपशान्तकषाय(वीतरागछद्मस्थ)गुणस्थानम् (Subsided-Delusion-Stage)

छाद्यते केवलज्ञानं, केवलदर्शनञ्चात्मनः येन तत्छद्म, तस्मिन् घातिकर्मचतुष्कोदयात्केवलस्यानुत्पाद एव तिष्ठति, तदपगमानन्तरञ्च तदुत्पादात् छद्मनि तिष्ठतीति छद्मस्थः, स च सरागोऽपि भवति, अतोऽत्र तस्याभावाद्वीतरागः (वीतः रागो यस्यासौ), माया-लोभकषायरहितश्चासौ छद्मस्थश्च वीतरागछद्मस्थः, स च क्षीणरागोऽपि भवति, किन्त्वत्र तदुत्कृष्टत्वादुपशान्तकषायत्वं, कषायास्तावत्क्रोधादयः, सत्तायां विद्यमाना अपि उपशान्ताः-उपशमिताः संक्रमोद्वर्तनादिकरणोदयायोग्यत्वेन व्यवस्थापिताः कषायाः येन स उपशान्तकषायः। स चासौ वीतरागछद्मस्थश्चोपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थस्तस्येद[122] गुणस्थानमिति।

यथा खलु कतकफलयुक्तं जलम्, शरदि ऋतौ निर्मलं यत्सरोजलं तद्वत् निर्मलं मोहस्योपशमात्, सर्वेषां कषायाणाञ्चोपशमात् नैर्मल्यमात्मनि सञ्जायते, अर्थादत्र मोहनीयस्य अष्टाविंशतिविधाः सर्वा अपि प्रकृतय उपशान्ताः जायन्ते, येनात्मनि निर्मलत्वमुपपद्यते[११] ।

१२. **क्षीणकषाय (वीतरागछद्मस्थ) गुणस्थानम्** (Delusionless-Stage)

क्षीणा अभावमापन्ना कषायाः यस्य स क्षीणकषाय., (वीतरागश्चासौ छद्मस्थश्च वीतरागछद्मस्थ.) तस्येद गुणस्थानम्[१२४] । यस्य सर्वथापि मोहस्य क्षयः सञ्जात., स क्षीणकषायगुणस्थानवर्तिनिर्ग्रन्थविमलस्फटिकवदमलचित्तयुक्तः[१२५] सञ्जायते ।

१३. **सयोगिकेवलिगुणस्थानम्** (Vibrating-Omnicient-Conqueror-Stage)

योगो-वीर्यं, शक्तिः, उत्साह , पराक्रम , चेष्टा, सामर्थ्यमिति नामान्तराणि । स च योग. काय-वाङ्-मनोभेदेन त्रिविध इति पूर्वमेव व्याख्यातम् । अत्र केवलिनो मन.पर्ययज्ञानिभिरनुत्तरादिभिर्वा मनसा स्पृष्टस्य सतो मनसैव देशनात् मनोयोगो विद्यते । ते हि केवलिप्रयुक्तानि मनोद्रव्याणि मनःपर्ययज्ञानेनावधिज्ञानेन वा पश्यन्ति, दृष्ट्वा च विवक्षिताकारमन्यथानुपपत्या लोकस्वरूपादिबाह्यार्थमवगच्छन्ति । एतेन मनोयोगेन सहैव काययोग निमेषोन्मेषचङ्क्रमणादौ, वाग्योगश्च धर्मदेशनादौ विद्यत एव । अनया योगक्रियया सह वर्तत इति सयोगी । केवल-केवलज्ञान केवलदर्शनञ्च विद्यते यस्य स केवली । सयोगी चासौ केवली चेति सयोगिकेवली, स यस्मिन् स्थाने सञ्जायते, तत् सयोगिकेवलिगुणस्थानमिति ।[१२६]

अस्मिंश्च गुणस्थाने सयोगिकेवलिन चरमे समये सप्तविधा अपि पदार्थाः युगपदेव व्यवच्छिद्यन्ते । तथाहि— सूक्ष्मकिट्टय., सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानम्, सातावेदनीयस्य बन्ध, नामगोत्रयोरुदीरणा, योगः, लेश्या, स्थित्यनुभागघातश्चेत्यादय[१२७] ।

अत्रायमसहाय(केवल)ज्ञानदर्शनचारित्रयुक्त. सन् दशविध क्षयमुपलभते[१२८] । तद्यथा—(१) क्षायिकं ज्ञानम्, (२) क्षायिकं दर्शनम्, (३) क्षायिक दानम्, (४) क्षायिक लोभम्, (५) क्षायिक भोगम्, (६) क्षायिकमुपभोगम्, (७) क्षायिक वीर्यम्, (८) क्षायिकं सम्यक्त्वम्, (९) क्षायिकं चारित्रञ्चेति ।

एते सर्वेऽप्यनादिनिधनात्मका, अतएव द्रव्यसदृशाः जायन्ते, न तु कस्यचिद्विकल्पाः, नापि कस्यचित् साहाय्यत्वम् ।

१४. **अयोगिकेवलिगुणस्थानम्** (Non-Vibrating-Omnicient-Conquerer-Stage)

सयोगिकेवलिनोऽनन्तरसमयेऽयोगिकेवली भवति । स च कर्मक्षपणाय व्युपरतक्रियमनिवृत्तिध्यानं ध्यायन् मध्यमप्रतिपत्त्या ह्रस्वपञ्चाक्षरोच्चारणमात्रकालं शैलेशीकरण प्रविशति । अत्र शैलेशो मेरुस्तद्वत् कम्पनरहिता या स्थिरता साम्यावस्था, सा शैलेशी, अथवा शील-सर्वसवरः, तस्येशः, शीलेशः, तस्येयं योगनिरोधावस्था शैलेशी, यद्वा 'शील समाधौ' 'ईश ऐश्वर्ये', शीले ईशस्तद्भावः शैलेशस्तस्य करण नाम पूर्वविरचितशैलेशीसमयसदृशगुणश्रेणियुक्तस्य वेदनीयनामगोत्राणामघातिकर्मणामसंख्येयगुणया श्रेण्या, शेषायुष्कस्य च यथास्वरूपस्थितया श्रेण्या निर्जरण शैलेशीकरणम्, तत्र चासौ प्रविष्टोऽयोगीत्युच्यते । स चासौ केवली चायोगिकेवलीति । सोऽस्मिन् गुणस्थाने सञ्जायते तदपेक्षयेदमयोगिकेवलिगुणस्थानम्[१९९] ।

स खलु स्थितिरसघातादिरहित यान्युदयवर्तीनि कर्माणि तानि स्थितिक्षयेणानुभवन् क्षपयति, यानि तु तदानीमनुदयवन्ति कर्माणि, तानि वेद्यमानसक्रमणेन सक्रमयन्, वेद्यमानप्रकृतितया चानुभवन् तावद्याति, यावदयोगावस्थाया. द्विचरमसमयौ तिष्ठतः । तत्र च द्विसप्तति. कर्माणि स्वरूपसत्तामधिकृत्य क्षयमुपगच्छन्ति, चरमसमये सक्रम्यमाणत्वादिति । इत्थं निरवशेषमास्रव सरुद्ध्य, कर्मरजोभिर्विप्रमुक्त शीलैश्य सम्प्राप्तः, त्रिविधयोगविरहितोऽयोगिकेवली जायते ।

एवमेषु गुणस्थानेषु सम्यक्त्वेन सयुक्त 'श्रावक.' चतुर्थगुणस्थानिक., पञ्चमगुणस्थानिकश्च 'देशविरत ' षष्ठसप्तमस्थानिकौ च 'विरतौ', तथा चाष्टमनवम-दशम-एकादश-स्थानिकाश्च 'उपशमक-क्षपका ', द्वादशतमस्थानिकाश्च 'क्षपकाः', तथा च त्रयोदशतम-चतुर्दशतमस्थानिकाश्च 'जिना ', इतिसज्ञकाः[२००] भवन्ति ।

एव क्रमश. कर्मणामुपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाच्चान्ते केवलित्व समधिगतोऽपि निर्वाणं यावदत्र तिष्ठति । निर्वाणे च सति सर्वविधबन्धविरहितः स शुद्धात्मा सिद्धो भूत्वा लोकाग्रे निवसति । एतदेवात्मनश्चरमोत्कर्ष , यदर्थमात्मना प्रयत्नो विधीयते, इति ।

सन्दर्भोल्लेखाः

१. उसू-नेमिचन्द्रीयटीकायाम्-२८।१४ ॥

२. स्थासू-टीकायाम्-बन्धो जीवकर्मणोः संयोगोऽभिमतः । १।४।६ ॥

३. स्थासू-टीकायाम्-द्रव्यतो बन्धो निगडादिभिर्भावतः कर्मणा । १।४।६ ॥

४. द्रसं-३२ ॥ ५. ससि-१-४ ॥

६. स्थासू-टीकायाम्-आदिरहितो जीवकर्मयोग इति । १।४।६ ॥

७. स्थासू-टीकायाम्-१।४।६ ॥

८. स्थासू-२।४।९६ ॥ ९. उसू-३०।१ ॥ १०. उसू-३२।७ ॥

११. स्थासू-टीकायाम्-२।४।९६ ॥

१२. स्थासू-(टीकायाम्)-जोगपयडिपदेसं ठिति अणुभागं कषायओ कुणति । २।४।९६ ॥

१३. स्थासू-(टीकायाम्)-मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः बन्धहेतवः । २।४।९६ ॥

१४. भसू-१।२ ॥ १५. तसू-८।१ ॥ १६. तसू-(टीकायाम्) ५ ॥

१७. स्थासू-१०।१।७३४ ॥ १८. ससि-८-१ ॥ १९. तसू-भाष्ये । ८।१ ॥

२०. स्थासू-२।७० ॥ २१. ससि-८।१ ॥ २२. ससि-७।१॥८।१॥

२३. क-ससि-८।१ ॥ ख-तवा-८।१।२९ ॥ २४. तवा-८।१।३१ ॥

२५. तवा-८।१।३० ॥ २६. तसू-८।१ ॥ २७. ससि-८।१ ॥

२८. SEBOJA-voll. 5/282

२९. क-अकमा-४।२ ॥ ख-तसू-६।१ ॥ ३०. तवा-२।२५।३ ॥

३१. तवा-६।१।१० ॥ ३२. तवा-६।१।१० ॥ ३३. तवा-६।१।१० ॥

३४. ताविभा-८।१ ॥ ३५. पञ्चा-१४७ ॥ ३६. तवा-८।३।१,४ ॥

३७. तवा-८।३।२,५ ॥ ३८. तवा-८।३।६ ॥ ३९. तवा-८।३।७ ॥

४०. गोसाक-८९ ॥ ४१. गोसाक-९० ॥ ४२. गोसाक-९१ ॥

४३. तवा-८।३।११ ॥ ४४. तसू-८।४ ॥

४५. SEBOJA-voll-5/38 comm. ४६. गोसाक-११ ॥

४७. उसू-३३।४ ॥ ४८. स्थासू-२।४।१०५॥ ४९. उसू-३३।५।६ ॥

५०. तसू-'निद्रानिद्रानिद्रा—स्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च । ८।८ ॥

५१. तसू-सर्वार्थसिद्धौ-इह निद्रादिभिर्दर्शनावरणं सामानाधिकरण्येनाभिसम्बध्यते ।८।७॥

५२. स्थासू-टीकायाम्-२।४।१०५ ॥ ५३. तसू-६।१३ ॥ ५४. तसू-८।१२॥

५५. प्रसू-२३।३।१५ ॥ २३।३।८ ॥ ५६. उसू-टीकायाम्-२।४।१०५ ॥

५७. उसू-३३।८ ॥ ५८. उसू-३३।९ ॥

५९. गोसाजी-२८२ ॥

६०. गोसाजी-अनन्तान्यनुबध्नन्ति यतो जन्मानि भूतये ।
ततोऽनन्त्यानुबन्ध्याख्या क्रोधाद्येषु नियोजिता ॥

६१. गोसाजी-स्वल्पमपि नोत्सहेद्येषां प्रत्याख्यानमिहोदयात् ।
अप्रत्याख्यानसञ्ज्ञाऽतो द्वितीयेषु निवेशिता ॥

६२. गोसाजी-सर्वसावद्यविरतिः प्रत्याख्यानमुदाहृतम् ।
तदावरणसञ्ज्ञास्तृतीयेषु निवेशिता ॥ ६३. ससि-८।६ ॥

६४. कषायसहवर्तित्वात् कषायप्रेरणादपि । हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषायकषायता ॥

६५. उसू-३३।१०-११ ॥ ६६. स्थासू-टीकायाम् । २।४।१०५ ॥

६७. तवा-८।१०।२ ॥ ६८. प्रसू-२३।१ ॥ ६९. तवा-८।१०।५ ॥

७०. तवा-८।१०।६ ॥ ७१. तवा-८।१०।७ ॥ ७२. तवा-८।१०।८ ॥

७३. प्रसू-टीकायाम् २३।१।२८८ ॥ ७४. गोसाक-१२ ॥

७५. उसू-३३।१३ ॥ ७६. नसास (भाष्य)-७।३७ ॥

७७. नसास-८।४६ ॥ ७८. क-ससू-४२ ॥ ख-प्रसू-२३।२-२९३ ॥

७९. स्थासू-टीकायाम्-२।४।१०५ ॥ ८०. प्रसू-२३।१।२८८ ॥

८१. तसू-भाष्य ८।१३ ॥ ८२. स्थासू-१०।१।७४०॥ ८३. भसू-१।३ ॥

८४. भसू-१।८ ॥ ८५. स्थासू-१।१।४२ ॥ ८६. तसू-८।१४ ॥

८७. ससि-८।२२ ॥ ८८. ससि-८।२२ ॥ ८९. तसू-(भाष्य) ८।२२ ॥

९०. तसू-८।२४ ॥ ९१. तसू-९।१ ॥ ९२. तवा-९।१।१ ॥

९३. तवा-९।१।१ ॥ ९४. तवा-९।१।८ ।. ९५. तवा-९।१।९ ॥

९६. गोसाजी-११-१४ ॥ ९७. तवा-९।१।१२ ॥ ९८. गोसाजी-१७।१८ ॥

९९. सक्रक-प्रकृतिसक्रमे गुणस्थानविचारणा पृष्ठ ६० ।

१००. तवा-९।१।१३ ॥ १०१. सक्रक-पृ० ६४ । १०२. गोसाजी-१९-२१ ॥

१०३. तरावा-९।१।१३ ॥ १०४. गोसाजी-२१,२२॥ १०५. सक्रक-पृष्ठ ६४-६५ ।

१०६. गोसाजी-२५ ॥ १०७. SEBOJA-Voll.5 गाथा-२६ comm.

१०८. गोसाजी-३० । १०९. संक्रक-पृ० ७४ । ११०. तवा-९।१।१७ ॥

१११. सक्रक-पृ० ७४ । ११२. तवा-९।१।१८ ।

११३. SEBOJA-Voll. 5 गाथा-४६ । ११४. SEBOJA-Voll.5 गाथा ४७ ।

११५. सक्रक-पृ० ७४ । ११६. SEBOJA-Voll.5 गाथा ४८ ।

११७. तवा-९।१।१९ ॥ ११८. संक्रक-पृ०-७५ ।

११९. तवा-९।१।२० ॥ १२०. तवा-९।१।२१ ॥ १२१. गोसाजी-५९,६० ॥

१२२ सक्रक-पृ० ७६ । १२३. गोसाजी-६१ । १२४. संक्रक-पृ० ७६ ।

१२५. गोसाजी-६२ । १२६. सक्रक-पृ० १३० । १२७. संक्रक-पृ० १३७ ।

१२८. गोसाजी-६४ । १२९. सक्रक-पृ० १३७ । १३०. गोसाजी-६५-६७ ॥

मुक्तात्मनां स्वरूपम्

षष्ठोऽध्यायः

मोक्षो मोक्षमार्गश्च

मोक्षस्य सद्भावः

जैनदर्शने खलु नव-पदार्थाः स्वीकृतास्तत्रान्तिमस्य पदार्थस्य मोक्षस्य प्राधान्यात् शेषाणाञ्च तत्प्राप्त्यै सहकारिभावादन्ते एव निर्वचनं कृतम्। मोक्षस्यास्तित्वविषये यद्यपि जनाः परस्परं विवदन्ते, परमेतेनैव मोक्षस्यास्तित्व प्रतीयते यतो ह्यात्मा बद्धः सर्वैरनुभूयते, यथा खलु कारावासपदेनैव स्वातन्त्र्यस्यास्तित्वं प्रतीयते तथैवात्रात्मनो मोक्षविषयेऽपि प्रतीतिः। अत्र केचन जैनाचार्यास्तु मोक्षः बन्धस्य[1] प्रतिपक्षितत्त्वमित्यभिदधति। यतो हि बन्धस्य यदा सद्भावस्तदा मोक्षस्यापि सद्भावस्तिष्ठत्येव। बन्धस्य कर्मसंश्लेषणात्मकत्वान्मोक्षस्य च सश्लिष्टकृत्स्नकर्मक्षयात्मकत्वादिति।

मोक्षस्वरूपम् (Dfferentia of Liberation)

ये खलु कर्मपुद्गलाः आत्मना सश्लिष्टत्वात्तद्गुणघातित्वाच्च कर्मत्वपर्यायमधिगतवन्तस्तेषामत्र कर्मपर्यायविनाश एव 'मोक्ष' इति। मोक्षं विवेचयद्भिरिदमेव पूज्यपादैरभिहितम्[2]—

'कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः' इति

अनादिकालात्कर्मभिर्निबद्धस्यात्मनो बन्धात्मकपारतन्त्र्यस्योच्छेद एव मोक्षः। बन्धोच्छेदे सति बद्ध आत्मा स्वतन्त्रो जायते, इयमेवास्य अस्माज्जगतो मुक्तिः। अर्थाद्बन्धनमुक्तिरेव मोक्ष., बन्धकारणानामभावे, सचितकर्मणाञ्च क्षये (निर्जरणे) सति समस्तानामपि कर्मणा समूलोच्छेदो मोक्ष इति।

तदेतेषां कर्मणामुच्छेदस्यायमेव क्रमो जैनागमेषु प्राप्यते। राग-द्वेष-मिथ्यादर्शनान् विजित्य जीवो ज्ञान-दर्शन-चारित्राराधने तत्परो भवति, ततश्चाष्टविधकर्मग्रन्थेर्भेदार्थं प्रयतते। तत्र च प्रथम मोहनीयकर्मणोऽष्टाविंशतिप्रकृतीनां क्षयो जायते, ततश्च पञ्चविधज्ञानावरणीयाना, नवविधदर्शनावरणीयानां, पञ्चविधान्तरायकर्मणाञ्च युगपदेव क्षयो भवति,

तदनन्तरमेवानन्त-परिपूर्णयोशवरणरहितयोर्लोकालोकप्रकाशकयोः केवल-ज्ञानदर्शनयोरुत्पादो जायते ।

केवलज्ञानदर्शनयोश्च सद्भावे सत्येव ज्ञानावरणीयादीनाञ्चतुर्णा घन-घातिकर्मणामपि विनाशो भवति । ततश्च यदान्तर्मुहूर्त्तात्मक आयुष्यकालोऽवशिष्यते तत्र केवली प्रथम मनोव्यापारं (योग), ततश्च वाग्व्यापारम्, तदनन्तरञ्च कायव्यापारम्, श्वासोच्छ्वासञ्च सरुद्ध्य पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारणमात्र काल शैलेशीकरणावस्थाया शुक्लध्यानचतुर्थश्रेण्या तिष्ठति, तत्र स्थितस्यावशिष्टाना वेदनीयायुष्कनामगोत्राणामपि युगपत्क्षयः सञ्जायते । सर्वेषा कर्मणाञ्च क्षयेण सहैव औदारिककार्मण-तैजस-शरीरेभ्योऽपि सार्वकालिकी मुक्तिमधिगच्छति । एव ससारावस्थिक एव स सिद्ध.,' मुक्तो वा जायते ।

मोक्षमार्गः (The Path of Liberation)

जैनदर्शनदृष्ट्वा सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्राणा समुदितानामेव मोक्षमार्गेण स्वीकारो न तु व्युदितानाम्, अतएव जैनागमेष्वेतद्विषयेऽभिहितम्, यत्-'सम्यक्त्वस्य चारित्रस्य च युगपदेवात्मनि सद्भावो जायते, तत्र प्रथमं सम्यक्त्वमुत्पद्यते, यतो हि, यस्य श्रद्धाभावस्तस्य न सम्यग्ज्ञान कथमपि भवति । सम्यग्ज्ञानेन च ऋते सम्यक्चारित्रस्यापि न सद्भावो भाव्यते । चारित्रगुणानाञ्चाभावे कर्ममुक्तिरपि न भवितुमर्हति, कर्ममुक्तेरभावे तु निर्वाणमप्यसम्भाव्यमिति । ज्ञानेन तावज्जीवः पदार्थान्नवगच्छति, दर्शनेन श्रद्दधाति, चारित्रेण चास्रवनिरोध विदधाति, तपसा च कर्मणा निर्जरण विधायान्ते शुद्धः सञ्जायते । एवं मोक्षार्थिनो जीवस्य सम्यग्ज्ञानदर्शन-चारित्राणि तप उपयोगश्चेति लक्षणात्मकानि' सन्तीति ।'

इत्थं मोक्षस्याय ज्ञानदर्शनचारित्रात्मक एक एव मार्गः, नान्यः कश्चिदेतद्व्यतिरिक्तो जैनदृष्ट्या भवति । किन्त्वत्रानेन मार्गेण केन क्रमेण सिद्धिरवातु शक्यते, एतद्विषयकास्त्रिविधा क्रमा. जैनागमेषु दरीदृश्यंते । ते च यथा—

मोक्षमार्गक्रमाः

यदात्मा जीवाजीवयोः सम्यग्ज्ञाता, तदा स जीवाना विविधगतीनामपि ज्ञायको भवति, ततश्च तस्मिन् पुण्य-पाप-बन्ध-मोक्षविषयकमपि ज्ञानमुत्पद्यते,

एतेषाञ्च ज्ञानाद्देवमनुष्यादीनां कामभोगादीनामपि ज्ञायकत्वात्तेभ्यो विरक्तो भवति, ततश्चैतेभ्यो भोगेभ्यो बाह्याभ्यन्तरसम्बन्धोऽपि विच्छेदयति, तस्मादनागारवृत्तिधारकः सन् उत्कृष्टसंयममनुत्तरं धर्मं च संस्पर्शति, एतेन संयमधर्मसंस्पर्शनेन अज्ञानात् सञ्चितं कलुषितकर्मरजः संधुनोति, तेन स केवलज्ञानं केवलदर्शनञ्च लभते। एतस्माल्लाभात् केवलीति भूत्वा, लोकालोकज्ञः सन् योगाश्च निरुध्य शैलेश्याख्यामवस्थामधिगतः कर्मणां सर्वथा क्षयं विधाय सिद्धो भूत्वा लोकाग्रे तिष्ठन् शाश्वतः सिद्धो[1] जायते इति।

अन्यश्चायं क्रमः स्थानाङ्गे[2] महावीर-गौतमसम्वादे इत्थं विद्यते—तथारूपस्य श्रमण-ब्राह्मणस्य पर्युपासनायाः फलं श्रवणम्, श्रवणफलञ्च ज्ञानम्, ज्ञान-फलञ्च विज्ञानम्, एतत्फलञ्च प्रत्याख्यानत्यागः, तस्य च फलं संयमरूपः, संयमस्यानास्रवः, अनास्रवस्य च तपः, तपसश्च व्यवदानम्—कर्मणा निर्जरणम्, व्यवदानस्य तु फलमक्रिया (योगाभाव), अक्रियायाश्च फलं निर्वाणम्, एतस्य च फलरूपेण सिद्धगतौ गमनं भवतीति।

अपरश्च तृतीयः क्रम इत्थ विद्यते दशाश्रुतस्कंधे—रागद्वेषविरहितो निर्मल-चित्तवृत्तेर्धारको जीवो धर्मध्यानमधिगच्छति। निःशङ्कमनसा धर्मस्थितेन च निर्वाणमुपलभ्यते। एतादृश स संज्ञिज्ञानात् स्वीयमुत्तमस्थानं विजानाति। अथ च यः खलु सर्वकामविरक्तः, सहिष्णुश्च भवति, तस्य संयमधनस्य तपस्विनोऽवधिज्ञानमुत्पद्यते। स च तपसाऽशुभलेश्याः अपावृत्या-वधिज्ञान निर्मल विदधाति। ततः ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्लोकस्थिताना सर्वेषामपि जीवादीनां पदार्थानां प्रत्यक्षज्ञानेन युज्यते। अथ च सर्वथा शुभलेश्या-धारणात् तर्क-वितर्कजन्यचाञ्चल्यविरहितचित्तस्य, सर्वथा विमुक्तस्य, तस्य मनःपर्ययज्ञानमुत्पद्यते। यदा च तस्य ज्ञानावरणीयं सर्वथा क्षयमधि-गच्छति, तदा स केवलज्ञानी जिनो भूत्वा लोकालोकयोर्ज्ञाता भवति। तथा च प्रतिमाना विशुद्धाराधनजन्य मोहनीयक्षयमधिगच्छन् सर्वविधान्यपि कर्माणि विनाश्य, देहञ्च परित्यज्य, नाम-गोत्र-आय्वादिविरहितः सन् कर्मरजसा सर्वथा विप्रमुक्तत्वमुपलभते।[3]

एवमत्र जैनदर्शन आत्मनः कर्मणां सर्वथोच्छेद एव 'मोक्षः' इति स्वीकृत-मर्थात् आत्मनः कर्मणाञ्च द्वयोरपि पदार्थयोः पृथक्[2] स्वस्वरूपेण स्थितिरेव 'मोक्षः' इति। आत्मनः कर्माणि विमुञ्च्य स्वशुद्धरूपेणावस्थानम्, कर्मणाञ्चात्मसंश्लेषणं परित्यज्य स्वस्वरूपेण तस्मात्पृथगवस्थानमित्यर्थः।

न दीपनिर्वाणवदात्मनिर्वाणम्

किञ्चात्र यथा बौद्धैर्दीपनिर्वाणवद् आत्मनिर्वाणं स्वीकृतम्, न तद्ग्राह्यम्। यतो हि, बौद्धैरात्मनिर्वाणविषयेऽनेकाः कल्पनाः कृताः, तद्यथा-चित्तसन्ततेः निरास्रवत्वं सोपाधिनिर्वाणम्, यच्च दीपनिर्वाणवच्चित्तसन्ततेः निर्वाणं तन्निरुपाधिनिर्वाणमिति। अत्र रूप-वेदना-विज्ञान-संज्ञा-संस्काररूपेणात्मनः स्वीकरणस्यैवायं परिणामः यन्निर्वाणदशायामपि आत्मनो निर्वाणम्-अनस्तित्वमेभिः स्वीकृतम्।

अत्रेदं विचारणीयम्, यत् निर्वाणे यदि दीपप्रकाशवद् चित्तसन्ततेर्निरोधः स्वीक्रियेत, तर्हि आत्मनोऽप्युच्छेदावसरः प्राप्यते, चार्वाकस्य नास्तित्ववादवत्। यतो हि निर्वाणावस्थाया समूलोच्छेदस्वीकारे, मरणानन्तर वोच्छेदस्वीकारे, नो कश्चनापि विभेद। किन्तु या चित्तसंततेरभौतिकत्वात्तत्प्रतिसंधि-(परलोकगमनम्)रपि स्वीकृता तस्या निर्वाणावस्थायां तु समूलोच्छेद इति तस्यानौचित्यमेव प्रतिभाति।

अतो मोक्षावस्थाया चित्तसन्तते. सत्ता स्वीकरणीयैव भवति, यतो हि, सानादिकालादास्रवादिभिर्मलिना भवन्ती साधनादिभिर्निरास्रवत्वमुपगच्छति। निर्वाणस्वरूपप्रतिपादने आचार्यकमलशीतेनाप्येतद्विषयक. श्लोकोऽयमुद्धृत.—

> **चित्तमेव हि संसारो, रागादिक्लेशवासितम्।**
> **तदेव तैर्विनिर्मुक्तं, भवान्त इति कथ्यते॥**[८]

नापि ज्ञानादिगुणानां सर्वथोच्छेदो मोक्षः

वैशेषिकैस्तावद् बुद्धि-सुख-दु:खेच्छादिनवविशेषगुणानामुच्छेदरूपो मोक्षः स्वीकृत.। अत्रैभि: प्रतिपादितम्-यदेषा विशेष-गुणानामुत्पत्तिः आत्मनो मनसश्च संयोगाज्जायतेऽत. मन.संयोगाभावे तु मोक्षावस्थायामेतेषामनुत्पादस्तस्मात्तत्रात्मनो निर्गुणत्वमेवोपपद्यते, गुणानाञ्च कर्मजन्यत्वान्न तत्र सत्ता व्यवतिष्ठते। पर बुद्धे.-ज्ञानस्यात्मनो गुणभूतस्योच्छेदो नात्र सर्वथा स्वीकर्तव्यः। यद्यपि संसारावस्थायां यदांशिक ज्ञानमिन्द्रियमन.संयोगादुत्पद्यमानमासीत्, तस्याभावस्तु मोक्षावस्थायां सुनिश्चितमेव, परन्त्वस्य यत्स्वरूपभूतं चैतन्यमिन्द्रियैर्मनसा च परम्, न तस्योच्छेदः केनापि शक्यः, सम्भाव्यो वेति।

या च निर्वाणावस्थायामात्मन स्वरूपेणोपस्थितिः वैशेषिकैः स्वीकृता, तत्स्व-

रूपमिन्द्रियातीतं चैतन्यमेवास्ति। इदमेव चैतन्यमिन्द्रियमनःप्रभृतिपदार्थ-निमित्तात् नानाविधविषयबुद्धिषु परिणतं भवति, एतासामुपाधीनाञ्च विगमे तस्य चैतन्यस्य स्वस्वरूपयुक्तत्वं स्वाभाविकम्। यद्यप्यत्र कर्मजन्यानां सुख-दुःखादीनां विनाशः, कर्मणां क्षयोपशमजन्यस्य क्षायोपशमिकज्ञानस्य स्थितिश्च जैनैरपि स्वीकृता विद्यते, परमात्मनः स्वस्वरूपचैतन्यस्य विनाशः स्वरूपस्यो-च्छेदकत्वान्न कथमपि स्वीकृतम्।

इत्थं ज्ञायते, यदत्र 'आत्मनिर्वाणम्' न तु दीपनिर्वाणवत्स्वीकरणीयम्, नापि तत्र गुणानामत्यन्तो विनाशः। यतो हि, अत्र क्लेशादीनां कर्मणा वा विनाश-स्यायमेवार्थ उपयुक्तः यत्-कर्मपुद्गलाः जीवात्सर्वथा पृथक्त्वं-भिन्नत्वं लभन्ते, न तेषामत्यन्तो विनाशः कदापि जायते। यतो हि, पदार्थदृष्ट्या न कस्यचिदपि सत्पदार्थस्यात्यन्तो विनाशो जातः, जायते, भविष्यति वा। पर्यायान्तरेण परिणमनमेव पूर्वपर्यायस्य नाश इत्युच्यते। एवं न तु निर्वाणदशायामात्मनोऽ-भावो भवति, नापि तद्गुणानां सर्वथोच्छेदात् अचेतनत्वमुपगच्छति सः। यदा खल्वात्मा स्वतन्त्रो मौलिको वा पदार्थस्तदा तदभावस्य तद्गुणोच्छेदस्य वा कल्पनमनुचितमेवेति।

सम्यग्दर्शनम्

जडपदार्थेभ्य आत्मनो व्यावर्त्तकमात्मगुणभूतं चैतन्यं निराकाररूपं दर्शनं, साकाररूपञ्च ज्ञानमित्युच्यते। एतयोर्द्वयोरपि आत्मनि सान्निध्यात् सहभावि-गुणात्मकत्वात् 'उपयोग' इत्यपि संज्ञास्ति। एष उपयोगश्चात्मनो लक्षणम्। अतो यदाऽऽत्मा पदार्थानवगच्छति तदा तेषां पदार्थानां यः निराकारात्मकोऽ-वबोधस्तद्दर्शनम्, यश्च साकारात्मकोऽवबोधस्तज्ज्ञानमित्युच्यते[10]। एतस्य दर्शनस्य विवेचने वाचकमहोदयैरभिहितं यत्—

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'[11]

अर्थात् योऽर्थः यथावस्थितस्तस्य तथैव श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानम्। एतदेव सम्यग्दर्शनं वस्तुनो यथार्थस्वरूपस्य प्रथमनिराकारग्रहणमित्यर्थः। यद्यपि संस्कृतवाङ्मये दर्शनशब्दस्य विभिन्नाः व्याख्याः विद्यन्ते, यासु प्रमुखानां विवेचनं प्रथमेऽध्याये कृतम्। तासु दर्शनस्य व्याख्या चैतन्याकारपरिधि-मुल्लङ्घ्य पदार्थानां सामान्यावलोकनं यावत्समागता। जैनसिद्धान्ते चास्य निराकाररूपेणान्तरङ्गार्थविषयकत्वमेव स्वरूपं स्वीकृतम्। तत्र विषय-विषयिणोः सन्निपात एव दर्शनमिति स्वीकृतम्। अर्थाद्यदायमात्मा पदार्थ-

मधिगृहीतुमिच्छति तदा तेन यद्वस्तुनो सन्निपातः-निराकारग्रहणं, तदेव दर्शनपदभाग्भवति । नेमिचन्द्राचार्यैस्त्वेतद्विषयेऽभिहितम्, यत्—'यदानेनात्मना कश्चित्पदार्थोऽधिगतस्ततश्चान्यत्पदार्थज्ञाने यदा प्रयतते, तत्कालं यावत्, अर्थात्पूर्वाधिगतस्य पदार्थज्ञानस्य अधिग्रहणकालादन्यत्पदार्थाधिग्रहणकालात्पूर्ववर्तिनी यात्मनो निराकारावस्था, सैव दर्शनमित्युच्यते'[१२], अर्थादात्मनो सावस्था दर्शनम्, यस्यां ज्ञेयपदार्थः न प्रतिभासते । अतएव पदार्थानां सामान्यावलोकने दर्शनं प्रसिद्धम् । तदेतत् दर्शनमेव बौद्धै परिकल्पितेन निर्विकल्पेन, नैयायिकादिभिस्स्वीकृतेन निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण च साम्यं भजते ।

दर्शनस्योत्पादः

जगति यावन्तोऽपि जीवास्सन्ति, तेषां तत्त्वार्थेषु यत् श्रद्धानमुत्पद्यते तद्द्विविधम्-निसर्गज , परोपदेशजश्चेति[१३] । अत्र निसर्ग-स्वभाव , परिणामः, अपरोपदेशो वा समानार्थकत्वात्पर्यायवाचिनः । अर्थात् तत्त्वार्थेषु परोपदेशं विनैव यज्जीवेषु श्रद्धानमुत्पद्यते, तस्य स्वभावत एव, परिणामविशेषत उत्पन्नत्वात् 'निसर्गजम्' इति व्यपदेश । यच्च परोपदेशादेव, न तु स्वभावत., परनिमित्तकपरिणामविशेषत उत्पद्यते, तत्परोपदेशजमिति व्यपदेश । तथाहि—

जीव खलु ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगलक्षणोऽनादिकालादस्मिन् जगति परिभ्रमन्, कर्मनिमित्तान्नवीनाना कर्मणा ग्रहणात्तेषा कर्मणा बन्ध[१४]-निकाचन[१५]-उदय[१६]-निर्जराद्यपेक्षया[१७] नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवयोनिषु जन्म-मरणादीन् प्राप्नुवन्, तत्र नानाविधान् पुण्य-पापपरिणामांश्चोपभुञ्जन्, ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगस्वभावात् तत्तत्परिणामाध्यवसायविलक्षणानि स्थानानि समधिगच्छति । येषाञ्चाधिगमेऽनादिमिथ्यादृष्टेरपि जीवस्य परिणामविशेषादेवविधमपूर्वकरणं जायते, यन्निमित्तादुपदेश विनैव सम्यग्दर्शनमुत्पद्यते, एतदेव निसर्गजेतिपदेन व्यवह्रियते ।

अधिगमोऽभिगम , आगम , निमित्त, श्रवणं (शब्दः), शिक्षा, उपदेशश्चेत्यादयः समानार्थकाः । एतन्निमित्तक दर्शनं परोपदेशजन्यम्, आगमश्रवणाध्ययनजन्यमन्यनिमित्तादुत्पन्नं वा यत् तत्त्वार्थेषु श्रद्धानात्मकं सम्यग्दर्शनं सञ्जायते तदेव परोपदेशजमित्युच्यते ।

अत्र कैश्चिदिदं शङ्क्यते-यत्, यथा खलु कश्चित् पुरुषो यावन्न तत्त्वाना सामान्येन ज्ञायको भवेत् तावत्कथ तस्य तत्त्वार्थेषु श्रद्धान भविष्यति ? यदा च तेन येन केनापि प्रकारेण पदार्थाना ज्ञानं सम्प्राप्तं तदा तत्श्रद्धानं पदार्थेष्व-

प्युत्पन्नं, तत्तस्य कथं नैसर्गिकत्वमुपयुज्यते, पूर्वगृहीतज्ञानात्मकत्वात्तस्याधिगमजत्वमेव स्यात् ? अथ च यदा जीवस्य सम्यग्दर्शनमुत्पद्यते, तदैव मत्यज्ञाननिवृत्तिपूर्वकं मतिज्ञानमपि सञ्जायतेऽतः दर्शनस्य ज्ञानोत्तरात्मकत्वात् कथं ज्ञानान्तरं नैसर्गिकं दर्शनमुत्पद्यते ? तदेतन्न समीचीनम्, तद्यथा—अत्रेदं विचारणीयम्-निसर्गाधिगमजयोर्द्वयोरपि दर्शनमोहस्योपशमः, क्षयः क्षयोपशमो वान्तरङ्गहेतुभूतं समानमेवास्ति। एतस्य सत्यपि यद्‍बाह्योपदेशमनपेक्ष्यैवोत्पद्यते, तन्नैसर्गिकं सम्यग्दर्शनमिति। यच्च परोपदेशापेक्षयैवोत्पद्यते, न तु स्वभावतः कथमपि तस्योत्पादः शक्यः, तत्परोपदेशिकं सम्यग्दर्शनमिति। यथा खलु जैनशास्त्रानुसारं कुरुक्षेत्रे बाह्यप्रयत्नं विनैव स्वर्णं प्राप्यते, तथैव बाह्योपदेशं विनैवोत्पद्यमानं नैसर्गिकम्, तथा च, यथा स्वर्णाकरेषु विविधैर्बाह्यप्रयत्नैरेव स्वर्णं निःसार्यतेऽभ्युपगम्यते वा तथैव सदुपदेशात्, आगमाभ्यासादिभिर्वा यज्जायते तदधिगमजं सम्यग्दर्शनमित्युच्यते[१८]।

सम्यग्दर्शनोत्पत्तिकारणानि

एतस्य द्विविधस्यापि सम्यग्दर्शनस्योत्पत्तौ पञ्चविधाः लब्धयो हेतुभूताः सन्ति[१९]। ताश्चेमा —

(१) क्षयोपशमलब्धिः (Destructive-Subsidential-Attainment)

(२) विशुद्धिलब्धिः (Virtue Attainment)।

(३) देशनालब्धिः (Precept-Attainment)।

(४) प्रायोग्यलब्धिः (Completency-Attainment)।

(५) करणलब्धिश्चेति (Efficiency-Attainment)।

अत्र यासामुत्पत्तावेव सम्यग्दर्शनस्योत्पत्तिः सम्भवा, एतादृशीनां योग्यतानां प्राप्तिरेव लब्धिपदेनाभिहिता। तत्र आत्मना क्षयोपशमलब्धौ सत्यां कर्मणां स्थितिरवशिष्टान्तःकोट्यकोटिप्रमाणा तिष्ठति। विशुद्धिलब्धौ च सत्यां जीवस्य परिणामेषु भद्रता, नैर्मल्यञ्च समागच्छति। देशनालब्धौ च सद्‍गुरोरुपदेशात् जीवाजीवयोः, संसारमोक्षयोः, सप्ततत्त्वानां, नवपदार्थानां, षड्द्रव्याणाञ्च स्वरूपस्थितेर्ज्ञानं सञ्जायते, येन सम्यग्दर्शनं सुपुष्टं भवति। संज्ञि पर्याप्त-जागृतावस्था-साकारोपयोगयोग्यतानामधिगमः प्रायोग्यलब्धिरित्युच्यते। करणं नामात्मनः परिणामः, स च त्रिविधः—अधोऽपूर्वानिवृत्तभेदः।

आसु लब्धिषु आदिमास्तु चतस्रः सामान्या एव, केवलं करणलब्धिरेव विशिष्टा, यतो हि, क्षयोपशमादिचतसृषु लब्धिषु जातास्वपि करणलब्धेरभावे सति न सम्यक्त्वमुपपद्यते। अस्मिन् जगत्यनादिकालात्परिभ्रमता जीवेन बहुशश्चतसृणां लब्धीनां संयोगोऽधिगतः, पर करणलब्धेरनुपलब्धात् न तेन सम्यग्दर्शनं लब्धम्। तथापि सम्यग्दर्शनोत्पत्तावेतासां चतसृणामपि लब्धीनामुत्पाद आवश्यकः।

अत्रोपदेशोऽधिगमो वा देशनालब्धेरेव नामान्तरम्। अत एतन्निमित्तं यत्सम्यग्दर्शनं तदधिगमजमेव, यच्चैतद्व्यतिरिक्तमभावयुक्तं वा तन्निसर्गजमेव भवति।

दर्शनस्य सम्यक्त्वम्

कर्माधीनोऽयं जीवः यदा तन्निमित्तान्नवीनानि कर्माणि गृह्णाति, तदा तस्य तत्तत्कर्मनिमित्तकबन्ध-निकाचन-उदय-निर्जराद्यपेक्षया चतुर्गतिषु परिभ्रमणम्, तत्र स्थितत्वात् च तत्तत्कर्मणां शुभाशुभफलोपभोग आवश्यक एव भवति। ततश्च तत्कर्मजनितपरिणामस्थानानि च समधिगच्छन्नयं जीवोऽनादिमिथ्यादृष्टिरपि स्वोपयोगस्वभावात्परिणामविशेषैर्देशनालब्धिं विनैव (परोपदेशं विना) करणलब्धेर्भेदरूपस्यापूर्वकरणस्य परिणामान् समधिगच्छति, ततश्च तस्य सम्यग्दर्शनमुत्पद्यते।

यद्यपि सम्यक्त्वोपपत्तौ चतसृणामेव लब्धीना लाभ आवश्यकः, परं देशनालब्धेरभावे सम्यक्त्वोपपत्तौ साक्षादसाक्षात्कृतो[20] भेद एव हेतु.। अर्थात् साक्षात्परोपदेशादाप्ततत्त्वार्थश्रद्धानमधिगमजम्, तदभावे च निसर्गजं भवतीति। अस्यायमाशयः—यदनादिकालादेवावधि यावन्न येन जीवेन देशनानिमित्तं प्राप्तं, तस्य सम्यग्दर्शनस्य लाभोऽप्यसम्भवः। परं यस्य देशनालब्धेर्लाभेऽपि करणाभावात् सम्यग्दर्शनाभावस्तस्य कालान्तरे भवान्तरे चापि परोपदेशं विनैव करणलब्धेर्भेदभूतस्यापूर्वकरणस्योत्पादे सम्यक्त्वोत्पादः सम्भवस्तदेव निसर्गज सम्यग्दर्शनमित्युच्यते।

सम्यग्दर्शनस्य भेदाः

तदिदं सम्यग्दर्शनं सरागवीतरागभेदेन द्विविधं[21] भवति। तत्र मोहनीयकर्मणः सप्तकर्मप्रकृतीनामात्यन्तिके विनाशे सत्यात्मविशुद्धिरूपं यत्तद्वीतरागसम्यग्दर्शनमिति। एतद्विपरीत यत्सरागसम्यग्दर्शन, तत् प्रशम-संवेग-अनुकम्पा-आस्तिक्यभावैरेवोत्पद्यते। ते च भावाः[22] यथा—

प्रशमः (Calmness)—राग-द्वेष-क्रोधादिकषायाणामनुद्रेकात् तेषां राग-द्वेषादीनामजागृतिः, तज्जेतुं प्रयत्नो वा प्रशम इत्युच्यते ।

संवेगः (Fear of Mundane Existence)—संसारहेतुभूतानां कर्मणां संग्रहो मयि न स्यादित्यनया भावनया जन्ममरणादियुक्तं संसारं दृष्ट्वा, तस्माद्-भीतिः संवेगः ।

अनुकम्पा (Compassion for All Living Beings)—जगतः सर्वेष्वपि प्राणिषु दयाभावना, जगतः जीवानामभयस्य भावना वानुकम्पेति ।

आस्तिक्यम् (Belief in the Principles)—जीवादिपदार्थानां यदागमवर्णितं स्वरूपम्, तदेव सम्यगिति कृत्वा तत्तत्पदार्थानां तत्तत्स्वरूपेणावगमनमास्तिक्यमिति ।

एभ्यः पञ्चभावेभ्य उत्पद्यमान दर्शनं सरागसम्यग्दर्शनमित्येवोच्यते, यतो ह्येते भावाः खलु रागयुक्तायामवस्थायामेवोत्पद्यन्ते । न तदा रागादिभ्यो मुक्त आत्मा तिष्ठत्यतएवैतेषां सरागत्व युक्तम् ।

सम्यक्त्व-प्रकृतौ सम्यग्दर्शने च भेदः

कर्मप्रकृतिषु गृहीतस्य मोहनीयान्तर्भूतस्य सम्यक्त्वस्य पुद्गलपर्यायात्मकत्वात् पुद्गलत्वमेव विद्यतेऽथ चेद सम्यक्त्वमात्मविशुद्धया क्षीणशक्तिकमपि भवति, अत इदं सम्यक्त्वं न मोक्षस्योपादानकारणभूतमात्मपरिणामविशेषात् औपशमिकादिनिमित्तात् सम्यग्दर्शनं भवति । यतो ह्यत्र सम्यग्दर्शनस्यात्मनोऽन्तःपरिणामात्मकत्वादुपादेयत्वम्, सम्यक्त्वप्रकृतेश्च पुद्गलपरिणामात्मकत्वाद् हेयत्वम् । अथ च सम्यक्त्वस्य क्षयादेव क्षायिकं सम्यग्दर्शनमुत्पद्यतेऽतोऽत्र सम्यग्दर्शनस्याहेयत्वात्, प्रधानत्वात्, प्रत्यासन्नमोक्षकारणत्वाच्च पुद्गलरूपसम्यक्त्वेन विभेदोऽस्त्येवेति ।

एवमस्य सम्यग्दर्शनस्य सद्भावे सति सम्यग्ज्ञानम्, ततश्च सम्यक्चारित्रमुत्पद्यते, तत्तत्पूर्वकत्वात्तयोः । एते च त्रय एव समुदिताः मोक्षमार्गस्वरूपाः, न तु व्युदिताः कथमपि सम्भवन्ति ।

सम्यग्ज्ञानम्

मोक्षमार्गान्तर्भूतमिदं प्रमाणनयैर्जीवादितत्त्वानां संशय-विपर्यय-अनध्यव-

सायादिरहितं यथार्थावबोधरूपं सम्यग्ज्ञानम्[१३]। दर्शनानन्तरं सकृदेवेदमुत्पद्यतेऽतएवेदं दर्शनपूर्वकमित्यप्युच्यते। तदिदं मतिज्ञानावरणीयादिपञ्चविधज्ञानावरणीयकर्मणां क्षयादुपशमाच्चोत्पद्यतेऽतोऽस्य तन्निमित्तका: पञ्चभेदा:[१४] सन्ति। ते च यथा—

(१) मतिज्ञानम् (Sensitive Knowledge)।
(२) श्रुतज्ञानम् (Scriptural Knowledge)।
(३) अवधिज्ञानम् (Visual Knowledge)।
(४) मन:पर्ययज्ञानम् (Mental Knowledge)।
(५) केवलज्ञानमिति च (Perfect Knowledge)।

लोके यावन्तोऽपि पदार्था (विषया.) विद्यन्ते, आसन्, भविष्यन्ति चेति त्रिकालस्थितान् तान् सर्वान्नपि, तेषां गुणपर्यायाश्च प्रत्यक्षेण परोक्षेण वा यद्विजानाति, तज्ज्ञानमित्युच्यते[१५]। तस्य पञ्चविधस्याद्यानि त्रीणि ज्ञानानि विभङ्गात्मकानि विपरीतान्यपि जायन्ते, तैश्च सह ज्ञानस्याष्टौ भेदा. भवन्ति, परमेतेषा त्रिविधाना विभङ्गानामसम्यक्त्वादत्र च सम्यग्ज्ञानस्य मोक्षहेतुभूतस्य प्रसङ्गात् न तेषा विश्लेषण क्रियतेऽप्रासङ्गिकत्वात्।

मतिज्ञानम् (Sensitive Knowledge)

मननं मति, मनुतेऽर्थान् या सा मति:, मन्यतेऽनेन वेति ज्ञानस्यात्मनश्च भेदविवक्षयाऽस्य भाव-कर्तृ-करणसाधनत्वं सघटते। तदिद मतिज्ञान तदावरणभूतकर्मणा क्षयोपशमे सति मनस इन्द्रियाणाञ्च साहाय्यादर्थाना मननरूपमुत्पद्यते[१६]। अर्थादात्मना परोपदेशादिना विनैव यज्ज्ञानमुत्पद्यते तन्मतिज्ञानमिति।

श्रुतज्ञानम् (Scriptural Knowledge)

श्रुतपरिणत आत्मेति श्रुतम्, श्रूयते येन तत् श्रुतम्, शृणोतीति वा श्रुतम्[१७]। श्रुतावरणकर्मणा क्षयोपशमे सति बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने च यत् श्रूयते, तत् श्रुतज्ञानमित्युच्यते।

मतिश्रुतयो परोक्षत्वम्

उपरिलिखित पञ्चविधमपि ज्ञान प्रमाणात्मकम्, तत्रापि एतयोर्द्वयो: मतिश्रुतयो. परोक्षत्वम्[१८], शेषाणां तु प्रत्यक्षत्वम्। यतो ह्यत्र परशब्देनोपात्तानामिन्द्रियाणा मनसश्च प्रकाशोपदेशादीनामनुपात्तानां ग्रहणमस्ति। परस्य

प्राधान्यादुत्पद्यमानं प्रमाणं परोक्षम् । यथा खलु गतिशक्तियुक्तत्वेऽपि स्वयं गन्तुमशक्तस्य पुरुषस्य गमनं दण्डाद्यवलम्बनप्रधानं भवति, तथैव मतिश्रुतावरणयोः क्षयोपशमे सत्यपि स्वयमेवार्थान्नुपलब्धुमसमर्थस्याज्ञ-स्वभावस्यात्मन उपात्तानुपात्तादीनां प्राधान्याद्यज्ज्ञानं पराधीनं मतिश्रुतात्मकं जायते, तदुभयविधमेव परोक्षमित्युच्यतेऽर्थात् इदं मतिश्रुतज्ञानं परायत्तम्, नत्वज्ञानम्, नाप्यनवबोधो वेति ।

स्मृतिसंज्ञादीनां मतित्वम्

स्मृति-संज्ञा-चिन्ता-अभिनिबोधादीनां सर्वेषां मतिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तादेवार्थस्योपलब्धौ वृत्तेरनर्थान्तरत्वान्मतित्वमेवोपपद्यते, न तु मतिभिन्नत्वम् । यद्यप्यत्र शब्दभेदादेतेषामस्ति परस्पर भेदः, परमुत्पादकहेतुसादृश्यात्त्वभेद एवास्ति, यश्चैषां शब्दकृतो भेदस्तत्तु तत्तत्पर्यायापेक्षयास्ति । यथा खलूष्णत्वमग्नेरभिन्नत्वात्तल्लक्षणम्, तथैव स्मृत्यादीनामभिनिबोधसामान्यात्मकस्य मतिज्ञानस्य लक्षकत्वान्मतिज्ञानलक्षणत्वम् । अर्थात् मति-स्मृति-चिन्तादिशब्दैर्यदुच्यतेऽवबुध्यते वा तत्सर्वं मतिज्ञानमेवेति ।

मतिज्ञानस्य भेदाः

तदेतन्मतिज्ञानमिन्द्रियैर्मनसा च तन्निमित्तकमुत्पद्यतेऽर्थात् इन्द्रियाणां मनसश्च साहाय्यादेव मतिज्ञानमुत्पद्यते, अत्र कर्ममलीमसस्य इन्द्रस्य-आत्मन. स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्यार्थोपलम्भने यल्लिङ्गं तदेवेन्द्रियमिति भट्टाकलङ्कैर्विवेचितम्[२९] । अनुदरा कन्यावच्च अन्त.करणरूपं मन एवानिन्द्रियम् । तयोर्द्वयोरपि युगपत् साहाय्यात् मतिज्ञानमुत्पद्यते । न मनसोऽभावेऽपीदमुत्पादयितु शक्यम्, यतो हि मनसोऽनवधाने सति नेन्द्रियाण्यभिमुखं स्थित पदार्थ गृहीतुं समर्थानि भवन्तीति । एतच्चेन्द्रियैर्मनसा च साहाय्येनोत्पद्यमानं ज्ञानं येन क्रमेणोत्पद्यते, तस्य क्रमस्य चत्वारो विभागाः सन्ति, तदपेक्षया मतिज्ञानस्यापि चत्वारो भेदाः[३०] सञ्जायन्ते, ते च चत्वारः क्रमाः यथा—

(१) अवग्रहः (Perception) ।

(२) ईहा (Conception) ।

(३) अवाय· (Judgment) ।

(४) धारणा चेति (Retention) ।

अवग्रहः (Perception)

अत्रेन्द्रियाणां पदार्थैः सन्निकर्षे सति यदाद्यमर्थग्रहणमर्थात्पदार्थानां सामान्यावलोकनात्मकं ज्ञानमवग्रह[११] इत्युच्यते । अत्र कैश्चिदस्य संशयत्वमप्यभिधीयते, परं तन्न समीचीनम्, तथाहि—संशयः खलु स्थाणुपुरुषाद्यनेकपदार्थेषु अनिश्चयात्मकत्वात् निराकरणाक्षमो भवति, यदा हि—निश्चयात्मकत्वात् स्वविषयाद्भिन्नानां पदार्थाना निराकरणक्षमत्वाच्च पदार्थैकविषयोऽवग्रहो भवति । एवं संशयस्तु निर्णयविरुद्धः, अवग्रहश्च यावन्तोऽपि तस्य विशेषास्तावद् तत्तद्विशेषस्य सर्वस्यापि निर्णायकत्वाद्बोधात्मको भवति । अतो द्वयोरपि विभिन्नलक्षणात्मकत्वात् नैकत्व[१२] युज्यते ।

सोऽयमवग्रहः व्यक्ताव्यक्तपदार्थसम्बन्धकत्वाद् द्विविधो भवति । तथाहि अव्यक्तशब्दादिपदार्थानां येषामिन्द्रियसम्बन्धानन्तरमेवाऽवगमनं जायते, तेषामवग्रह एव भवति, न त्वीहादयोऽपि । अतोऽत्र अव्यक्तग्रहणात्पूर्वमव्यक्तरूपं यज्ज्ञानमुत्पद्यते, तद्व्यञ्जनावग्रह इत्युच्यते । यच्च व्यक्तपदार्थाना ग्रहणं तदेवार्थावग्रहपदेनोच्यते । इत्थमयमवग्रहः व्यञ्जनावग्रहः, अर्थावग्रहश्चेति द्विविधो[१३] भवति ।

अत्रापि च यद्व्यञ्जनावग्रहस्तस्य न कदापि चक्षुषा मनसा वोत्पत्तिर्भवति यतो हि, जैनदर्शने चक्षुर्मनश्चाप्राप्यकार्यरीत्यभिहितम् । अत एतयोरप्राप्यकारित्वात् योग्यदेशस्थितस्यापि पदार्थस्यासम्बन्धात् सन्निकर्षाभावान्न तयोर्व्यञ्जनावग्रहो भवतीति । अत्र मनसोऽप्राप्यकारित्वं तु निर्विवादमेव, परं चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वं केवल जैनैरेव प्रतिपादितम्, यतो हि, चक्षुरपि नार्थान् संस्पृश्यावगच्छति । एतदेव पञ्चास्तिकाये[१४]ऽभिहितम् कुन्दकुन्दाचार्यैः ।

ईहा (Conception)

अवग्रहेणाद्यग्रहणे कृते सति तत्सम्बन्धिविशेषाकाङ्क्षणमीहा[१५] । यथा खलु कञ्चन पुरुषविशेषं दृष्ट्वाऽवगृहीतं 'यदयं कश्चित्पुरुष' इति । पुनश्च तद्विषये वेषायुर्भाषामाध्यमेन विशिष्ट ज्ञातुमभिलाषा योत्पद्यते सैव 'ईहे'त्युच्यते । यद्यप्यत्रास्याभिलषितमुद्दिश्यास्यापि सशयात्मकत्वं[१६] तद्रूपं वेति शङ्कितम्, तदप्यसम्यगेव, यतो हि, सशयस्तावत् कस्यचिदपि वस्तुनो निर्णयेऽसमर्थः, किन्त्वत्र तु यद्वेशभाषायुषादिदर्शनात् 'किमयमुत्तरदेशीयो दक्षिणदेशीयो वे'त्यात्मकं यदभिलषणमुत्पद्यते तस्य निर्णयपूर्वकत्वात्, निर्णयात्मकत्वाद्वा न संशयकोटित्वमुपलभ्यते, यतो हीहा निर्णयार्थमेवोत्पद्यते ।

अवायः (Judgment)

अवगृहीतेऽर्थे ईहोत्पत्त्यनन्तरं तस्य विशिष्टं यज्ज्ञानं याथात्म्यावगमनं भवति, तदेवावाय"[1] इति । यथाहि—तस्य पुरुषस्य वेशभाषायुषादिज्ञानात् तद्विषयकमिदं निर्धारणं यदयं 'दाक्षिणात्य एव, नोदीच्यः' तदवायः । अस्येहोत्तरात्मकत्वात् नेहा संशयकोटिभाग्भवति ।

धारणा (Retention)

यदा चावगृहीतस्यार्थस्य सुनिश्चितं निर्धारणात्मकं ज्ञानमवायरूपं सञ्जातम्, तस्याविस्मृतिः, पुनस्तस्य कालान्तरे दर्शने सञ्जाते 'अयमेव तत्पुरुषः, यमहं पूर्वमद्राक्षमिती' दं स्मरणमेव धारणेत्युच्यते"[2] ।

अत्र तेषामवग्रहादीनां चतुर्णामपि अवग्रहाद्धारणान्तं यावदयमेव क्रमस्तिष्ठति । अर्थादेषु चतुर्षु सर्वदा प्रथममवग्रहस्तत ईहा, तदनन्तरमवायः, अन्ते च धारणा भवतीति । नायं क्रमः कदापि विचलति, येन प्रथममीहाऽवायो वा स्यात्, ततश्चावग्रहस्तदनन्तरञ्च धारणेत्ययमन्यो वा कश्चन क्रमो जायेत ।

अवग्रहादीनां विषयाः

एतेषां खल्ववग्रहादीना चतुर्णामपि मतिज्ञानात्मकत्वाज्ज्ञानरूपत्वमस्त्येवात एतेऽपि पदार्थानामवबोधकाः भवन्ति । एतेषां विषयभूताः यद्यपि सामान्यतया पदार्था एव सन्ति, किन्त्वेते तेषां विविधानां स्वरूपाणामेव संग्राहकाः सन्ति, एतदेव व्याख्यायता गोम्मटसारकृताभिहितम, यत्—'एतेषामवग्रहादीनां बहु-बहुविधादिविषयापेक्षया षट्त्रिंशदुत्तरत्रिशतात्मकाः"[3] भेदाः(३३६)सञ्जायन्ते । अत्रावग्रहादीनां विषयतयैतेषां नामान्युल्लिखितानि"[4]—

(१) बहु (More) ।

(२) बहुविधम् (Of Many Kinds) ।

(३) क्षिप्रम् (Quick) ।

(४) अनिःसृतम् (Hidden) ।

(५) अनुक्तम् (Unexposed) ।

(६) ध्रुवं (Lasting) ।

एतद्विपरीताश्च यथा—

(१) एकम् (One)।

(२) एकविधम् (Of One Kind)।

(३) अक्षिप्रम् (Slow)।

(४) निःसृतम् (Exposed)।

(५) उक्तम् (Described)।

(६) अध्रुवञ्चेति (Transient)।

द्वादशविधा विषयास्तत्र यथा—कस्याश्चिदप्येकस्याः जातेर्द्व्यधिकसंख्यात्मकं वस्तु 'बहु' इत्युच्यते। एतद्विपरीतं द्विसंख्यातो न्यूनमेकमेव वस्तु 'अल्पमि'ति। द्व्यधिकजातीना वस्तु 'बहुविधम्', एतद्विपरीतञ्चैकस्या एव जातेर्द्व्यधिकं वस्तु 'एकविधम्'। शीघ्रगत्यात्मकञ्च यद्वस्तु तत् 'क्षिप्रमि'ति, एतदितरं मन्द-गत्यात्मक वस्तु 'अक्षिप्रमि'ति। यच्चाप्रकटितं तद्वस्तु 'अनिःसृतमि'ति, यच्च प्रकटित त'न्नि सृतमि'त्युच्यते। यत्र चानुच्चारणादेवाभिप्रायनिष्पत्तिस्त-'दनुक्तम्', यत्र चोच्चारणादेवाभिप्रायनिष्पत्तिस्त दुक्तम्' इत्यभिधीयते। यच्च वस्तु यथावस्थित विद्यते, तस्य तथैव स्थिति'ध्रुवम्', यच्च परिवर्तनयुक्त त'दध्रुवमि'त्युच्यते। एते एव द्वादशविधाः विषया, येषा ज्ञान ग्रहण वाव-ग्रहादिभिर्जायते।

अवग्रहादीनामुत्पत्तिः

एतेषामवग्रहादीना तत्तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तकज्ञानावरणस्य क्षयोपशमा-द्विशुद्धिप्रकर्षाद्वोत्पत्तिर्भवति[११]। तथाहि—

श्रोत्रेन्द्रियावरणस्य वीर्यान्तरायस्य च क्षयोपशमात् विशुद्धिप्रकर्षाद्वा तदनु-कूलाङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयात्तत्तदङ्गोपाङ्गसद्भावाच्च जीवो युगपद् तत-वितत-घन-सुषिरादिशब्दश्रवणात् बहुशब्दमवगृह्णाति, अल्पत्वे च क्षयोपशमादीनां तत्परिणामादत्यन्तमल्पशब्दमवगृह्णाति। अथ च क्षयोपशमादीनां प्रकर्षात्त-तादिशब्दानामेक-द्वि-त्रि-संख्यातासंख्यातादिप्रकारान् संगृह्य बहुविधमव-गृह्णाति। क्षयोपशमादीनामल्पत्वे चैकविधमेव शब्दमवगृह्णाति। एवञ्च क्षिप्रं-शीघ्रतयापि क्षयोपशमादीना प्रकर्षादवग्रहणं करोति। क्षयोपशमादी-नामल्पत्वाच्चाक्षिप्र-चिरेण पदार्थानवगृह्णाति। एवमेवानिःसृतम् (पूर्णवाक्य-स्योच्चारणाभावेऽपि) क्षयोपशमप्रकर्षादवगृह्णाति, अप्रकर्षात्तु निःसृतम्-

पूर्ववाक्योच्चारणमेव (उक्तमेव) गृह्णाति। तथैवानुक्तमुक्तमपि चाव-गृह्णाति। अथ च संक्लेशपरिणामनिरुत्सुकस्य यथानुरूपश्रोत्रेन्द्रियावरणस्य क्षयोपशमादिपरिणामकारणावस्थितत्वात् यथा प्राथमिकं शब्दग्रहण तथाव-स्थितमेव, नोनं, नाधिकं ध्रुवं शब्दमवगृह्णाति। पौनःपुन्येन सक्लेशविशुद्धि-परिणामकारणापेक्षस्यात्मनो यथानुरूपपरिणामोपात्तश्रोत्रेन्द्रियसन्निधानेऽपि तदावरणस्येषदीषदाविर्भावात् पौनःपुन्येन प्रकृष्टावकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणादि-क्षयोपशमपरिणामत्वाच्च अध्रुवमेवावगृह्णाति, तद्यथा—क्वचिद्बहु, क्वचिद-ल्पम्, क्वचिद्बहुविधम्, क्वचिच्चैकविधम्, क्वचित्क्षिप्रम्, क्वचिच्चिरेण चेति। अत्र सामान्येन बहु-बहुविधयोरैक्यमेव गृह्यते कैश्चित्परमत्रास्ति सूक्ष्मो[१२] भेदः, तथाहि—यथा कश्चित् बहूनां शास्त्राणां सामान्येन व्याख्यानं विदधात्यपरश्च तेषामेव शास्त्राणां बहुप्रकारैरनेकविधं व्याख्यानं विदधात्यर्थात् बहुशब्दोऽत्र सख्यावैपुल्यवाची, यदा हि—बहुविधशब्दो बहूना प्रकाराणां वाचकत्वात् प्रकारवाची विद्यतेऽयमेवानयो. परस्परं भेदः। एवमेवोक्तनिःसृतयोरपि[१३] भिन्नत्वं विद्यते। तच्च यथा—परोपदेशपूर्वकं यत् शब्दाना ग्रहण तदुक्तम्। यच्च स्वत एव शब्दानां ग्रहण भवति तन्निःसृतमिति।

अवग्रहादीनामवान्तरभेदाः

एव मतिज्ञानस्योत्पत्तिनिमित्तकारणापेक्षया प्रमुखौ द्वावेव भेदौ विद्येते, तत्र प्रथममिन्द्रियनिमित्तम्, द्वितीयञ्चानिन्द्रियनिमित्तमिति। अवग्रहाद्यपेक्षया तु चत्वारो भेदा अभिहिता एव। एतेऽपि चत्वारो भेदाः पञ्चेन्द्रियाणां मनसश्च साहाय्येनोत्पद्यन्ते। अतोऽवग्रहादीनामिन्द्रियानिन्द्रियै. षड्भिर्गुणिते सति चतुर्विंशतिर्भेदाः जायन्ते। अत्र चावग्रहस्य द्विविधत्वात् अर्थव्यञ्जनात्मकत्वात् चक्षुर्मनोभ्या रहितैश्चतुर्भिर्व्यञ्जनावग्रहैः संयोजितेऽष्टाविंशतिर्भेदा। तथा चैषा भेदाना तद्विषयैः षड्भि. बहु-बहुविधादिभिर्गुणिते सति (१६८) अष्ट-षष्ट्युत्तरैकशतभेदा। किन्तु तत्र बहुबहुविधादीनामितरेषां षण्णामेकैकविधा-नामपि बहु-बहुविधै. सयोजिते सति द्वादशविधानां विषयाणामिन्द्रियानिन्द्रिय-जन्यैरष्टाविंशतिभेदैर्गुणिते सति षट्त्रिंशदुत्तरत्रिशतभेदाः (३३६) मति-ज्ञानस्य समुदिताः सञ्जायन्ते।

किञ्चात्र पूर्वोक्तेषु अष्टाविंशतिभेदेषु द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानामपि संयोगा-द्द्वात्रिंशद्भेदाः समुपजायन्तेऽतोऽत्र बह्वादिभिः षड्भिर्गुणिते सति द्विनवत्यु-त्तरैकशतभेदाः (१९२) भवन्ति। तथा च तैर्द्वात्रिंशद्भिः सह एकैकविधाना-

मितरेषामपि द्वादशविधैर्गुणिते तु चतुरशीत्युत्तरत्रिशतभेदाः (३८४) सञ्जायन्ते"।

किन्तु पूर्वोक्तेभ्योऽष्टाविंशतिभेदेभ्यो व्यञ्जनावग्रहभेदानां चतुर्णां विप्रयुक्ते चतुर्विंशतिभेदैरेव बह्वादिषड्भिर्गुणिते (१४४) चतुश्चत्वारिंशदुत्तरैकशत-भेदास्तथा च तदितरेषामपि सयोगात् द्वादशविधं विषयैर्गुणिते सति अष्टा-शीत्युत्तरद्विशतभेदाः (२८८) भवन्ति। एवं मतिज्ञानस्य तत्तद्विभिन्नापेक्षया अनेकसंख्याका अवान्तरभेदाः" सञ्जायन्ते।

श्रुतज्ञानस्य भेदाः

मतिज्ञानानन्तरमुत्पद्यमानं यद्विचारात्मकं ज्ञानम्," तदेव श्रुतज्ञानमित्युच्यते। यथा—'अयं घटः' इति मतिज्ञानात्मकश्रवणानन्तर तद्विषये 'घटस्तु कम्बु-ग्रीवादिमान् एव भवति, स च जलभरणार्थमेवोपयुज्यते' इत्यादिरूपा या विचारधारा प्रवहति, सैव श्रुतज्ञानपदवाच्येति। श्रुतपदेन शास्त्राणामपि संग्राहकत्वादागमस्याप्यत्रान्तर्भावो जायते।

किञ्चात्र श्रूयतेऽनेनेति व्युत्पत्याऽऽगमस्यैव प्राधान्येन श्रुतात्मकत्वादिदं श्रुत-ज्ञानमनेकविधत्व भजन्नपि प्रामुख्येन द्विविधम्, तत्र अङ्गप्रविष्टमाद्यमङ्गबाह्य-ञ्चान्यद् भवतीति। अत्रापि अङ्गप्रविष्टं तु केवलं द्वादशविधमेव, यदा ह्यङ्ग-बाह्यमनेकविधं भवतीति"।

अङ्गप्रविष्टस्य भेदाः

यच्चाङ्गप्रविष्टाख्यं श्रुतज्ञानं द्वादशविधं तस्येमे भेदाः भवन्ति—

(१) आचाराङ्गम्,
(२) सूत्रकृताङ्गम्,
(३) स्थानाङ्गम्,
(४) समवायाङ्गम्,
(५) व्याख्याप्रज्ञप्तिः,
(६) ज्ञातृधर्मकथा,
(७) उपासकाध्ययनदशाङ्गम्,
(८) अन्तकृद्दशाङ्गम्,
(९) अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गम्,
(१०) प्रश्नव्याकरणम्,

(११) विपाकसूत्रम्,

(१२) दृष्टिपाताङ्गञ्चेति,

तत्राचाराङ्गे" तावत्—चर्यायाः विधानम्, अष्टौ शुद्धयः, पञ्च समितयः, तिस्रो गुप्तयश्च वर्णिताः विद्यन्ते। सूत्रकृताङ्गे तु ज्ञानविनयम्, कल्प्याकल्प्यम्, छेदोपस्थापनादिधर्मक्रियाणां विवेचन विद्यते, स्थानाङ्गे चैकैक-द्वि-द्विप्रभृति-रूपेणार्थानां वर्णनं विद्यते। समवायाङ्गे चाखिलानामपि पदार्थाना सामान्येन समवायविचारः कृतो विद्यते, तद्यथा—धर्माधर्माकाशलोकैकजीवाना तुल्या-संख्येयप्रदेशवत्वात् द्रव्यरूपेण समवायः, जम्बूद्वीप-सर्वार्थ-सिद्धि-अप्रतिष्ठान-नरक-नन्दीस्वरद्वीपवापीना लक्षैकयोजनविस्तृतत्वादेषा क्षेत्रदृष्ट्या समवायः। उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्दशकोट्यकोटिसागरप्रमाणात्मकत्वात् कालदृष्ट्या समवायः। क्षायिकसम्यक्त्वकेवल-ज्ञान-केवलदर्शन-यथाख्यातचारित्राणाम-नन्तविशुद्धितया भावसमावायश्चेति वर्णितो विद्यते।

व्याख्याप्रज्ञप्तौ तु जीवोऽस्ति न वेति विवेचनम्, ज्ञातृधर्मकथायाञ्चानेक-व्याख्यानोपाख्याना निरूपणम्, उपासकाध्ययने तु श्रावकधर्मस्य विशिष्टं विवेचनम्, अन्तकृद्दशाङ्गे च प्रतितीर्थङ्करसमये भाविनां दशदशान्तकृत्-केवलीनां मोक्षवर्णनम्, अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गे च प्रत्येकं तीर्थङ्करस्य समये भाविनां दशदशमुनीना दारुणोपसर्गादिसहनात्मकं वर्णनम्, प्रश्नव्याकरणे च युक्तिभिर्नयैश्चाक्षेपविक्षेपरूपप्रश्नानामुत्तराणि, दृष्टिपाताङ्गे च त्रिषष्ट्युत्तर-त्रिशतकुवादीना मतनिरूपणपूर्वकं खण्डनं विद्यते।

एषामपि चानेके विभेदाः सन्ति, परं मूलतस्तु द्वादशभेदा उपर्युक्ता एवेति। अङ्गबाह्याख्यमपरं श्रुतज्ञानं तु गणधरदेवस्य शिष्यप्रशिष्यैरल्पायुर्बुद्धिबलवतां प्राणिनामनुग्रहार्थमङ्गोपाङ्गाधारेण विरचितानि संक्षिप्तग्रन्थान्येवाङ्गबाह्य-पदव्यवहरणीयानि सन्ति। इदमङ्गबाह्यं कालिकोत्कालिकादिभेदैरनेकविधं" वर्तते। तत्र ये स्वाध्यायकालिकाः पठन-पाठन-नियमास्ते कालिकाः, तथा च येषां पठन-पाठनादीनां न कश्चित् कालो नियतस्ते उत्कालिका उत्तराध्यय-नादयोऽङ्गबाह्यग्रन्थाः।

मतिश्रुतयोः परोक्षत्वम्

प्राग्विलिखितेषु पञ्चविधेष्वपि ज्ञानेषु स्वपरप्रकाशकत्वात्स्वपरसंवेद्यत्वाच्च प्रमाणत्वमस्ति। परमत्र मतिश्रुतयोरिन्द्रियानिन्द्रियजन्यस्वभावात्परोक्षत्व-

मन्येषाञ्चावधिज्ञानादीनामिन्द्रियानिन्द्रियविरहितात्मकत्वात्प्रत्यक्षत्वमस्ति। यतो हीमे मतिश्रुतज्ञाने खलु परशब्देनोपात्तानामिन्द्रियाणां मनसश्च साहाय्ये-नानुपात्तानाञ्च प्रकाशोपदेशादीना साहाय्येनैवोत्पद्यन्ते। अतः परस्य प्राधान्यादुत्पद्यमान प्रमाण परोक्षमित्यभिधीयते[५०], यथा खलु गतिशक्तियुक्त-स्यापि स्वय गन्तुमशक्तस्य पुरुषस्य दण्डाद्यवलम्बनप्राधान्यं गमनं परनिमित्तं भवति, तथैव मतिश्रुतावरणयो. क्षयोपशमे सत्यपि स्वयमेवार्थानुपलब्धुम-समर्थस्याज्ञस्वभावस्यात्मन उपात्तानुपात्तादीना प्राधान्यादुत्पद्यमानं ज्ञानं पराधीनत्वान्मतिश्रुतात्मकमेव जायते, अतस्तदुभयविधमेव परोक्षम्-परायत्तं ज्ञानम्, नत्वज्ञान नाप्यनवबोधो वेत्युच्यते।

अवधिज्ञानादीनां प्रत्यक्षत्वम्

अक्ष्णोति-व्याप्नोति, जानातीत्यक्ष आत्मा, तत्प्रतिनियतं प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरण वा प्रतिनियत प्रत्यक्षमिति। अर्थादिन्द्रियाणां चक्षुरादिपञ्चा-नामनिन्द्रियस्य मनसश्चानपेक्षयातीतत्वेनाव्यभिचारित्वेन यत्साकारग्रहणं करोति, तत्प्रत्यक्षम्[५१]। अत्रेन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वेन मतिश्रुतयोरतीतव्यभि-चारित्वेन विभङ्गज्ञानस्य निराकरण स्वत एव जातम्, एवमत्र प्रत्यक्षत्वेना-वधिमनःपर्ययकेवलज्ञानानामेव ग्रहण भवत्यर्थात् एतैस्त्रिविधैर्ज्ञानैरिन्द्रिया-निन्द्रियसाहाय्येन न पदार्थानां ग्रहणं क्रियते, अतएव केवलमात्मसाहाय्य-जन्यानीमानि त्रीण्येव ज्ञानानि प्रत्यक्षपदाख्यानि सन्ति। अत्र मतिश्रुतज्ञाने तु पूर्वोक्ते, सम्प्रति अवधिप्रभृतीनि वक्ष्यन्ते।

अवधिज्ञानम् (Visual Knowledge)

रूपिद्रव्यमात्रविषयकत्वात्, जन्मिना भूत-भविष्यज्जन्मावबोधकत्वाद्वा-अव-धीयते इत्यवधिज्ञानं सीमित ज्ञानमिति। तच्चेद प्रामुख्येन द्वैविध्य[५२] भजते। तद्यथा—(१) भवप्रत्ययकः (Birth-Born), (२) गुणप्रत्ययकश्चेति (Merit-Born)। अत्र भवो जन्म, प्रत्ययः कारण यस्य तद्भवप्रत्ययम्, अर्थात् येषां जीवाना तत्तज्जन्मग्रहणादेव जन्मकालादिद सम्पद्यते, ते च जीवा देवा नारकाश्चेति। तदेवोक्त तत्त्वार्थसूत्रकृता—

'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणामिति'[५३]।

गुण प्रत्यय. कारण यस्य तद्गुणप्रत्ययमिति। अर्थादिदं ज्ञानं तत्तत्कर्मणः क्षयोपशमे सति गुणानाञ्च सल्लाभे एव सञ्जायते। अतोऽस्य क्षयोपशम-निमित्तमित्यपि[५४] नामान्तरम्। तदेतत् षड्विध तत्तद्गुणानां प्रकर्षाप्रकर्ष-कारणाद्भवति। ते च भेदाः[५५] यथा—

(१) अनुगामी (Acompanying)।
(२) अननुगामी (Non-Acompanying)।
(३) वर्द्धमानम् (Increasing)।
(४) हीयमानम् (Decreasing)।
(५) अवस्थितम् (Steadfast)।
(६) अनवस्थितम् (Unsteady or Changeable)।

अत्र यज्ज्ञानं सूर्यप्रकाशवत् स्वस्वामिनं क्षेत्रान्तरे भवान्तरे उभयत्र वानुगच्छति, तदनुगामीति, एतद्विपरीतञ्चाननुगामि। यच्च ज्ञानं वलक्षपक्षक्षपाकरवदनुदिनं तपश्चरणादिजन्यात्मशुद्धिवशात् सम्यग्दर्शनादिगुणप्रकर्षाच्च वर्द्धते तद्वर्द्धमानमिति। एतद्विपरीतमनुदिनं हीयमानं ज्ञानं हीयमानमिति। यच्च ज्ञानं सूर्यमण्डलवन्न तु हीयते, नापि वर्द्धते, सततं सदवस्थमेव भवति, तदवस्थितम्। यच्च ज्ञानं चन्द्रमण्डलवत् कदाचिद्वर्धते, कदाचिच्च हीयते, नैकदशां कदापि तिष्ठति, तदनवस्थितमित्युच्यते।

किञ्चेदमवधिज्ञानमन्यतस्तु त्रिविधमपि[11] भवति। तद्यथा—(१) देशावधिः (Partial Visual), (२) परमावधिः (High Visual), (३) सर्वावधिश्चेति (Full Visual)। तत्र भवप्रत्ययकोऽवधिस्तावत् केवलं देशावधिरूपात्मक एव, यदा हि गुणप्रत्ययकोऽवधिः परमावधि सर्वावधिरूपश्च सन् देशावधिरूपोऽपि भवति।

यद्यपि अवधिज्ञानावरणस्य क्षयोपशमादेव अवधिज्ञानमिदमुत्पद्यते, किन्तु देव-नारकेषूत्पद्यमानमिदं न तत्क्षयोपशमाख्यं भवत्यपितु भवप्रत्ययाख्यमेव, यतो हि, तत्र तेषां भव एव तदुत्पादकहेतुर्भवतीति[12]। यः कोऽपि जीवस्तद्भवधारको जायते, स एतेन युज्यते, इत्याशयः। अथवा तत्र परोपदेशस्य तपश्चरणस्य चाभावान्न तन्निमित्तकं क्षयोपशमाख्यमवधिज्ञानं भवतीत्यर्थः। यच्चानुगाम्यादिषड्विधं गुणप्रत्ययमवधिज्ञानमन्तरङ्गबाह्यनिमित्ताभ्यामुत्पद्यते, तत्र क्षयोपशमवैचित्र्यमन्तरङ्गकारणम्, संयम-स्थानाद्यन्यनिमित्तानां वैभिन्न्यरूपं च बाह्यकारणम्। अतएवात्र देवनारकयोरिव भवधारणादेवावधिज्ञानावरणकर्मणां क्षयोपशमाभावात् तपःसंयमानुचरणजन्यक्षयोपशमात्मकत्वात् क्षयोपशमनिमित्तमित्युच्यते।

किञ्चेदमवधिज्ञानं मानवेषु केषुचित्तिर्यञ्चेष्वपि च सम्यग्दर्शनादिभिरवधिज्ञानावरणस्य क्षयोपशमे सति सञ्जायते, किन्त्वसंज्ञ्यपर्याप्तकेषु तु क्षयोपश-

मसामर्थ्याभावान्नेदं कथमप्युत्पादयितुं शक्यते"[6], इति। एवं मनुष्यतिरश्चामपि भवप्रत्ययेतरो गुणप्रत्ययकोऽवधिर्भवितुं शक्यते।

मनःपर्ययज्ञानम् (Mental Knowledge)

यत् खलु सर्वविधप्रमादरहितं मनःपर्ययज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमाधिगतमेकमत्यन्तविशिष्टं क्षायोपशमिकं प्रत्यक्षं तन्निमित्तान्मनुष्यलोकवर्तिनो मनःपर्याप्तेर्धारकस्य पञ्चेन्द्रियप्राणिनः त्रिकालवर्त्तिमनोगतविचाराणां इन्द्रियमनसा साहाय्यं विनैव यज्ज्ञानं जायते, तन्मनःपर्ययज्ञानमित्युच्यते"[1]। अर्थात् येन ज्ञानेन परमनोगतं चिन्तितमचिन्तितमर्धचिन्तितं वा विषयकं ज्ञानं सञ्जायते, तन्मनःपर्ययज्ञानमिति"[2]।

तदिदं मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति, विपुलमतिश्चेत्यात्मकं द्विविधं भवति। तत्र यज्ज्ञानं ऋजु—सामान्यपर्यायान्, एव गृह्णाति, अर्थात् यज्ज्ञानं सरलमनोगतमर्थमवगच्छति, तद् ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानमित्युच्यते। एव ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानं वर्तमानकालवर्त्तिन एव जीवस्य चिन्त्यमानपर्यायान् विषयीकर्तुं शक्नोति। यच्च विपुलः बहुपर्यायान् गृहीतुं शक्नोत्यर्थात् यज्ज्ञानं कुटिलमनोगतमप्यर्थमवगच्छति तद्विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानम्। एवं विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानं त्रिकालवर्तिना जीवेन चिन्तिताचिन्तितार्धचिन्तितान्नपि पर्यायान् गृहीतुं शक्नोति।

किञ्चात्र ऋजुमतिमनःपर्ययस्य (Simple Mental) तद्विषयकाः काय-वाङ्-मनःसम्बन्धिनस्त्रयो भेदाः"[1] सञ्जायन्ते। तथा च विपुलमतिमनःपर्ययस्य (Complex Mental) ऋजु-कुटिलोभयमतिविषयसम्बन्धिनः षड्भेदाः"[2] भवन्तीति।

तदिदं मनःपर्ययज्ञानं न दर्शनपूर्वकं भवति। यथा खल्ववधिज्ञानं प्रत्यक्षत्वयुक्तमपि दर्शनपूर्वकमेव भवति, न तथेदं मनःपर्ययज्ञानम्, यतो ह्यत्रावग्रहाभावाद् ईहाकरणात्समारम्भाच्च न दर्शनं पूर्वमुत्पद्यते इति।

अवधिमनःपर्ययोर्विशेषः

अत्रावधिज्ञानापेक्षया मनःपर्ययस्यास्ति विशुद्धतरत्वम्"[3]। यतो हि, यावन्तो रूपिणः पदार्थाः अवधिज्ञानेन ज्ञायन्ते, तावन्तः पदार्थाः मनःपर्ययज्ञानेनाधिक्येन स्पष्टतया मनोगताश्चापि ज्ञायन्ते। एवमेव क्षेत्रापेक्षयाप्यनयोः"[4]

परस्परं विशेषो विद्यते, तद्यथा—अवधिज्ञानस्य क्षेत्रमङ्गुलासंख्येयतम-भागात्समारभ्य सम्पूर्णं लोकात्मकं क्षेत्रं विद्यते, अर्थात् सूक्ष्मनिगोदस्य लब्ध्य-पर्याप्तकस्य उत्पत्तितस्तृतीये समये यस्य शरीरस्य जघन्यावगाहना भवति, तत्प्रमाणमवधिज्ञानस्य क्षेत्रम्। क्षेत्रेऽस्मिन् यावन्तोऽपि जघन्याः पदार्थास्तान् ज्ञातुं समर्थमवधिज्ञानम्। अस्मादुपरि क्रमशो वृद्धिमुपलभन् अवधिज्ञानस्य क्षेत्रं लोकपर्यन्तम्, तत्र स्वस्वयोग्यक्षेत्रस्थितं प्रत्येकमपि पदार्थमवधिज्ञानं विजानाति। परमेतन्मनःपर्ययविषये न संघटते। यतो हि, तत्क्षेत्रं तु मनुष्य-लोकमात्रम्। तदन्त एव संज्ञिनो जीवस्य मनःपर्ययान् विज्ञातुं क्षमं मनः-पर्ययज्ञानम्, न तस्माद्बहिरिति।

विशुद्धिक्षेत्रापेक्षावत्स्वामिनोऽपेक्षयाप्यनयोरस्ति विशेष एकोऽन्यस्तद्यथा[५]—अवधिज्ञानं खलु संयमासंयमेषु, संयतासयतश्रावकेषु, चतुर्गत्यात्मकेषु जीवेषु चापि भवितुं शक्नोति, परं मनःपर्ययज्ञानं तु केवलं सयमिषु जायते, नान्येषु। एवमेव विषया[६]ऽपेक्षयापि अनयोरन्यद्विशेषो विद्यते, तथाहि—अवधिज्ञानं खलु रूपिणः पदार्थान्, तत्सर्वान् पर्यायांश्चापि विजानाति, यदा हि मनःपर्ययस्ता-वदवधेर्विषयस्यानन्तं भागमेव विषयत्वेन गृह्णाति। अर्थात् मनःपर्ययस्य विषयोऽवधिज्ञानापेक्षयात्यन्तं सूक्ष्मो विद्यते।

ऋजुविपुलमत्योर्विशेषः

ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानाद्विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानं विशुद्धितया प्रतिपातेन[७] विशिष्टम्, यतो हि, ऋजुमतेर्विषयः स्तोकः, विपुलमतेश्च विषयोऽधिको विद्यते। ऋजुमतिर्यावतः पदार्थान् येन सौक्ष्म्येन ज्ञातुं प्रभवति, विपुल-मतिस्तान् पदार्थान् विविधैर्विशिष्टैर्गुणैः पर्यायैश्च सहात्यन्तसूक्ष्मतया ज्ञातुं प्रभवति। अतएव ऋजुमत्यपेक्षया विपुलमतिज्ञानं विशुद्धितरम्[८]। अप्रतिपाति-वैशिष्ट्यञ्चेदम्-ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानं तूत्पद्यते विनश्यति चार्थाद् वारम्वार-मुत्पद्यमानमपि पुनः पुनर्विनाशमधिगच्छति। परमयं विशेषो विपुलमति ज्ञाने विद्यते यदेकदोत्पन्नं तन्न विनाशमधिगच्छति, अपितु तज्ज्ञानं यस्मिन् यदैकवारमुत्पन्नम्, तस्मात् तं जीवं तेनैव भवेन केवलज्ञानोत्पत्त्यन्तरं निर्वाण-पदमपि प्राप्तव्यं भवति। अतएव विपुलमतिर्ऋजुमत्यपेक्षया अप्रतिपाती-अप्रतिघाती, अतो विशुद्धितरो भवतीति।

केवलज्ञानम् (Perfect Knowledge)

चतुर्णां घातिकर्मणां-मोहनीय-ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-अन्तरायाख्यानां

क्षये सति केवलज्ञानमुत्पद्यते । अर्थादत्र केवलज्ञानोत्पत्तौ चतसृणां कर्मप्रकृतीनां क्षय एव हेतुर्विद्यते । एषु चतुर्ष्वपि घातिकर्मसु पूर्वं मोहनीयस्य क्षये सति ज्ञानदर्शनावरणान्तरायादीना पश्चात् क्षयः सम्पद्यते, अर्थात् मोहनीयस्य क्षयानन्तरमेव ज्ञानावरणादीनां त्रयाणां युगपदेव क्षयो जायते, यस्मात् विशुद्धतमं पूर्णज्ञानं[१] केवलाख्यमुत्पद्यते इति ।

मतिश्रुतयोर्विषयः

मति-श्रुतयोर्द्वयोरपि ज्ञानयोः परोक्षत्वमुक्तमेव, तेषु पररूपेषु कारणेषु इन्द्रियाणां क्षेत्रं, विषयश्च नियत एव, अत आभ्या मति-श्रुताभ्यां समग्राणां द्रव्याणां तत्पर्यायाणाञ्च ज्ञानमसम्भवम्, मनोऽपि धर्मादीनां द्रव्याणां सूक्ष्मातिसूक्ष्मपर्यायान् ज्ञातुमक्षममत एव मतिज्ञानं श्रुतज्ञानञ्च द्रव्याणि सामस्त्येन तु जानन्ति, परं तेषा सर्वविधपर्यायान् ज्ञातुमक्षमे[२] एव स्तः । अत्र मानसमतिज्ञानस्य धर्माधर्माकाशाद्यरूप्यतीन्द्रियपदार्थानामपि ज्ञायकत्वादनयोर्मतिश्रुतयो सर्वद्रव्यसंग्राहकत्वं[३] सिध्यति ।

अवधिज्ञानस्य विषयः

अवधिज्ञानस्य विषय केवलं रूपिद्रव्यमेव विद्यते न तत्पर्याया. । अर्थादतिविशुद्धावधिज्ञानयुक्तोऽपि कश्चित् रूपिणो द्रव्याण्येवावगच्छति, रूपिद्रव्यस्य सम्पूर्णपर्यायान्, रूपिद्रव्यातिरिक्तानन्यान् पदार्थान् वावगन्तु[४] न प्रभवति । अत्रोपलक्षितेन रूपेण रस-स्पर्श-गन्धादीनामपि ग्राह्यत्वाद्रूप-रस-गन्ध-युक्तानां पुद्गलानामेव[५] ग्रहणं भवति ।

मनःपर्ययस्य विषयः

अवधिज्ञानविषयभूतानां रूपिद्रव्याणामनन्तं भागं मन.पर्ययज्ञानं विषयीकरोति । यतो हि, मन.पर्ययज्ञानमन्तःस्थितत्वात् अन्तःकरणविचारागतानां रूपिद्रव्याणा मनुष्यक्षेत्रस्थितानामवधिज्ञानादतिविशुद्धैः सूक्ष्मतरैर्बहुतरैश्च पर्यायैः सह गृह्णाति । अर्थान्मन पर्ययज्ञानस्य विषयोऽवधेर्विषयस्यानन्तैकभागप्रमाणं रूपिद्रव्यम्, तच्चाप्यसर्वपर्याययुक्तमेव[६] । अत इदमवध्यपेक्षया सूक्ष्मातिसूक्ष्मं विषय विशेषेण विजानातीति ।

केवलज्ञानविषयः

जीवपुद्गलादीनि सर्वाण्यपि द्रव्याणि, तेषाञ्च त्रिकालवर्तिनः समग्रपर्यायाः

केवलज्ञानस्य विषयभूताः[61] सन्ति । नास्मादुत्कृष्टमन्यत् ज्ञानम्, नाप्येतादृशः कश्चन पदार्थः पर्यायो वास्ति योऽस्य विषयाद्बहिस्तिष्ठेत् । अत्र ज्ञानावरणस्य सर्वथा क्षयात्मकत्वात् नैतेन सहान्यत् ज्ञानं कथमपि तिष्ठति, एकाक्येवेद-मुपजायते, अत एवेदं केवलमित्युच्यते ।

तदिदं केवलज्ञानं सकलद्रव्यभावानां परिच्छेदकत्वात् परिपूर्णम्, अथ च यथैकं जीवपदार्थं साकल्येन गृह्णाति, तथैवान्येषामपि समस्तपदार्थानां ज्ञायकत्वात् समग्रम्, क्षयोपशमनिमित्तेनान्येन केनाप्यसादृश्यत्वादसाधारणम्, इन्द्रिय-मनस्-आलोकादिसहायकालम्बनानपेक्षत्वात् निरपेक्षम्, ज्ञानावरणदर्शनावरणादि-निमित्तानां मलदोषाद्यशुद्धीनां सर्वथाऽभावाद्विशुद्धम्, समग्राणामपि तत्त्वानाम-वबोधकत्वात् सर्वभावज्ञापकम्, लोकालोकयोः सर्वेषामप्यशाना परिच्छेदात्म-कत्वाल्लोकालोकविषयम्, अगुरुलघुगुणनिमित्तानन्तपर्यायपरिणमनात्मकत्वा-दनन्तपर्यायमपीदमुच्यते । अथवा ज्ञेयपर्यायानन्तात्मकत्वात्, अनन्ताविभाग-प्रतिच्छेदात्मकत्वाद्वास्यानन्तपर्यायत्वमस्तीति । अस्यायमाशयो यदनन्त-शक्ति-योग्यतानां धारकत्वादिदं सर्वथाऽप्रतिमं ज्ञानमिति ।

ज्ञानानामेककालभावित्वम्

एषु मतिश्रुतादिज्ञानेषु कस्यचिज्जीवस्यैकम्, कस्यचिद् द्वे, कस्यचित् त्रीणि, चत्वारि वा ज्ञानानि एककालावच्छेदेन भवितुं शक्नुवन्ति[62] । तदेवोक्तं तत्त्वार्थसूत्रे वाचकमुख्यैः—

'एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः'[63] ।

अत्रेदमवधार्यम्, यद्यस्य श्रुतज्ञानं विद्यते, तस्य मतिज्ञानेनापि अवश्यं भाव्यम्, तस्य तत्पूर्वकत्वात् । परं यस्य केवलं मतिज्ञानमेवास्ति न तस्य श्रुतज्ञान-मवश्यम्भावि । अथ च केवलज्ञाने जाते सति मत्यादीन्यपि तेन साकं विद्य-मानानि सन्ति न वेति विषये विदुषां यन्मतवैभिन्न्यं, तदित्थम् अत्र केच-नेत्थं प्रतिपादयन्ति, यत् केवलज्ञाने सति न मतिज्ञानादीनामभावो जायतेऽ-पितु तानि केवलज्ञानेनाभिभूतानि एव भवन्त्यतस्तानि केवलज्ञानावस्थायां न कार्यकरणक्षमानि भवन्ति । यथा खलु केवलज्ञाने सत्यपि सर्वाणीन्द्रियाणि तदवस्थितान्येव तिष्ठन्ति न किञ्चिदपि कार्यं कर्तुं शक्नुवन्त्येवमेव मतिज्ञाना-दीन्यपि ।

केचनेत्थं प्रतिपादयन्ति—यन्नेमानि मतिज्ञानादीनि केवलिनस्तिष्ठन्ति, यतो

हि, श्रोत्रादीन्द्रियैरुपलब्धस्येहितपदार्थस्य निश्चयोऽवायः, मतिज्ञानञ्चापायस्वरूपं सत् विद्यमानं विद्यमानसदृशं वा पदार्थमेव गृह्णाति, किन्तु नैतानि केवलज्ञाने समुपलभ्यन्तेऽतो न तेन केवलेन सह वर्तन्ते। श्रुतज्ञानस्य च मतिपूर्वकत्वात्, अवधिमनःपर्ययोश्च केवलं रूपिद्रव्यमात्रविषयत्वाच्च न तत्र केवलिनि भवितव्यमिति।

अथ च यानि मतिज्ञानादीनि केवलव्यतिरिक्तानि चत्वारि ज्ञानानि, तेषामुपयोगः खलु जीवस्य क्रमेणैव जायते, न तु सहवर्तित्वेन। न चेदृशं केवलज्ञानं भवति, अर्थात् येन केवलिना परिपूर्णज्ञानं दर्शनञ्च सम्प्राप्तम्, स समस्तमपि पदार्थं युगपदेव विषयीकरोति। तस्यासहायत्वादनयोः केवलज्ञानदर्शनयोर्युगपदुपयोगो भवति। अथ चैषु पञ्चविधेषु ज्ञानेषु चत्वारि खलु क्षयोपशमादुत्पद्यमानानि, केवलज्ञानञ्च सर्वथा कर्मक्षयादुत्पन्नमतो न केवलिनि चतुर्णामेषा सहभावो भवत्यतस्तत्र तेषामभाव एवावगन्तव्य इति।

सम्यक्चारित्रम्

सम्यक्चारित्रलक्षणम्

संसारस्य (संसरणस्य) कारणभूताना रागद्वेषादीना निवृत्त्यै कृतसंकल्पस्य विवेकिन शरीरवाङ्मनसा बाह्याभ्यन्तरक्रियाभ्या विरागानन्तरं स्वरूपस्थितेरधिगम सम्यक्चारित्रम्[८८]। अर्थात् द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावपरिवर्तनरूपस्य पञ्चविधससारस्य कारणभूतानामष्टविधकर्मणामात्यन्तिकीं निवृत्ति प्रति कृतसकल्पस्य ज्ञानयुक्तस्य जीवस्य बाह्यक्रियाभ्यो मानसिकक्रियाभ्यश्च विरमणं यदैव जायते, तदैव तस्य स्वरूपे स्थितिरपि सञ्जायते। सा स्वरूपस्थितिरेव 'सम्यक्चारित्रमि'त्युच्यते। एवमहिंसा-अस्तेय-अचौर्य-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहादीना सम्यक्परिपालन सम्यक्चारित्रमिति,[८९] अथवा—संसरणकारणभूताना कर्मणां बन्धयोग्याः या. क्रियास्तासा निरोधानन्तरं शुद्धात्मस्वरूपावाप्तये या सम्यग्ज्ञानपूर्विका प्रवृत्तिर्जायते, तत्सम्यक्चारित्रमिति[८०] कथ्यते।

सम्यक्चारित्रभेदाः

तदेतत् सम्यक्चारित्र खलु पञ्चविधम्[८१], तद्यथा—

(१) सामयिकम् (Equanimity)।
(२) छेदोपस्थापनम् (Recovery of Equanimity after down-fall)।

(३) परिहारविशुद्धिः (Pure & Absolute Non-Injury)।

(४) सूक्ष्मसाम्परायम् (All but entire Freedom from Passion, or Slightest Delusion)।

(५) यथाख्यातञ्चेति (Ideal & Passion-less)।

अत्र समस्तपापक्रियाणां त्यागः समत्वस्याराधनञ्च 'सामयिकम्', व्रतेषु दूषणे सञ्जाते सति दोषपरिहारं कृत्वा पुनः व्रतेषु स्थितिः 'छेदोपस्थानम्', सर्वत्र गमनादिप्रवृत्तौ सत्यामपि शरीरेण जीवहिंसाभावः 'परिहारविशुद्धिः', समस्तानां क्रोधादिकषायाणां विनाशे सत्यवशिष्टस्य लोभस्य विनाशार्थं प्रयत्न एव 'सूक्ष्मसाम्परायम्', अथ च समस्तानामपि कषायाणां क्षये सति जीवन्मुक्तस्य पूर्णात्मस्वरूपे विचरणं 'यथाख्यातमि'त्युच्यते।

सामयिकम् (Equanimity)

आगच्छन्तीत्यायाः, सत्त्वव्यपरोपणहेतवोऽनर्थाः सङ्गताः आयाः, सम्यग्वा आयाः समायाः, तेषु, ते वा प्रयोजनमस्येति सामयिकमवस्थानम्। अर्थात् सर्वेषामपि सावद्ययोगानामभेदेन सार्वकालिको नियतकालिको वा त्यागः सामयिकम्[९]। अत्रास्य मानसिकप्रवृत्यात्मकत्वान्न गुप्तावन्तर्भावो भवति, यतो हि, गुप्तौ तु मनोव्यापारस्यापि निग्रहः सञ्जायते। किञ्चास्य मानसिकप्रवृत्त्यात्मकत्वात् समितावपि नान्तर्भावः शक्यः, यतो हि, सामयिकचारित्रोपेतस्यैव समितौ प्रवृत्तिर्जायतेऽतः कार्यरूपस्य समितेरेतत्कारणात्मकत्वमुपपद्यते।

छेदोपस्थापनम् (Recovery of Equanimity after Down-fall)

त्रस-स्थावरादिजीवानामुत्पत्ति-विनाशहेतूनां छद्मस्थाप्रत्यक्षत्वात्, प्रमादवशाच्च स्वीकृतासु निरवद्यक्रियासु दूषणे सति तस्य प्रतीकाररूपं 'छेदोपस्थानम्'। अर्थात्—सावद्यकर्म खलु हिंसानृतादिभेदात्पञ्चविधम्, इत्यादिविकल्पनपूर्वकं तेभ्यो विरम्य पञ्चयमरूपे धर्मे संयोजनं[१०] 'छेदोपस्थापनमि'ति।

परिहारविशुद्धिः (Pure & Absolute Non-Injury)

परिहरणं परिहारः प्राणिवधान्निवृत्तिः, तद्युक्तत्वेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिन् सा परिहारविशुद्धिः। चारित्रमिदं त्रिंशद्वर्षायुषः, वर्षत्रयात् नववर्षं यावत् तीर्थङ्करपादमूलसेविनः, प्रत्याख्याननामकपूर्वपारङ्गतस्य, जन्तूनामुत्पत्ति-

विनाशयोर्देशकालद्रव्यादिस्वभावज्ञस्याप्रमादिनः, महावीर्यस्योत्कृष्टनिर्जरस्यातिदुष्करक्रियाणामनुष्ठातुः त्रिकालसंध्यां वर्जयित्वा द्विक्रोशगामिन[48] एवोत्पद्यते, नान्यस्यैतद्विरहितस्य कस्यचिदपि सञ्जायते ।

सूक्ष्मसम्परायम् (All but Entire Freedom from Passion)

सूक्ष्मसम्परायचारित्रं दशमगुणस्थानीयानामेवोत्पद्यते, यत्र खलु लोभसञ्ज्वलनाख्यः सम्परायः[49] सौक्ष्म्यमुपगच्छति । तच्चेद स्थूलसूक्ष्मप्राणिनां वध-परिहारे पूर्णतयाप्रमत्तस्य, निर्बाधोत्साहशीलस्याखण्डचारित्रस्य, सम्यग्दर्शनज्ञानमहापवनैः सन्धोक्षिताभिः प्रशस्ताध्यवसायाग्निज्वालाभिर्भस्मितकर्मेन्धनस्य, ध्यानविशेषतः कषायविषाङ्कुरविशिखितस्य, सूक्ष्ममोहनीयकर्मबीजान्नपि अपचयाभिमुखमालीनस्य, परमसूक्ष्मलोभकषाययुक्तस्य सूक्ष्मसम्परायाख्यं चारित्रमुत्पद्यते[41] ।

यथाख्यातम् (Ideal & Passion-less Conduct)

यथात्मस्वभावोऽवस्थितस्तथैवाख्यातत्त्वात् 'यथाख्यातमिति' । सर्वविधस्यापि चारित्रमोहस्योपशमात् क्षयाद्वात्मस्वभावस्थितिरूपं परमोपेक्षापरिणतं यथाख्यातचारित्रम् । अर्थात्पूर्वचारित्राणामनुष्ठातृभिरपि साधुभिर्न मोहोपशमाभावे क्षयाभावे वा प्राप्तुं शक्यते तदथाख्यातमिति । अत्राथशब्दस्यानन्तर्यार्थात्मकत्वाच्चारित्रमोहस्योपशमानन्तरं क्षयानन्तरं वेत्येव[49] गृह्यते । एवमिदं यथाख्यातं (अथाख्यातं वा) चारित्रं मोहनीयाख्यस्याशुभकर्मणः उपशमे क्षये वा सत्येव यस्मिन् छद्मस्थे जिने वा सम्पद्यते स 'यथाख्यातचारित्रम्'[44] इत्युच्यते ।

गुप्तयः (Preventions)

सम्यक्चारित्रस्यैतेषां भेदानां विश्लेषणेनेदं ज्ञायते, यदस्यावाप्तौ ये प्रमुखाः हेतवः सन्ति ते गुप्तयः, समितयः, चारित्रमोहाभावश्चेत्येव सन्ति । अथदिषां त्रयाणां गुप्त्यादीनामाचरणेनैव सम्यक्चारित्रं परिपुष्टं भवति । तत्र सत्कारं लोकप्रसिद्धिमैह्यलौकिकं पारलौकिकञ्च सुखमनपेक्ष्य क्रियमाणो योगनिग्रहो गुप्तिरित्युच्यते[41] । तत्र कायवाङ्मनसा परिस्पन्दो[44]योगः, निग्रहश्च[41]-प्राकाम्यस्य यथेष्टचारित्रस्याभावः । योगस्य च यो निग्रहः स एव गुप्तिरिति, सा च त्रिविधा भवति काय-वाङ्-मनो (Body, Speech, Mind) भेदेन ।

तत्र निगृहीतकायप्रचारस्याप्रमत्तस्यानवेक्षिताप्रमार्जितभूमिप्रदेशविचरणम्,

वस्त्वन्तराराधननिक्षेपः, शयनासनादिशारीरिकक्रियाश्चेत्येतेषां निमित्तकं यत्कर्म, तस्यानास्रवणमेव 'कायगुप्तिः'। संवररहितस्य जीवस्यासत्प्रलापाप्रियभाषणादिभिर्यानि वाचिकव्यापारनिमित्तानि कर्माणि आस्रवन्ति, वाग्योगनिग्रहिणि जीवे यत्तेषामभावस्तदेव वचनगुप्तिरिति। यच्च रागद्वेषादिभिरभिभूतप्राणिनोऽतीतानागतविषयाभिलाषादिभिः मनोव्यापारनिमित्तकानि कर्माण्यागच्छन्ति, तेषामभाव एव मनोगुप्तिरित्युच्यते।

एतत्त्रिविधानामपि गुप्तीनां योगनिग्रहात्मकत्वाच्चारित्रसाहाय्यत्वमस्ति। किन्त्वत्रायं योगनिग्रहो यद्यविधि-अज्ञान-अस्वीकार-मिथ्यादर्शनादिपूर्वकः स्यात्तदा नास्य गुप्तित्वमुपपद्यतेऽतएव सम्यग्योगनिग्रहस्यैव गुप्तित्वमत्र स्वीकृतम्। अन्यथा आत्मघातादीनां बालतपश्चरणसंलग्नाना मिथ्यादृष्टीनां मौनधारणादीनां प्रक्रियाणामपि गुप्तित्वं[१२] स्यात्।

समितयः (Carefull-ness)

एताः गुप्तयः संवरस्य प्रधानसाधनभूताः, अतएव मुमुक्षुभिः सम्यक्परिपालनीया। किन्तु ये खल्वेतासां परिपालनेऽक्षमास्तेषां कृतेऽथ च 'शरीरस्य न यावत् सम्पूर्णरूपेण परित्यागस्तावत्प्राणसंधारणार्थं (यात्रार्थं) यत्किञ्चिदशन-पान-आदान-निक्षेपण-उत्सर्गादिकमावश्यकम्, तेन संवरः खल्वशक्यः' इत्याशङ्क्यमानाना कृते एव सम्यक्प्रवृत्तीनां समितीनामुपदेशो विद्यते। इमाश्च समितयः पञ्चविधास्तथाहि[१३]—

(१) ईर्यासमितिः (Care in Walking)।
(२) भाषासमितिः (Care in Speaking)।
(३) एषणासमितिः (Care in Eating)।
(४) आदाननिक्षेपणसमितिः (Care in Lifting & Laying)।
(५) उत्सर्गसमितिश्चेति (Care in Excreting)।

ईर्यासमितिः (Care in Walking)

तत्र जीवस्थानादिविधिविज्ञस्य धर्मार्थप्रयत्नशीलस्य सूर्योदये सति चक्षुरिन्द्रियविषयगृहीतत्वे मनुष्यादिचरणपातोपहृतावश्यायमार्गे सावधानचित्तस्य सकुचितावयवस्य शनैश्शनैर्न्यस्तपादस्य शरीरप्रमाणभूमिमग्रे निरीक्षणावहितदृष्टेः यदप्रमत्तं गमन तदीर्यासमिति[१४]पदेनोच्यते।

भाषासमितिः (Care in Speaking)

अथ च हित-मित-असंदिग्ध-अनवद्यार्थप्रतिपादननियतानां वचनानां व्यवहारो भाषासमितिरिति । अर्थात् मोक्षसाधने प्रवृत्तिरूपाः, आत्मनः कल्याणलक्ष्या-भावरूपाः, निष्प्रयोजनाः, अपरिमितरूपाः, अनिश्चायकाः, अतएव सन्देहो-त्पादकाः संशयपूर्वकाः पापरूपाः पापकार्यसमर्थकाः वा ये शब्दास्ते न समिति-स्वरूपाः, अतएवैतान् शब्दान् परित्यज्योपर्युक्तान् चत्वारः शब्दानुद्दिश्या-प्रमत्तभाषाया व्यवहार एव भाषासमितिरित्युच्यते[१५] ।

एषणासमितिः (Care in Eating)

आगमे ये उत्पादनादिका दोषा वर्णितास्तेषां वर्जनपूर्वकं धर्मसाधनानां धारणम्, अन्नपानप्रवृत्तिश्चैषणासमितिः । अर्थात् भक्ष्य-पेय-रजोहरण-पात्र-चीवरादीनां धारणे उद्गमोत्पादनैषणादिदोषाना परित्याग एषणासमितिरिति[१६] ।

आदाननिक्षेपणसमितिः (Care in Lifting & Laying)

धर्मविरोधिना परानुपरोधीनां ज्ञानसंयमयोश्च साधकानामुपकरणानां निरीक्ष्य, प्रमृज्य प्रवर्त्तनमादाननिक्षेपणसमितिः[१७] ।

उत्सर्गसमितिः (Care in Excreting)

यत्र स्थावरजङ्गमादिजीवानां विराधना न स्यात्, तत्रैव मलमूत्रादिवि-सर्जनम्, शरीरस्य स्थापनञ्चोत्सर्गसमिति[१८], अर्थात् यत्र पृथिवीकायि-कादयः स्थावराः पञ्चविधा एकेन्द्रियादिजीवाः त्रसाश्च न स्युस्तत्र शुद्धे, स्थण्डिले, प्रासुकस्थाने निपुणं निरीक्ष्योपमृज्य च मलमूत्रयोः परित्याग एवोत्सर्गसमितिरिति ।

चारित्रमोहाभावः

एवं सम्यक्चारित्रस्यावाप्तौ यादृशं साहाय्यं गुप्तिसमित्योरस्ति, तदधिकं चारित्रमोहाभावस्य, यतो ह्यस्याभावे तु नेदं सम्यक्चारित्रं कथमपि युज्यते । अतस्तदवाप्तौ चारित्रमोहाभावोऽत्यावश्यकः । तत्र चारित्रस्य मोहकानां सप्तपरीषहाणामभाव एव चारित्रमोहाभावपदेन गृह्यते । यतो हि, चारित्र-मोहस्योदये सत्येव इमाः सप्तविधाः[१९] परीषहा उत्पद्यन्ते, यद्वशान्नात्मा सम्यक्चारित्रमधिगन्तुं प्रभवति । एषामभावे सत्येव तेनात्मा युज्यते । ताश्च सप्तविधाश्चारित्रमोहपरीषहा इमाः—

(१) नाग्न्यपरीषहा (Nakedness)।

(२) अरतिपरीषहा (Dissatisfaction, Languor)।

(३) स्त्रीपरीषहा (Women Suffering)।

(४) निषद्यापरीषहा (Sitting)।

(५) आक्रोशपरीषहा (Abuse)।

(६) याचनापरीषहा (Begging)।

(७) सत्कारपुरस्कारपरीषहश्चेति (Respect on Disrespect)।

एषामुदये सति सम्यग्दर्शनज्ञानयुतस्यापि जीवस्याचरणं न सम्यक्त्वं लभतेऽतस्तदवाप्त्यै एषां सप्तचारित्रपरीषहाणां वशिनः साधुजनाः न मोक्षमार्गेऽग्रे सरितुं प्रभवन्ति। अतएवैताः-मोक्षमार्गबाधिकाः चारित्रपरीषहाः विजित्यैव मोक्षमार्गे प्रगतिर्विधीयते साधुभिः।

ताश्चेत्थस्वरूपाः[100]-यथाजातरूपस्य नाग्न्यस्य मूर्तिमच्चारित्रस्वरूपत्वमस्ति। तदिदमविकारि संस्कारशून्यं स्वाभाविकञ्चास्ति। तस्यैतस्य नाग्न्यस्य धारणे बाधिकाः विपत्तय एव नाग्न्यपरीषहपदवाच्याः, आसां बाधकविपत्तीनामेव जयो नाग्न्यपरीषहजयः। अनिष्टपदार्थसंयोगेऽप्रीतिभावोऽरतिपरीषहा। तासां धैर्येण विनाशनमेवारतिपरीषहजयः। एकान्तोद्यानभवनादिषु यौवन-मद-रूपमद-विभ्रम-उन्माद-मद्यपानादिसाधनैर्जायमान विघ्न स्त्रीपरीषहा, तत्सत्यपि तत्स्पर्शनदर्शनादीच्छारहितो भावः स्त्रीपरीषहजयः। ध्याने सामयिके वैकासनस्थिते च तदासनस्थितौ काठिन्यानुभवनं निषद्यापरीषहा, तस्याः जयो निषद्यापरीषहजयः। एवञ्च 'वञ्चकोऽयं' 'साधुवेषाच्छन्नश्चौरोऽयं' 'पापी' 'दुष्टश्चायं' इत्यद्याज्ञानाक्षेपितमिथ्यावचनानि एवाक्रोशपरीषहा, तस्याः सहनमेव आक्रोशपरीषहजयः। संक्लेशे विपत्तिकाले च तस्माद्विभेत्य तद्दूरीकरणार्थं यस्य कस्यचिद्वस्तुनो याञ्चाभावो याचनापरीषहा, तस्याः जयः, याचनापरीषहजयः इति। अथ च विभिन्नयोग्यतायुक्तस्यापि तदनुरूपं मानपुरस्कारादिप्राप्त्यभावो सत्कारपुरस्कारपरीषहा, तस्याः जयः सत्कार-पुरस्कारजय इति।

एवमेतत् सप्तविधपरीषहजययुक्तेन मुमुक्षुणा बुभुक्षा-तृषा-शैत्य-औष्ण्य-दशक-मशकादीनाम्, चलता, गच्छता, स्वपिता वा कण्टकादीनाम्, वध-आक्रोश-मलोत्सर्गादीनाञ्च बाधाना शान्त्या प्रसहनम्, नग्नत्वेऽपि सति स्त्र्यादिभ्र ह्य-

चर्यघातकानां साधनानां दर्शने सञ्जाते प्रकृतिस्थत्वम्, सुचिरं तपस्तप्तेऽपि ऋद्धि-सिद्ध्यनवाप्तौ तपः प्रत्यनादराभावः, ऋद्धिप्राप्तौ च तद्गर्वाभावः, यस्य कस्यचिदपि सत्कारपुरस्कारयोरन्यतरस्य प्राप्ताप्राप्तौ हर्षापमाने वा खेदाननुभूतिः, भिक्षिते भुङ्क्तेऽपि वात्मन्यदैन्यमित्यादिपरीषहजयैश्चारित्रे दृढा निष्ठा सञ्जायते, तस्मात् चारित्रमपि परिपुष्टं भवति। एवं सप्तविध-परीषहाणां चारित्रमोहोत्पादिकानां विजयात् चारित्रमोहस्याप्यभावः सम्पद्यते, तदभावे च चारित्रस्य सम्यक्त्वमपि सुदृढं भवतीति।

केश्चिदाचार्यैस्त्विदं सम्यक्चारित्रं संयमपदेनाप्यभिहितम्, तदेतत् संयमः खलु धर्मान्तर्भूत इन्द्रियविजय-प्राणिरक्षारूपश्चास्ति। केश्चिच्च व्रतधारणम्, समितिपालनम्, कषायनिग्रहः, दण्डपरित्यागः, इन्द्रियजयश्चेति पञ्चविधः[101] स्वीकृत। पर तत्त्वार्थवार्त्तिककृतायं[102] संयमः प्रामुख्येन उपेक्षासंयमः, अपहृत-सयमश्चेति द्विविधोऽभिहित.। तत्र देशकालविधिज्ञस्य स्वभावत एव शरीरा-द्विरक्तस्य गुप्तित्रयधारकस्य रागद्वेषरूपायाश्चित्तवृत्तेरभाव उपेक्षासंयमः। अपहृतसयमश्चोत्कृष्ट-मध्यम-जघन्यभेदेन त्रिविध.। तत्र प्रासुकवसत्याहार-मात्रबाह्यसाधनात्मकत्वस्य स्वाधीनज्ञानचारित्रकरणस्य बाह्यजन्तूपनिपाते सत्यात्ममन संरक्षणपूर्वक पालनमुत्कृष्टापहृतसयमः, मृदूपकरणादिभिर्जन्तूनां प्रमार्जकस्य मध्यमापहृतसयम, अन्योपकरणाद्यभिलाषिणश्च जघन्यापहृत-संयमो भवति।

अत्र तस्यापहृतसंयमस्य प्रतिपादनार्थमष्टशुद्धयो भाव-कायशुद्ध्यादय उप-दिष्टा। यासा सम्यक्परिपालनेनापहृतसयमस्य पुष्टिर्भवति, तस्माच्च सम्यक्चारित्र परिपुष्ट भवति। एव सम्यग्दर्शनज्ञानयुतस्य गुप्ति-समिति-चारित्र-सयमादीना सम्यक्परिपालनेन सम्यगाचरणस्य सद्भावात्सम्यक्चा-रित्रमुत्पद्यते, तस्मादेव जीवो मोक्षत्वमधिगच्छति, यतो हि, सम्यक्चारित्रा-भावे न कथमपि सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्नोऽप्यात्मा तदधिगन्तुं प्रभवति इति।

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः

कर्मक्षयस्यावश्यकत्वम्

जगत्यस्मिन् सासारिकस्य जीवस्य संसरणात्मकत्वात् जन्ममरणादीन्नुपलभतः, पूर्वजन्मोपार्जिताना कर्मणां प्रभावादधिगतेऽस्मिन्नपि जन्मनि कर्मणामुपार्ज-नात्पुनर्जन्म, तत्रापि च कर्मणां संचयात्मकत्वात्पुनरपि जन्म गृह्णाति।

तथा च तत्र तत्तज्जन्मोपार्जितायुष्कर्मणः समाप्तौ मरणम्, ततश्च पुनर्जन्मन्यपि तत्कर्मसम्बद्धं मरणमुपलभते। एवमनयोर्जन्ममरणयोर्मध्यवर्तिनं यावत्कालं जीवो जगति तिष्ठति, तावत्कालमहर्निशमेव नित्य-नैमित्तिक-आवश्यकाद्याचरणीयैः कर्मभिस्तत्तत्कर्मपुद्गलान् प्रति, इच्छा-राग-द्वेष-मोहादिभिर्युक्तः श्लिष्यते। ते च कर्मपुद्गलाः जैनदार्शनिकैः प्रमुखेष्वष्टसु भागेषु विभक्ताः। तेषां मध्ये खलु चतुर्विधास्तु प्रत्यक्षत एवात्मना श्लिष्यन्ति, अन्ये चतुर्विधास्त्वप्रत्यक्षतः। एषां संश्लेषणेनैवात्मा कर्मपुद्गलसंश्लिष्टोऽयमेव च बन्ध इत्युच्यते।

अस्य बन्धस्य सद्भावे सति, पुनः पुनरुत्पद्यमाने च न कथमप्यात्मा संसारात् निर्मुक्तो भवितुं शक्नोति, नाप्येषु केषाञ्चन कर्मणां विनाशे, केषाञ्चन चाविनाशे वास्मात्संसाराद्विमुच्यतेऽपितु सर्वेषामेव कर्मणा यदा विनाश आत्मनि सञ्जायते, तदेवातो मुक्तिः प्राप्यते। अत एभिः कर्मभिर्विमुक्त्यर्थमेषां सर्वेषामपि कर्मण क्षयः—विनाश आवश्यकः[11]।

सम्यक्चारित्रस्य मोक्षहेतुत्वम्

यद्यपि बहुभिर्दार्शनिकैः स्व-स्व-पदार्थाना सम्यग्ज्ञानादेव मोक्षलाभोऽभिहितः, तत्र कर्मणामभावस्य कृते न चारित्रस्य प्राधान्यमावश्यकत्वं वा स्वीकृतम्, किन्तु अत्र विचारे कृते सति ज्ञायते, यद्वस्तुतस्तु तत्तत्पदार्थाना ज्ञाने सत्यपि, तेषु विरागो यदि न स्यात्, तत्कथ तेभ्यः पदार्थेभ्यो मनो-वाक्कायादीनां त्रिविधयोगानां विरक्तिर्भाविनी, विरक्त्यभावे च तत्र स्नेहादय एव प्रवर्धन्ते, तेषाञ्च सद्भावात्कथमपि पदार्थज्ञानमात्रं मोक्षकारणं मोक्षस्वरूपं वा न भवितुमर्हति।

पुण्यकर्मणामपि हेयत्वम्

अतएव ये खलु जगति स्नेह-राग-द्वेषप्रभृतिभिर्द्वारैरात्मनि स्नेहादिभावानामुत्पादकाः कर्मशत्रवो विद्यन्ते, तेषां सर्वथा विनाश एव मुक्तवावश्यकः। यद्यपि कर्माण्यपि शुभाशुभरूपाणि द्विविधानि सन्ति, तत्र केवलमशुभान्येव हेयानि, शुभानि चोपादेयानीति कैश्चिदभिहितम्, परमत्रेदमवधेयं यज्जैनदार्शनिकैस्तावद्यथा खल्वशुभानि कर्माणि जगति जीवं बध्वा स्थातुं लौहनिगडवदभिहितानि, तथैव शुभान्यपि कर्माण्यत्र स्थातुं स्वर्णनिगडवत् स्वीकृतानि, यतो हि, उभयविधैरपि कर्मभिर्बन्धः जगद्धेतुभूतः सदृश एव जायतेऽतो यथा अशुभकर्मणां निवृत्तिः जगदुच्छेदहेतौ मोक्षे वा सहायिका तथैव शुभानामपि।

एवमष्टविधानामपि शुभाशुभरूपाणां घात्यघातिरूपाणां वा कर्मणां विनाशः जगदुच्छेदार्थं तन्निवृत्तिपूर्वक एव सम्भवति । यतो हि, नैनं विना जगतोऽस्या अनादिपरम्परायाः उन्मूलने कश्चनापि जीवः प्रभवितुं शक्नोति, यथा खलु बीजवृक्षयोरनादिसन्ततिर्न बीजस्यात्यन्तिकविनाशाभावेऽवरुध्यते ।

कर्मणामसंश्लेष एव क्षयः

यथा खलु बीजाङ्कुरसन्ततिरनादिः सत्यपि, बीजान्तिमस्याग्निना दग्धे तद्बीजस्याङ्कुरोत्पादनाशक्यत्वादवरुद्ध्यते, तथैव मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययानां कर्मबन्धाना च सन्ततेरनादित्वे सत्यपि ध्यानाग्निना (सम्यक्चारित्रेण) कर्मबीजानां सर्वथा दग्धे सति पुनः भवाङ्कुरमुत्पादयितुमशक्यत्वादवरुद्ध्यते । अर्थात् मिथ्यादर्शनादिबन्धहेतूनामभावात्कर्मणामास्रवोऽवरुध्यते, कारणाभावे च कार्याभावश्चापि सञ्जायते । एवं निर्जराहेतुभिः समाहितानां कर्मणां विनाशो भवति । एभिश्च कारणैः येषां कर्मणामायुसदृशी स्थितिस्तेषां वेदनीयप्रमुखानामवशिष्टकर्मणां युगपदेवात्यन्तिको विनाशः—क्षयः, भवति, अयमेव मोक्ष[104] इत्युच्यते । तदेवोक्तम्—

'दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः' ॥

कर्मक्षयक्रमः

कर्मपर्यायात् कृत्स्नरूपेण कर्मणा संक्षयः कर्मक्षयः, यतो हि, न खलु विद्यमानस्य कस्यचिदपि द्रव्यस्य द्रव्यरूपेणात्यन्तो विनाशो कथमपि भवितु शक्नोति, पर्यायाणामेवोत्पादविनाशात्मकत्वाद्द्रव्यस्य पर्यायरूपेणैव व्ययः--क्षयो भवति । अतएव पुद्गलकर्मपर्यायाणां प्रतिपक्षिकारणेभ्यो निवृत्तिरेव क्षयस्तत्सद्भावे चाकर्मपर्यायेण परिणत भवति पुद्गलद्रव्यम् ।

अत्र कर्मणामभावो द्विधा[105] भवति—यत्नसाध्योऽयत्नसाध्यश्चेति । तत्र चरमशरीरस्य नारकतिर्यञ्चदेवायुषामभावोऽयत्नसाध्यः । यतो ह् येषां स्वत एवाभावो जायते । यत्नसाध्यश्च यथा—असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिचतुर्षु गुण-स्थानेषु अनन्तानुबन्धिनां क्रोध-मान-माया-लोभ-मिथ्यात्व-सम्यङ्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वाना सप्तकर्मप्रकृतीनां शुभाध्यवसायरूपेण विनाशो भवति । निद्रा-निद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धि-नरकगति-तिर्यञ्चगति-एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजाति-नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य-

आतप-उद्योत-स्थावर-सूक्ष्म-साधारणानां षोडशप्रकृतीनामनिवृत्तिबादर-सम्पराये समाधिना युगपत् समूलो विनाशो भवति।

अतोऽनन्तरं च प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यान-क्रोधमानमायालोभाद्यष्टकर्मकषायाणां विनाशो भवति। तत्रैव च स्त्रीनपुंसकवेदयोः षड्नोकषायाणाञ्च क्रमशः क्षयो जायते। ततश्च पुंवेदसञ्ज्वलनक्रोधमानमायादीनां क्रमशः क्षयो भवति। लोभसञ्ज्वलनस्तु सूक्ष्मसम्परायान्ते एव विनश्यते। क्षीणकषाय-वीतरागछद्मस्थस्योपान्ते काले निद्राप्रचले क्षयं गच्छतः। पञ्चज्ञानावरणानां, चतुर्णां दर्शनावरणानां, पञ्चानामन्तरायाणाञ्च द्वादशतमगुणस्थानस्यान्ते विनाशो भवति।

अथ चैकः कश्चन वेदनीयः, देवगत्यौदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजस-कार्मण-शरीरषड्संस्थानानि, औदारिकवैक्रियिकाहारकाङ्गोपाङ्गाः, षड्संहननानि, पञ्चप्रशस्तवर्णाः, पञ्चाप्रशस्तवर्णाः, द्वे गन्धे, दश प्रशस्ताप्रशस्तरसाः, अष्टौ स्पर्शाः, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासप्रशस्तविहा-योगति-अपर्याप्तकप्रत्येकशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भगसुस्वर-दुःस्वरानादेया-यशस्कीर्ति-निर्माणनीचगोत्रसंज्ञाकाश्चेत्येतासां द्विसप्ततिप्रकृतीनामयोग-केवलिन उपान्त्ये काले विनाशो भवति।

एको वेदनीयो मनुष्यायुर्गतिपञ्चेन्द्रियजातिमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यत्रसबादर-पर्याप्तकसुभगादेययशस्कीर्तितीर्थकरोच्चैर्गोत्राख्यानां त्रयोदशप्रकृतीनामयोग-केवलिनश्चरमे समये[१०] व्युच्छेदो भवति।

कैवल्यम् (Perfect Knowledge)

मिथ्यादर्शनादयो ये बन्धहेतवस्तेषां तत्तदावरणीयकर्मणां क्षये सत्यभावस्ततश्च सम्यग्दर्शनादीनामुत्पत्तिर्जायते। अत्र तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं निसर्गतोऽधिगमतश्च (परोपदेशतः) उत्पद्यते। एवं तत्सद्भावे सति सम्यग्व्यपदेशितस्य संवृतस्य निर्जरणकारणानामत्यन्तक्षयो जायते। एतस्मात्क्षयादेव सर्वद्रव्य-पर्यायविषयके केवलज्ञानदर्शने प्रकटयतः याभ्यामात्मा शुद्धः, बुद्धः, सर्वज्ञः, सर्वदर्शी, जिनः, केवलीति वोच्यते। ततश्चायमघातिकर्मावशिष्टं आयुष्कर्म-संस्काराज्जगति विहरन् तिष्ठति अर्थात् संवरकारणानामभावे सति बन्ध-कारणानामभावः, ततश्च नूतनकर्मणामागमनाभावोऽतोऽनन्तरं च निर्जर-कारणनिमित्तात्पूर्वोपार्जितकर्मणामेकदेशक्षयोऽपि प्रारभते। एवं नूतन-नूतन-

कर्मणां संवरणात्, सचित्तानाञ्च निर्जरणात् केवलज्ञान सञ्जायते। तदेवोक्त-मुमास्वातिना—

'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्'[107] ।

मोहनीयस्य ज्ञानावरण-दर्शनावरणयोरन्तरायस्य च क्षये सति केवलज्ञानं केवलदर्शनञ्चोत्पद्येते। अर्थात् चतुर्णां घातिकर्मणां क्षयादेव केवलमुत्पद्यतेऽत्र मोहनीयक्षयानन्तरमेवान्येषां त्रयाणां क्षयो भवति। मोहनीयस्य क्षयान्ते दर्शनज्ञानावरणादीनाञ्च क्षयात्प्रागन्तर्मुहूर्तकालं छद्मस्थवीतरागत्वं भवति।

मोक्षः (Liberation)

मोक्षस्तावत्कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणस्तत्राष्टौ कर्माणि (चत्वारि घातिकर्माणि, चत्वारि चाघातिकर्माणि) क्षयमुपगच्छन्ति, तत्र चतुर्णां घातिकर्मणां पूर्वमेव कैवल्यावस्थायां क्षयो जायते। अतोऽवशिष्टानां चतुर्णामघातिकर्मणा यस्मिन् काले सर्वथा क्षयो भवति, तदैव मोक्षप्रसिद्धिर्भवति। तदैव चौदारिकशरीर-वियोगोऽपि जायते, येनान्तेऽस्य जन्मनोऽभावो भवति, पुनश्च कारणाभावा-दुत्तरजन्मप्रादुर्भावोऽप्यसम्भवः स्यात्, इयमेवावस्था सर्वेषामपि कर्मणां क्षयरूपा। अयमेव मोक्षः, एतादृशे कर्मविप्रमोक्षे मोक्षे सद्भावे सति जन्म-मरणादिविरहितावस्था भवति। एवं समस्तानामपि कर्मणां सर्वथाभावादेव यावस्थोत्पद्यते सैव 'मोक्ष' इत्युच्यते।

मुक्तात्मनां स्वरूपम्

आत्मगुणसाक्षात्कारः

'चैतन्यं' जीवस्य सामान्यं लक्षणम्[108] । जगति सर्वविधेष्वपि जीवेषु चैतन्य-मुपलभते। यतो हि, प्रत्येकमपि जीवो निसर्गादेवानन्तज्ञानदर्शनादिसामर्थ्यगुणैः सम्पन्नो भवति, परं जीवेष्वावरणीयकर्मभिः तेषां स्वाभाविकानां गुणाना-मुदयो न सम्भवति। आत्मीयानामेव शुभाशुभकर्मणा प्रभावाज्जीवस्य स्वाभा-विकेषु गुणेष्वेकमावरणं सञ्जायते, किन्तु, अशुभकार्याणां परित्यागात्, शुभकार्याणामेवानुष्ठानाच्चास्यावरणस्य तिरोभावे सति एतेषां गुणानां साक्षात्कारो जीवे सञ्जायते।

आत्मापरनामो जीवः खलु स्वतन्त्र एकः पदार्थस्तस्योपयोगलक्षणात्मकत्वात्[109] चैतन्यमसाधारणो गुणः, येनायं सर्वेभ्योऽपि द्रव्येभ्यः स्वीयं पृथगस्तित्वमुप-लभते। चैतन्यस्यास्य बाह्याभ्यन्तरकारणवशात् ज्ञानदर्शनरूपो द्विविधः

परिणामो भवति। यदा चेदं चैतन्यं स्वतोऽभिन्नं चैतन्याकारमात्रं तिष्ठति, तदा दर्शनमिति, यदा च स्वतो भिन्नं कञ्चन ज्ञेयविशेषं विजानाति, तदा ज्ञानमित्युच्यते। यदा चायमुपयोगो द्विविधोऽपि केवलत्वमुपपद्यते, तदात्मनो मोक्षः सञ्जायतेऽतोऽस्य मोक्षस्योपलब्धिस्तत्त्वतस्त्वात्मगुणानां साक्षात्काररूपैव भवति।

मोक्षस्य पञ्चमगतित्वम्

जगतः प्रत्येकस्मिन्नपि भागे जीवानां सत्तावलोक्यते, तत्र जीवः खलु शुभाशुभकर्मणां कर्त्ता, सुखदुःखानाञ्च भोक्ता, स्वस्य प्रकाशकश्चास्ति। अतो जीवस्य परस्परं विरुद्धे द्वे अवस्थे संसार-मोक्षरूपे स्तः। अत्र संसारो यदि जन्ममृत्योः प्रतीकभूतस्तन्मोक्षस्त्वेतद्विपरीतभूतः। यतो हि, संसारावस्थायामात्मा कर्माधीनो भूत्वा नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवगतिषु परिभ्रमति, किन्तु मोक्षस्त्वेतद्भिन्नश्चतुर्गतिनिरोधकस्तद्विरहितश्च सन् पञ्चमगतिस्वरूप एव भवति।

आत्मनो भेदाः

यदात्मा चतुर्दशस्वपि गुणस्थानेषु विचरन् समस्तानामपि कर्मणां विनाशको भवति, तदैव तस्य पञ्चमगति'र्मोक्षो' जायते। संसारावस्थायां स्थितस्य तस्य कर्माभिभूतत्वात् न तस्मिन् ताः शक्तयः प्रकटन्ति, यैः खलु मुक्तावस्थायां तस्य परमात्मत्वमुपलभ्यते। ततश्चानन्त-ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यञ्च धारयति। अत्रैव ताः शक्तयः प्रकटन्ति याः खलु मोक्षहेतुरूपेण जैनदार्शनिकैः स्वीकृताः विद्यन्ते। एवं संसारावस्थातो मोक्षं यावत् यद्यपि जीवस्यानन्ताः पर्यायकृताः भेदाः सञ्जायन्ते, परं प्रामुख्येन त्रय एव, ते च यथा—

(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, (३) परमात्मा चेति। अत्र शरीरमेवात्मेति स्वीकरणात्मकेनाज्ञानेन युक्तो जीवः-बहिरात्मा। अतो ज्ञानी आत्मा स्वकं देहाद्भिन्नं ज्ञानमयञ्चावगच्छति, एवं ज्ञात्वा यः खल्वात्मध्याने लीनः, स परमात्मज्ञोऽन्तरात्मा। एवञ्च समस्तानामपि बाह्यवस्तूनां सर्वथा परित्यागे कृते सत्यन्तरात्मैव परमात्मत्वमुपलभते।

आत्म-कर्मणोः स्वभावः

राग-द्वेषादिमनोभावरूपा आत्मना सम्बद्धाः परमाणव एव कर्मेत्युच्यन्ते।

जीवकर्मणोः सम्बन्धस्त्वानादिः। कर्मकृता एवात्मनोऽनेका अवस्थाः, अथ च कर्महेतुनैव जीवस्य शरीरे स्थितिर्भवति।

यद्यप्यात्मा कर्मवशात् शरीरस्थितस्तदपि तस्मात्सर्वथा भिन्नः, षड्द्रव्येषु केवलमेक एव चेतनोऽनन्तस्य ज्ञानानन्दस्यागारो भूत्वा शरीरप्रमाणश्च दर्शन-ज्ञान-गुणमुख्यः सन् मुक्तावस्थायां कर्मबन्धनशून्यत्वात् शून्यात्मकोऽपि भवति। यद्यपि सर्वेषामप्यात्मनामस्तित्वं पृथक्पृथग्विद्यते, परं गुणापेक्षया न तेषु कश्चन विशेषः, सर्वेषामप्यात्मनामनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यागारात्मकत्वात्। केवलमशुद्धावस्थायामेवैषामेतद्गुणानां कर्मावृतत्वात्परस्परं पृथक्त्वं दरीदृश्यते।

परमात्मनः स्वभावः

परमात्मा खलु त्रिष्वपि लोकेष्वूर्ध्वं तिष्ठति। स शाश्वतज्ञान-सुखसमृद्धः, पुण्य-पापादिभिरप्यनिर्लिप्तः, निर्मलध्यानादेव प्राप्यः। विश्वञ्च तस्य ज्ञाने विद्यते, सर्वस्यापि ज्ञायकत्वात्। त एतेऽनेके परमात्मानः परस्परमभिन्नाः न त्विन्द्रियगम्याः, नापि केवलेन शास्त्राभ्यासेनैव ज्ञातुं शक्याः, अपितु केवल ध्यानगम्या एते ब्रह्म-परब्रह्म-शिव-शान्तेत्याद्यपरनामकाः सन्ति।

आत्मैव परमात्मा

आत्मा खलु कर्मवशीभूतः सन्, तद्धेतुत्वात् न परमात्मत्वमधिगन्तुं क्षमो भवति, परं यदैव स स्वं विजानाति, तदैव परमात्मत्वमधिगच्छति। स्वाभाविकगुणापेक्षया तु नास्त्यात्मनि परमात्मनि वा कश्चनापि भेदः। यदा स कर्मबन्धनान्मुच्यते, तदा तस्यानन्दोऽसीमितः सञ्जायते। एतदेवात्मनो परमात्मत्वमुच्यते, अस्यामवस्थायामात्मन्यनेके गुणाः स्वभावत एवोत्पद्यन्ते।

चित्तस्य नैर्मल्यम्

आत्मनि परमात्मत्वमधिगते सति देहादीनां समस्तानामपि परद्रव्याणां परित्यागपूर्वकं ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभिः, रागादिभावकर्मभिः, शरीरादि नोकर्मभिश्च रहितं निर्मलं चित्तं सञ्जायते, तदा स केवलज्ञानादिगुणसंयुक्तः''' चित्तस्य नैर्मल्यं भजते।

शान्तः शिवश्च

नैयायिकवैशेषिकैः स्वीकृतो न जगतः कश्चित्कर्त्ता सर्वव्यापी, मुक्तः, शान्तः

शिवश्च भवस्यपितु यः खल्वनन्तज्ञानादिरूपं स्वभावं न कदापि परित्यजति, नापि कामक्रोधादिपरभावान् अधिगच्छति, अथ च त्रिष्वपि कालेषु त्रिलोकस्थितान् सर्वान्नपि पदार्थान् सर्वदा नित्यं विजानाति, स शुद्धात्मैव परमात्मत्वमधिगतः शान्तः[१११], शिवश्चेत्युच्यते जैनदर्शनानुसारम् ।

निरञ्जनस्वभावः

यस्य खल्वात्मनः श्वेत-कृष्णादिपञ्चविधाः वर्णाः, द्विविधो गन्धो, मधुराम्लादिपञ्चविधाः रसाः, भाषाभाषारूपाः (सचित्ताचित्तमिश्रिताः) शब्दाः, सप्तस्वराः, जन्ममरणे, जरा चापि न सन्ति, स एव चिदानन्दः, शुद्धस्वभावः, निरञ्जनो देवः परमात्मेति ।

अथ च-क्रोध-मद-मोहेषु, कुलजात्याद्यष्टविधाभिमानेषु, माया-मान-कषायेषु च पुण्य-पाप-स्थान-ध्यान-हर्ष-विषाद-क्षुधा-तृषादिषु चैकोऽपि दोषो नास्ति, अर्थात् स्वप्रसिद्धेः महिम्नोऽपूर्ववस्तुनः संयोगस्य वियोगस्य वा इच्छारूपादिविभागपरिणामान् परित्यज्य शुद्धात्मनोऽनुभूतिज्ञानस्वरूपनिर्विकल्पकसमाधौ यः स्थितो भवति स एव निरञ्जनः[११२], निर्मलः, ज्ञानदर्शनस्वभावः परमात्मा भवतीति ।

वेदैः शास्त्रैश्चागम्यत्वम्

वेदानां शास्त्राणाञ्च शब्दरूपात्मकत्वात् नैते शब्दातीतमात्मानं परिज्ञातुं शक्नुवन्ति, यतो हि, इन्द्रियाणि मनश्च विकल्परूपाणि मूर्तिकपदार्थज्ञानसमर्थानि, शुद्धो निरञ्जनस्वरूपात्मा तु निर्विकल्पोऽमूर्त्तश्च वर्ततेऽतो नायं वेदैः शास्त्रैरिन्द्रियादिभिर्वाधिगन्तुं[११३]पार्यते, अपितु मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगरूपैः पञ्चविधास्रवैर्विरहितो निर्मलस्वभावः शुद्धात्मा शास्त्रश्रवणजन्यशुद्धध्यानावाप्तितयैवानुभूयते इति ।

आत्मनो देहस्थितावपि परमात्मत्वम्

परमात्मा खलु सकल-विकलभेदेन द्विविधस्तत्र सकलपदवाच्या अर्हन्तः, साकाराः, शरीरसहिताः भवन्ति । यश्चौदारिकादिपञ्चविधशरीरविरहितः सर्वोत्कृष्टः, केवलज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्ययुक्तो निराकारः, स विकलः परमात्मा सिद्धः, स एव परमपदे लोकस्योर्ध्वभागे विराजते । यादृशोऽयं सिद्धात्मा परमे पदे विराजते तथैवास्मिन् देहे स्थितोऽपि तत्स्वभावो[११४] विराजते ।

मुक्तावस्थायां यथाजातस्वभाव आत्मैव परमात्मा भवति, तथैव केवल-

ज्ञानादिप्रकटस्वभावस्वरूपकार्यः, उपाधिरहितः, भावद्रव्यकर्मनोकर्मरूपमलैर्विरहितः, केवलज्ञानाद्यनन्तगुणरूपः, परब्रह्म, शुद्धस्वरूप आत्मास्मिन् देहेऽवतिष्ठति । एवमनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयापेक्षया स्वतोऽभिन्ने चेतने देहे यः स्थितः, शुद्धनयापेक्षया तु य स्वात्मस्वभावे एव स्थितः, स शुद्धः परमात्मैवास्ति, नान्यः कश्चिदिति"[५] ।

तदेतन्न तु देहवदशुचि, नापि मूर्तिको वास्त्यपितु पवित्रतमोऽमूर्तिकश्चैव, यतो हि, देहस्तु तावदादियुक्तोऽन्तयुक्तश्च, आत्मात्वनाद्यनन्तः, लोकालोकप्रकाशकस्तथा च देहस्य जडत्वेऽपि एवम्भूते शरीरे यो देहमस्पृशन् सर्वशुचिमयस्तिष्ठति, स एव शुद्धनिश्चयनयेन परमात्मेत्युच्यते ।

मुक्तात्मनां स्वरूपम

एव रागादिविकल्परूपोपाधिना रहितस्य परमात्मरूपस्य भावनयोत्पन्नस्य सदानन्दस्वरूपैकलक्षणस्य सुखामृतरसास्वादतृप्तिरूपस्य निश्चयध्यानस्य परम्पराया कारणभूतेन शुभोपयोगलक्षणव्यवहारध्यानेन ध्येयभूता पञ्चपरमेष्ठिन. सञ्जायन्ते । ते च यथा—

(१) साधव. (Saints) ।

(२) उपाध्याया (Preceptors) ।

(३) आचार्या (Heads of the Order of Saints) ।

(४) सिद्धाः (Perfect or Liberated Souls) ।

(५) अर्हन्तश्चेति (Worshipfull Lords) ।

साधुस्वरूपम् (Saints)

तत्र ये खल्वात्मानः सर्वथा वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानाभ्या परिपूर्णा. मोक्षमार्गस्थिता., रागद्वेषादिव्यापारविप्रमुक्ता., सदाशुद्धचारित्राः, एतल्लक्षणाः साधु"[६]-परमेष्ठिनो भवन्ति । अथ च दर्शन-ज्ञान-चारित्रतपसामुद्योतनरूपञ्चतुर्विधमुद्योगनिर्वहण-साधन-निस्तरणञ्चेति विद्वद्भिराराधनमित्युच्यते । तदिद दर्शनज्ञानादिचतुष्प्रकारकमाराधनमेव बहिरङ्गमोक्षकारण भवति, यतो ह्यनस्येव बलेनात्मनि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तपश्च सञ्जायन्ते । तथा चात्मन्येतेषामेव स्थितत्वात् 'आत्मैव मे शरणम्' इत्याराधनाबलाद्बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गेण ये वीतरागचारित्राविनाभूत स्वशुद्धात्मान भावयन्ति-साधयन्ति, त एव 'साधुपरमेष्ठिन"[७]' इत्युच्यन्ते ।

उपाध्यायाः (Preceptors)

किञ्च-स्वशुद्धात्मन्युत्तमोऽभ्यासः निश्चयस्वाध्यायः। तस्य निश्चय-स्वाध्यायस्वरूपधारकस्य निश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूताना भेदाभेद-रूपरत्नत्रयाणां, जिनकथितपदार्थानाञ्चोपदेशकाः, सर्वविधेच्छाविरहिताः, अतएव निःकाङ्क्षभावसहिता 'उपाध्यायाः'[११८] भवन्ति।

अर्थात्—ये खलु बाह्याभ्यन्तररूपरत्नत्रयाणामनुष्ठानेन युक्ताः, जीवाजीवादिषड्द्रव्येषु, पञ्चास्तिकायेषु, सप्ततत्त्वेषु, नवपदार्थेषु च क्रमशः स्वशुद्धमात्मद्रव्यम्, स्वशुद्धो जीवास्तिकायः, स्वशुद्धमात्मतत्त्वम्, स्वशुद्धः आत्मपदार्थ एवोपादेयः, अन्ये सर्वेऽपि त्याज्याः इति, तथा च उत्तम-क्षमा-मार्दवादिदशधर्माणां पालनार्थं नित्यमेवोपदिशन्ति, ते उपाध्यायाः स्वाध्यायप्रवचनपरायणाः, पञ्चेन्द्रियविषयाणा विजेतृषु स्वशुद्धात्मनि यत्नपरायणेषु यतिवरेषु प्रधानरूपाः[११९] भवन्ति।

आचार्याः (Heads of the Order of Saints)

निरुपाधेः शुद्धात्मनो भावनानुभूत्योर्यः साक्षात्कारस्तद्व्याप्तेर्धारको यः निश्चयनयापेक्ष पञ्चविधाचारस्तदयुक्ताः, पञ्चेन्द्रियदलनाः, गुणगम्भीरा आचार्यपरमेष्ठिनः[१२०]। तत्पञ्चविधमाचरणं तु यथा—

दर्शनाचारः

'निश्चयनयविषयभूतः, शुद्धसमयसारपदवाच्यः, भाव-द्रव्यनोकर्मादिपरपदार्थेभ्यो भिन्नः, परमचैतन्यविलासलक्षणो यः शुद्धात्मा स एवोपादेयः' एतादृशी रुचिरेव सम्यग्दर्शनम्, तस्मिन् यदाचरणपरिणमनं, तदेव 'निश्चयदर्शनाचार' इति।

ज्ञानाचारः

एतस्यैव शुद्धात्मनोपाधिरहितेन स्वसंवेदनरूपेण भेदज्ञानेन मिथ्यात्वरागादिपरभावेभ्यः पृथक्परिज्ञानं, तदेव सम्यग्ज्ञानमिति, तस्मिन् यदाचरणं तदेव 'निश्चयज्ञानाचार' इति।

चारित्राचारः

एतस्मिन्नेव शुद्धात्मनि रागद्वेषादिविकल्परूपोपाधिरहितस्य स्वाभाविक-

सुखस्यास्वादनेन निश्चलचित्तवृत्तिर्वीतरागचारित्रम्, तत्राचरणमेव 'चारित्राचारः' इति ।

तपश्चरणाचारः

समस्तेष्वपि परद्रव्येष्विच्छायाः निरोधेन, अथ चानशनावमौदार्यादिद्वादश-विधतपश्चरणरूपेण बहिरङ्गसहकारिकारणेन स्वस्वरूपे प्रतपनं, विजयनं निश्चयतपश्चरणमित्युच्यते, तत्राचरणं यत्तदेव 'निश्चयतपश्चरणाचारः' इति ।

वीर्याचारः

एतेषां दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपश्चरणाचाराणां रक्षणाय स्वशक्तेरनवगूहनं 'निश्चयवीर्याचारः' इति । एतेषां पञ्चविधानामप्युपदेशकत्वेनैतेषु पञ्च-विधेष्वप्याचारेषु स्व परञ्चानुष्ठानेन सम्बन्धयति यः स 'आचार्यपरमेष्ठि'-पदभाग्भवति[१३] ।

सिद्धाः (Perfect or Liberated Souls)

येषामष्टविधकर्मणा बन्धो विनष्टः, ततश्च तत्सम्बन्धिनोऽष्टमहागुणाः समुत्पन्नास्ते नित्यमेव लोकाग्रस्थितिशीलाः परमात्मानः 'सिद्धाः,'[१४] इत्युच्यन्ते । अर्थात् शुभाशुभकायवाङ्मन क्रियाद्वैतकर्मकाण्डस्य विनाशनक्षमेण, स्वशुद्धा-त्मस्वरूपभावनयोत्पन्नरागादिविकल्परहितेन, परमानन्दैकलक्षणेन, सुमनो-हारिणानन्दनिःस्यन्दिना, क्रियारहिताद्वैतपदवाच्येन, परमज्ञानकाण्डेन विनष्टाः ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मरूपपञ्चदेहाः यस्य स ज्ञानकाण्डभावनाया परिणाम-रूपेण, सकल-निर्मलकेवलज्ञान-दर्शनद्वयेन लोकालोकगताना, गतागताना-गतकालेषु स्थिताना समस्तानामपि पदार्थानां सम्बन्धिनोः सामान्य-विशेष-योरेकसमय एव दर्शक-ज्ञायकत्वात् लोकालोकयोर्द्रष्टा ज्ञाता च भवति ।

स पुन निश्चयनयापेक्षया इन्द्रियागोचरपरमज्ञानोच्छलननिर्भरशुद्धस्वभाव-धारणेनाकाररहितोऽपि व्यवहारेण भूतपूर्वनयापेक्षयान्तिमशरीरात्किञ्चि-न्न्यूनाकारधारक सन् सिक्थगत('मोम' गत)भूषागर्भाकारवच्छायाप्रति-बिम्बवद्वा पुरुषाकारस्तिष्ठति ।

एतल्लक्षणयुक्त स आत्मा 'अञ्जनसिद्ध.' 'पादुकासिद्धः' 'गुटिकासिद्धः' 'खड्ग-सिद्धः' 'मायासिद्ध'श्चेत्यादिलौकिकसिद्धेभ्यो भिन्नलक्षणः, केवलज्ञानाद्यनन्त-

गुणाभिव्यक्तलक्षणः 'सिद्धपरमेष्ठी'त्युच्यते, स च लोकशिखरस्थः काय-वाङ्मनस्त्रिगुप्तिरूपं यद्रूपातीतं ध्यानं तेन ध्येयो भवतीति[33]।

अर्हन्तः (Worshipfull Lords)

यो निश्चयरत्नत्रयात्मकेन शुद्धोपयोगरूपेण ध्यानेन घातिचतुष्टयप्रमुखस्य मोहनीयस्य प्राग्विनाशात्तदनन्तरञ्च[34] ज्ञानावरण-दर्शनावरणान्तरायघाति-त्रिकस्य विनाशकत्वाच्च घातिचतुष्टयप्रणष्टकर्मः, ततश्चानन्त-ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्याप्तानन्तचतुष्टयत्वात् सहजशुद्धाविनाशिज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यः, निश्चयेन शरीरविरहितोऽपि व्यवहारापेक्षया सप्तधातुभी रहितस्य सहस्रसूर्य-समप्रभस्य परमौदारिकशरीरस्य धारणात् शुभदेहो विराजतेऽर्हन्नित्युच्यते।

एवञ्च क्षुधा-तृष्णा-भयद्वेषाद्यष्टादशदोषाभावात् शुद्धः, निरञ्जनः, आप्त आत्मा ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीयान्तरायकर्मणां विनाशात्, इन्द्रादिदेवै-र्विरचितां, गर्भावतारजन्माभिषेकादिपञ्चविधमहाकल्याणरूपां पूजामर्हति, अतएव 'अर्हन्' इत्युच्यते इति।

सन्दर्भोल्लेखाः

१. स्थासू-२।५७ ॥ २. तसू (ससि०)-१।४ ॥ ३. उसू-२९।७१-७३ ॥
४. उसू २८।२-३,५,१५,२६,३०,३५ ॥ ५ दवैसू-४।१४-२५ ॥
६. स्थासू-३।३।१९० ॥ ७. दश्रु-५।१-३,५।११,१६ ॥ ८. तसंप-(पृ० १०४)।
९. उसू-२८।१० ॥ १०. तवा-२। ।१ ॥ ११. तसू-१।२ ॥
१२. वृद्रस (टीका)-४३॥ १३. तसू-१।३ ॥
१४. बन्धो व्याख्यातः, पञ्चमेऽध्याये ॥
१५. यस्य बन्धस्य फलमवश्यमेव भोक्तव्य, तन्निकाचनम् ॥
१६. द्रव्यक्षेत्रादिनिमित्तैः कर्मणां या फलदानशक्तिः स उदयः ॥
१७. फलदानानन्तरमात्मनः कर्मणां च सम्बन्धविच्छेदो निर्जरा ॥
१८. ताधिभा-१।३ ॥ १९. गोसाजी-६५१ ॥
२०. तसा (असू०)-'भेदःसाक्षादसाक्षाच्च' ॥ २१. तवा-१।२।२९ ॥
२२. ताधिभा-१।२ ॥ २३. तवा-१।१।२ ॥ २४. गोसाजी-३०० ॥
२५. गोसाजी-२९९ ॥ २६. तवा-१।९।१ ॥ २७. तवा-१।९।२ ॥
२८. प्ररप्र-१४।२२५ ॥ २९. तवा-१।१४।१ ॥ ३०. गोसाजी-३०६ ॥
३१. गोसाजी-३०८ ॥ ३२. तवा-१।१५।८ ॥ ३३. गोसाजी-३०७ ॥

३४. पञ्चा । ३५. क-गोसाजी-३०७ ॥ ख-तवा-१५।२ ॥
३६. विवभा-१८१-१८२ ॥ ३७. गोसाजी-३०६ ॥
३८. गोसाजी-३०६ ॥ ३६. गोसाजी-३११-३१४॥ ४०. गोसाजी-३१० ॥
४१. तवा-१।१५।१३ ॥ ४२. क-तवा-१।१६।१,६ ॥ ख-गोसाजी-३११ ॥
४३. क-तवा-१।१६।१६ ॥ ख-गोसाजी-३१२ ॥ ४४. गोसाजी-३१४ ॥
४५. ताधिभा-१।१६ ॥ ४६. गोसाजी-३१५ ॥ ४७. तसू-१।२० ॥
४८. तवा-१।२०।१२॥ ४६. तवा-१।२०।१४,१५ ॥ ५०. प्ररप्र-१४।२२५ ॥
५१. तवा-१।१२।१ ॥ ५२. गोसाजी-३७० ॥ ५३. तसू-१।२१ ॥
५४. तवा-१।२२।१,२ ॥ ५५. गोसाजी-३७२ ॥ ५६. गोसाजी-३७२ ॥
५७. गोसाजी-३७१ ॥ ५८. गोसाजी-३७१,३७४ ॥ ५६. तवा-१।२३।१ ॥
६०. गोसाजी-४३८ ॥ ६१. गोसाजी-४३६ ॥ ६२. गोसाजी-४४० ॥
६३. तवा-१।२५।१ ॥ ६४. तवा-१।२५।१॥ ६५. तवा-१।२५।१ ॥
६६. तवा-१।२५।१ ॥ ६७. गोसाजी-४४७-४५६ ॥ ६८. गोसाजी-४६० ॥
६६. गोसाजी-४६० ॥ ७०. ताधिभा-१।२७ ॥ ७१. तवा-१।२६।५ ॥
७२. ताधिभा-१।२८ ॥ ७३. तवा-१।२७।१,४ ॥ ७४. ताधिभा-१।२६ ॥
७५. गोसाजी-४६० ॥ ७६. प्ररप्र-१४।२२६ ॥ ७७. तसू-१।३० ॥
७८. तवा-१।१।३ ॥ ७६. जैद-पृ० २४१ । ८०. ताधिभा-६।१८ ॥
८१. प्ररप्र-१५।२२८ ॥ ८२. गोसाजी-४७० ॥ ८३. गोसाजी-४७१ ॥
८४. गोसाजी-४७२-७३ ॥ ८५. गोसाजी-४७४ ॥ ८६. तवा-६।१८।६,१० ॥
८७. तवा-६।१८।११,१२॥ ८८. गोसाजी-४७५ ॥ ८६ तवा-६।४।३ ॥
६०. तसू-६।१ ॥ ६१. तवा-६।४।२ ॥ ६२. ताधिभा-६।४ ॥
६३. तसू-६।५ ॥ ६४. तवा-६।५।३ ॥ ६५. तवा-६।५।५ ॥
६६. तवा-६।५।६ ॥ ६७. तवा-६।५।७ ॥ ६८. तवा-६।५।८ ॥
६६. ताधिभा-६।१५ ॥ १००. तवा-६।६।१०,११,१३,१५,१७,१६,२५ ॥
१०१. गोसाजी-४६५ ॥ १०२. तवा-६।६।१५ ॥ १०३. तसू-१०।२ ॥
१०४. तवा-१०।२।३ ॥ १०५. तवा-१०।२।४ ॥ १०६. तवा-पृष्ठ-६४१ ॥
१०७. तसू-१०।१ ॥ १०८. षस-का० ४६ ॥ १०६. तसू-२।८ ॥
११०. पप्र-१५ ॥ १११. पप्र-१८ ॥ ११२. पप्र-१६-२१ ॥
११३ पप्र-२३ ॥ ११४. पप्र-२५ ॥ ११५. पप्र-२६ ॥
११६. निसा-७५ ॥ ११७. वृद्रस-५४ । ११८. निसा-७४ ॥
११६ वृद्रस-५३ ॥ १२०. निसा-७३ । १२१. वृद्रस-५२ ॥
१२२ निसा-७२ ॥ १२३ वृद्रस-५१ ॥ १२४. निसा-७१ ॥

समीक्षणमुपसंह्रारश्च

सप्तमोऽध्यायः

जैनेतरदर्शनदृष्ट्याऽऽत्मद्रव्यस्य समालोचनात्मकं विवेचनम्

भारतीयदर्शनानां यत् स्वरूपम् सम्प्रति सस्कृतवाङ्मये दरीदृश्यते, तस्य मूलाधारात्मक आत्मैवास्ति। जगद्दावानलेन दग्धो जीवो दुःखनिवृत्तेरेकमात्रं साधनम् 'आत्मसाक्षात्कार' एवेति यदा विजानाति शृणोति वा ततः प्रभृति स आत्मान्वेषणे प्रवर्तते। अनयैव प्रेरणया यावद्भिर्महर्षिभिराचार्यैर्वा ये ये प्रयत्नास्तदन्वेषणे विहितास्तेषां परिणामरूपेण यादृशः साक्षात्कारस्तैरात्मनोऽधिगतस्तस्य विश्लेषणं स्वस्वसिद्धान्तेषु विहितमिति प्रथमाध्याये एवोक्तम्। तेषा तत्तत्सिद्धानामध्ययनेनेदं परिज्ञायते, यदात्मनो विभिन्नस्वरूपाणामेव पृथक्पृथक् साक्षात्कारो येन महर्षिणा येनोपायेनाधिगतः, तयोरेव तत्तद्दर्शनेषु विश्लेषणात्मकत्वादेकस्यैवात्मद्रव्यस्य जन्मनः समारभ्य मरणं यावद् विभिन्नरूपाणां जन्मान्तराणां, मृत्योरनन्तरं भाविन. सर्वकर्मविप्रमोक्षरूपस्य मोक्षस्य च भिन्न-भिन्नरूपेण विवेचनं विद्यते।

जैनाचार्यास्तु प्रत्येकमपि द्रव्यमनन्तधर्मात्मकमेवामनन्त्यतस्तैस्तैराचार्यैः कृतस्य यस्य कस्याप्यात्मधर्मस्य साक्षात्कारात्मकस्य विश्लेषणस्य च न हेयत्वं स्वीकुर्वन्त्यपितु तेषा सर्वाण्यपि स्वरूपाण्यात्मधर्मत्वेन स्वीकृत्य पृथग् विवेचनात्मकस्य कस्यचिदेकस्य सिद्धान्तस्यात्मनो धर्मैकविवेचकत्वादप्रामाण्यमभिदधति, यतो हि, नात्मनि केवलं स एव धर्मो विद्यतेऽपितु तेऽपि धर्मास्तस्मिन् सततं विद्यन्ते, येषामन्यैरपि आचार्यैरेकान्तेन विश्लेषणं कृतम्। एवं विभिन्नदर्शनेषु विश्लेषितानामात्मसिद्धान्तानां कीदृशं साम्यं, कश्च विशेषः इत्येवात्र विवेच्यते।

चार्वाकदर्शनापेक्षयात्मविवेचनम्

भारतीयदर्शनेषु चार्वाक-जैन-बौद्धानां नास्तिकत्वं सर्वैः स्वीक्रियते, किन्तु याथार्थ्येन कानि दर्शनानि नास्तिकपदयोग्यानि, इति प्रथमेऽध्याये एवास्तिकनास्तिकविवेचने स्पष्टं जातम्। तदनुसृत्य प्रथमं चार्वाकानुसारमत्रात्मनो विश्लेषणं क्रियते।

जीवस्य शुद्ध-बुद्ध-सर्वानन्दस्वरूपात्मकत्वाज्जगति स्थितस्यापि स्ववास्तविक-स्वरूपाधिगमनाय यत्क्रियाशीलत्वं तद्दुःखनिवृत्यर्थमेवोपजायते। आत्म-दर्शनाच्च दुःखनिवृत्तिर्भवतीति सर्वे स्वीकृतमेव। अत एव सर्वैरात्मान्वेषणं तद्दर्शनार्थं साधनान्वेषणञ्च क्रियते। अत्र चार्वाकसम्प्रदायेऽनेके सिद्धान्ता आत्मविषयका विद्यन्ते, तेषु निम्नलिखिताः प्रमुखाः।

भूतचैतन्यवादः

प्राणिना पृथक्पृथग्बुद्ध्यात्मकत्वात्, यथा कस्यचित् मिष्टभक्षणेन, कस्यचिच्चाम्लभक्षणेनापरस्य च तिक्तरसेनानन्दानुभवस्तथैव यस्य येन दुःख-निवृत्तिर्जायते 'तदेवात्मे'ति तस्य स्वीकरण स्वाभाविकम्। अत्र चार्वाकाणामिदम्मतम्—शरीरे यच्चैतन्य तत्खलु भूतानां सस्थानाद्यदृच्छैयैवोत्पद्यते, न केनचिद्विशिष्टेन हेतुनेति। यथा खलु द्वयोश्चतुर्णां वा पदार्थाना सम्मेलनात् प्रत्येक प्रति मादकशक्त्यभावेऽपि, सम्मिश्रणे सति मादकशक्तिरुत्पद्यते तथैव भूतानामपि (पृथिव्यप्तेजोवायूनामपि) सम्मिश्रणे, प्रत्येक प्रति चैतन्यस्याभावेऽपि यदृच्छया चैतन्यमुत्पद्यते। यथा हि—वृष्टौ मण्डूकादय. कीटपतङ्गादयश्च स्वत एव भूतेभ्य· समुत्पद्यन्ते, तथैव मनुष्यादिजीवेष्वपि चैतन्यमनायासमेवोत्पद्यते।

एतन्मतानुसारमात्मैक. स्वतन्त्र, प्रियतम.. चैतन्ययुक्त, कर्मणा कर्त्ता चेत्यादि-गुणविशिष्टः प्रत्यक्षगम्यश्चास्ति, यतश्चाय भूताना सम्मिश्रणादुत्पद्यते।

देहात्मवाद

लोके दृश्यते यदग्निना गृहे दग्धे सति तत्र पुत्र-भार्यादीन्नपि परित्यज्य स्वकमेव तस्मादपसारयन्ति जनाः। अनेन ज्ञायते यत्पुत्रादिभ्योऽप्यधिक देह. प्रिय·, तदेवोक्तम्—'आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रिय भवति' इत्यादि। चैतन्यं, सर्वा. क्रियाश्चापि देह एव सन्ति, अतएव चार्वाकसिद्धान्ते स्वीकृतम् 'चैतन्यविशिष्टः काय पुरुष'। एतदनुसारं शरीरस्य मृते सति न तु चैतन्यं, नापि क्रियास्तत्रावशिष्यन्ते, एतदेवावलोक्यते तैत्तिरीयोपनिषदि—'स वा एष अन्नरसमय पुरुष'[1]। 'स्थूलोऽहम्' 'कृशोऽहम्' 'कृष्णोऽहम्' इत्याद्यनुभवैश्चापि देह एवात्मेति[2] निश्चीयते, अयमेव 'देहात्मवादः' इत्युच्यते।

आत्ममनोवादः

केचन च चार्वाकाचार्या इत्थमभिदधति-यत् शरीरस्य सर्वाण्यपि कार्याणि

मनसः परायत्तानि। मनसोऽनवस्थानात् शरीरं न कार्यकरणक्षमं भवति, मनस्तु स्वतन्त्रं ज्ञानदञ्चास्ति। अतो मनस एवात्मरूपेण स्वीकरणं 'आत्म-मनोवादः' इत्यभिधीयते। उपनिषद्यप्येतदेवोक्तम्—'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः'[१]।

इन्द्रियात्मवादः

शरीरं त्विन्द्रियाधानम्, इन्द्रियाण्येव सर्वकार्यकर्तृणि, यथा च श्रुतावपि प्रतिपादितम्—'ते ह प्राणाः[२] पितरं प्रेत्य ऊचुः' इति। अथ 'चान्धोऽहम्' 'बधिरोऽहम्' इत्याद्यनुभवोऽपि जायते। एषु सर्वत्र 'अहम्' इतिपदमात्मार्थ-मेवाभिदधाति। एवमिन्द्रियाण्येवात्मेति चार्वाकेष्वेकतरसम्प्रदायेन स्वीकृतम्।

किञ्चात्रापि—एकेन्द्रियात्मवादो मिलितेन्द्रियात्मवादश्चेति द्वैविध्यमव-लोक्यते। तत्रैकस्मिन् देहे एकमेवेन्द्रियमात्मेति स्वीकरणमेकेन्द्रियात्मवादोऽथ चेन्द्रियाणां समूह एवात्मेति मिलितेन्द्रियात्मवाद[३] इत्युच्यते।

प्राणात्मवादः

देहे खल्विन्द्रियाणां प्राणाधीनत्वं, प्राणानाञ्च प्राधान्यमस्ति। प्राणवायौ निःसृते सति शरीरमिन्द्रियाण्यपि च म्रियन्ते। प्राणाना स्थितौ तु शरीरमपि जीवति, इन्द्रियाण्यपि च कार्यं कुर्वन्ति। तथा च बुभुक्षा-पिपासादीना प्राण-धर्मत्वादेव 'बुभुक्षितोऽहं' 'पिपासितोऽहम्' इत्यादिव्यवहारो जायते। अतएव कैश्चिदाचार्यैः 'प्राणा एवात्मा' इत्युक्तम्। अयमपि प्राणात्मवाद उपनिषदा समर्थितोऽनेन वाक्येन-'अन्योऽन्तर[४] आत्मा प्राणमयः'।

पुत्र एवात्मा

अन्ये चेत्थमभिदधति—यत् 'पुत्र एवात्मा' इति। यतो हि, पुत्रसुखात् पिता सुखी भवति, दुःखाच्च दुःखी भवति, पुत्रस्य च मृते सति तद्विरहजन्यशोकात् सोऽपि म्रियते, जगति यत्र कुत्रचित् साक्षात्परिलक्ष्यतेऽपि। अतएव 'पुत्र एवात्मा' इत्यस्य पुष्टिः कौषीतक्युपनिषत्कृता विहितानेन वाक्येन—'आत्मा वै जायते पुत्रः'[७]।

अर्थ एवात्मा

केचन चात्र 'लौकिकोऽर्थ एवात्मे'ति स्वीकुर्वन्ति। तेषां कृतेऽर्थ एव प्रियतमः, यतो हि, अर्थस्य विनाशे सति तेऽपि शोकग्रस्ता भूत्वा म्रियन्ते। जीवा अपि

अर्थस्य सद्भावे सुखिनोऽभावे तु दु:खिनः सञ्जायन्ते । यस्य च पार्श्वेऽर्थो विद्यते, स एव स्वतन्त्रः, महान्, सर्वकार्यकरणक्षमः ज्ञानी चेत्युच्यते । अस्मात्कारणात् 'अर्थ एवात्मा'' इति स्वीकृतम् ।

चार्वाकाणामेतेष्वात्मसिद्धान्तेषु सर्वत्रैव भूतानां प्राधान्यादयं सिद्धान्तः 'भौतिकवाद'' इत्येवोच्यते । नैते भूतेभ्योऽपि परं किञ्चिद्विमर्शयितुं क्षमाः । भौतिकवादित्वादेतैराकाश-प्राण-मनसामपि पदार्थत्वं स्वीकृतम् । प्राणास्तावत् जलीयपदार्थाः, मनश्चान्नमयोऽस्मात्कारणात् एतयोरपि भौतिकत्वं छान्दोग्योपनिषदि' सुस्पष्टमभिहितम्—

'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः' ।। 'आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते । तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं, यो मध्यमस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः' ।।

बौद्धदर्शनीयात्मविचाराः

भगवन्तं बुद्धं यदा तत्त्वज्ञानमभूत्तदाऽऽत्मसाक्षात्कारोऽपि सञ्जातः । परन्त्वात्मसाक्षात्कारो जीवस्य परम लक्ष्यमिति जानन्नपि तैरात्मनो विषये न किञ्चिदप्युक्तम् । यतो ह्यत्र तेषामियं धारणासीत्, यत् कर्त्तव्यनिष्ठानामुपासनेन तपसा चान्तःकरणशुद्धिजन्यमात्मज्ञान स्वत एव भविष्यति । अतएव तै कर्मसम्बन्ध्युपदेशं प्रागेव प्रदत्तम् । आत्मनो विषये च 'आत्मा शरीराद्भिन्नोऽभिन्नो वा ? मूर्तोऽमूर्त्तो वा ? मरणानन्तरमप्यय तिष्ठति न वा' ? इत्यादिप्रश्नानामुत्तरे मौनमेव स्वीकृतम् । अतो बौद्धदर्शने आत्मविषयकचर्चाणामभाव एव प्रायशोऽवलोक्यते ।

किञ्चात्र यद्रूप-वेदना-सञ्ज्ञा-संस्कार-विज्ञानपञ्चकस्य सघात(सयोग)रूपत्वेनात्मनः स्वीकृतिरवलोक्यते । तद्विषये रीजडेविड्स''महोदयैरभिहितम्—यन्नैतेषा संयोगाद् ऋते जीवात्मा तिष्ठति, सय गश्च क्रियमाणाद् ऋतेऽसम्भव , क्रियमाणञ्चैकस्मात् भिन्नक्रियमाणाद् ऋतेऽसम्भवम्, विभागं विना चेद भिन्नं क्रियमाणमप्यसम्भवम्, अतोऽयमस्त्येकस्तिरोभावो यः खलु पूर्वं पश्चाद्वा कस्मिंश्चित्काले पूर्तिं गमिष्यत्येवेति' । एवमियमेका शाश्वताऽविच्छिन्ना च प्रक्रियैव, यस्या नाम रूपञ्च किञ्चिदपि स्थायि'' न विद्यते ।

अस्यात्मनो विषये प्रकृतेरनात्मविषये च वच्चगोत्तभिक्षुभिर्यदा बुद्धैः पृष्टं तदा तैर्मौनमेव धृतम् । ततश्चास्य मौनस्य, प्रश्नानामुत्तरस्य च विषये यदाऽऽ-

नन्वेन पृष्टं तदा तैरुत्तरितम् आनन्द ! यद्यहं 'आत्मास्ति' इति कथयामि, तत् श्रमणब्राह्मणसिद्धान्तः पुष्टो भवति, ते चात्मनः स्थैर्ये (नित्यत्वे) विश्वसन्ति । 'यद्यात्मा नास्ती'-त्यहं वच्मि, तदपि तेषां श्रमणब्राह्मणसिद्धान्तानां पुष्टिर्जायते, ये खल्वात्मनः शून्यवादं स्वीकुर्वन्ति ।' संवादस्यास्य विषये ओल्डनवर्ग-[११] महोदयानामयमाशयः—यत् 'आत्मनोऽस्तित्व-नास्तित्वाभ्यां परावर्तनेनेदमेव तेषामुत्तरं यदात्मा नास्तीति' ।

एवमुक्तकथनेन ज्ञायते, यदत्र बौद्धानामयमेवात्मविषयकोऽभिप्रायः—'यदात्मा न तु तत्, यत् स्कन्धरूपम्, नापि तस्मात्स्कन्धरूपात् सर्वथा भिन्नः । अयमात्मा न तु केवलं शरीरमनसोः सम्मिश्रणमात्रम्, नापि कश्चनेदृशो नित्यः पदार्थः, यः खलु परिवर्तनविप्लवात्सर्वथा मुक्तस्तिष्ठतु'[१२] ।

वेदेष्वात्मा

किञ्च यानि खल्वास्तिकदर्शनानि, तानि सर्वाण्येव वेदमूलकानीति स्वीक्रियते सर्वैरैकमत्येनातोऽत्र पूर्वमिदमेवावलोकनीयम् यद्वेदेष्वप्यात्मनः कीदृशः स्वरूपः परिलक्ष्यते ।

जीवः खल्वात्मसाक्षात्कारमेव दुःखनिवृत्तेः प्रमुखं कारणमिति ज्ञात्वात्मा-न्वेषणे प्रवर्तते, इति तु पूर्वमेवाभिहितम् । अनयैव भावनया प्रेरितैर्जीवैः वैदिकप्राथमिक्यामवस्थायां देवोपासनास्तुत्यादिभ्यो दुःखनिवृत्तिं समव-लोक्येन्द्र-वरुणादिदेवा एव 'आत्म'रूपेण स्वीकृताः, इति वेदसंहितानामव-लोकनाज्ज्ञायते ।

किञ्चात्रापि अनेकदेवानां तत्तत्प्रसङ्गे समुपस्थिते प्रत्येकमेव देवं महत्तमम-भिहितम्, परं न सर्वेऽपि ते देवाः महत्तमा भवितुं शक्नुवन्ति, तत्कः खलु सर्वतो महान् ? एवं शङ्क्यमानेषु 'य एव सर्वतो महान्, स एव देवः वास्तविक आत्मा' अनया भावनयाऽऽत्मसाक्षात्कारजिज्ञासायाः प्रगतिर्दृश्यते ।

किञ्चात्रोपनिषदामध्ययनेनात्मनो देवेभ्यः पृथक्त्वस्य सुस्पष्टं दर्शनं भवति, केनोपनिषद्युक्तम्—'यस्यात्मनोऽन्वेषणेऽनुरक्ताः जनाः, स खलु देवेभ्यो'[१३] भिन्नः, यतश्च देवेषु देवत्वशक्तिः ब्रह्मप्रदत्ता, अतएवात्मा देवेभ्यः[१४] पृथक्' इति यक्षदेवसम्वादेन सुस्पष्टं भवति ।

ब्राह्मणारण्यकेष्वात्मा

अथ च ब्राह्मणग्रन्थेषु पूर्वं मित्र-बृहस्पति-वायु-यज्ञादीनामेव ब्रह्मरूपेण,[१५]

पश्चात् ब्रह्मणो देवोत्पत्तिरूपेण ब्रह्मतत्त्वस्य व्यापकं रूपमवलोक्यते। अत्र च 'आत्मा' 'ब्रह्म' चेत्युभावपि पृथक्पृथगेवाभिहिते। ब्रह्मणो देवानामुत्पादकत्वेऽपि तेभ्योऽभिन्नत्वम्, आत्मनश्च देवेभ्यः पृथक्त्वं स्वीकृतम्।

एवं ब्राह्मणारण्यकग्रन्थेषु देवोत्पत्तिहेतुभूतब्रह्मस्वरूपातिरिक्तमेवात्मस्वरूपं जनैः स्वीकृतम् स्वस्वबुद्ध्या। तथाहि—शतपथब्राह्मणे तु शरीरस्य मध्यमभागमेवात्मत्वेनाभिहितम्[17]। पुनश्च त्वक्-शोणित-मांसाऽस्थिभ्य आत्मशब्दस्य[18] प्रयोगो विहितः। पश्चाच्च मनःबुद्ध्यहङ्कारचित्तेभ्योऽपि एष शब्दः[19] प्रयुक्तः। तथा च जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीयावस्थाभ्योऽप्यात्मशब्दप्रयोगो[20] दृश्यते। ततश्चाकाशादभिन्न स्वीकृत्यात्मन पृथक्सत्ता[21] दृष्टिगोचरीभवति।

आरण्यकग्रन्थेषूक्तात्मस्वरूपातिरिक्तं प्राणैरभिन्नमात्मस्वरूप[22] 'विज्ञानमयः' 'आनन्दमय'श्चेति स्वीकृतम्, अन्ते चैतस्यैव स्वरूपस्य परिचयः प्रदत्तः[23]। ऐतरेयब्राह्मणेऽस्यात्मनः स्वरूपं 'द्यावापृथिव्योर्मध्यवर्त्तिन आकाशादभिन्नमुक्तम्'[24], यदा हि, ऐतरेयारण्यके आत्मन एव लोकसृष्टिरभिहिता, तथा चैतस्य निरुपाधि-सोपाधिस्वरूपाणा वर्णनं प्रस्तूय चित्स्वरूपेण पुरुषेण ब्रह्मणा[25] वैक्यं स्वीकृतम्। अन्यत्रापि च सुस्पष्टमभिहितम्, यत् शुद्धचैतन्यव्यतिरिक्तो न कश्चनाप्यन्यः पदार्थो जगति विद्यते, देवाः, जङ्गमाः स्थावरा वा जीवाः, यत्किञ्चिद्वा जगति विद्यन्ते, तत्सर्वमप्यात्मैव, एतस्मादेव सर्वेषां सृष्टिः स्थितेर्लयश्चात्रैव[26]। एवमात्मनो स्थूलतमात्परिच्छिन्नस्वरूपात्समारभ्य सर्वव्यापकसूक्ष्मतमस्वरूपस्य वर्णनमारण्यकेषु प्राप्यते।

उपनिषत्स्वात्मा

उपनिषदां प्रमुख प्रतिपाद्यमात्मैवास्ति। सहिताः समारभ्यारण्यकं यावत् यद्ब्रह्मात्मनः पृथक् प्रतिपादितम् विद्यते, तदेवात्र तदभिन्नं[27] स्वीकृतम्। तथा चानयोरैक्यं स्वीकृत्य नात्मातिरिक्तः कश्चनापि सत्पदार्थ—जगति स्वीकृतः। अर्थात् दृष्टृदृश्ययोश्चाभेदत्वादात्मनः सर्वव्यापित्वम् सम्पन्नम्, अतएव बृहदारण्यकोपनिषद्युक्तम्[28]—

'स वा अयमात्मा ब्रह्मविज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमयः आपोमयः— धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयः' इत्यादि।

अयमेवात्मा ब्रह्मेति वा प्राणापान-व्यानोदानवायुरूपेणास्मत्-शरीरं रक्षति, अयमेवात्मा बुभुक्षा-पिपासा-शोक-मोह-जरामरणेभ्योऽस्मानुद्धारयति। अस्यैव ज्ञानात् सुतार्थस्वर्गादिप्राप्त्यभिलाषतो विरक्तो भूत्वा जीवः संन्यस्तो[29]

भवति । अथ चायमेवात्माखण्डत्वात् पूर्णत्वाच्च सदसतो, दीर्घलघ्वोः, दूरान्तिकयोश्चेत्यादिपरस्परविरुद्धधर्मणामाधारः, अतएव विभिन्नैर्दार्शनिकैर्विविधापेक्षयाऽनेकविधमस्य विवेचन कृतम् ।

अस्य ब्रह्मणो ज्ञानं प्रथमं क्षत्रियेष्वेवासीत्, तत एव विप्रैरधिगतमिति बृहदारण्यकोपनिषदि प्रतीयते । अतएवाग्रेऽभिहितम्—'यद्य कोऽपि स्वीयेन तपसा ब्रह्माधिगन्तु पार्यते । यतो हि, न त्वयमात्मा वेदाध्ययनेन, नापि च बुद्ध्या श्रुतेन वा प्राप्यतेऽपितु यमात्मानमात्मा वृणुते, तेनैवात्मना स्वमात्मानमधिगच्छति'[१०] । एतदेव कठोपनिषद्यभिहितम्—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्'[११] ॥

जीवात्मनः स्वरूपम्

मर्त्यामर्त्यं, स्थिरमस्थिरं वा स्वरूपं ब्रह्म परमात्मा वा अविद्यया संश्लिष्टः सन् जीवात्मेत्युच्यते[१२] । पूर्वजन्मनः कर्मानुसारञ्च सुखदुःखोपभोगात् जगति जन्ममरणयुक्तो भूत्वाऽऽगमनात्पूर्वमेव स्वीय भोग्यं सर्वाङ्गपूर्णं स्थूलं शरीरं गृह्णाति । ततश्चेह-परलोकयोर्भ्रमणं विधास्यन् स्वप्नेष्वपि द्वयोरपि लोकयोरेककालमेव ज्ञानमाप्नोत्ययम्, तथा च तस्मात् सुखदुःखमप्यनुभवति ।

जन्मान्तरव्यवस्था

यथा खलु स्थूलशरीरशक्तेर्ह्रासे सति, जाग्रदवस्थातः स्वप्नावस्थायां जीवः प्रविशति, तथैव स्वीयं जर्जरितं स्थूलं शरीरं परित्यज्याविद्यायाः प्रभावादन्यं नूतन शरीरं गृह्णाति । अयमेव शरीरपरित्यागः 'मरणमि'त्युच्यते । अस्यामवस्थायां जीवो दुर्बलोऽसंज्ञिहृदयेऽवस्थितश्च भवति । तत्र प्रथमं रूपज्ञानयोर्विनष्टे सति, अन्यैरिन्द्रियैः सहान्तःकरणमपि तस्य शिथिलं भवति । तदा च हृदयोर्ध्वभागे समुत्थितेन प्रकाशेन सहैव तस्य जीवनशक्तिरपि स्वकर्मानुसारं शरीरछिद्रेभ्यः शरीराद्बहिर्निःसरति । तदापि तस्मिन् 'वासना' स्पष्टं परिलक्ष्यते, यस्याः प्रभावाज्जीवस्य जन्मान्तरस्वरूपस्य[१३] निर्णयो भवति ।

परमपदप्राप्तिः

अत्रानेन यत्कृतमासीत्तदनुसारमेवान्यज्जन्मोपलभ्यतेऽतएवैनमन्यज्जन्म सम्यग् निर्मातुं शुभकर्माणि, ज्ञानाप्तये योगाभ्यासः, सद्ग्रन्थानामध्ययनञ्च विधेयम् । यस्मात् शुभकरणात्[१४] शुभदेह-स्वरूप-देशमवाप्नोति ।

यदि जीवन्नपि कश्चन तपसा पुण्योदयात् वा तत्त्वज्ञानमधिगच्छति, तत्तज्ज्ञानप्रभावाद्वासनायाः, कृतानां कर्मणाञ्च विनाशः, सञ्चितकर्मशक्तेर्ह्रासश्च यद्भवति, तदेव 'जीवन्मुक्तिरि'त्युच्यते। अत्र प्रारब्धयोगाज्जीवस्य स्थूलं शरीरमेव तिष्ठति, पश्चाच्च प्रारब्धस्य विनाशाच्छरीरमपि पतितं स्यादथ च जीवात्मा स्वसाक्षात्कारमनुभवति, ततश्च परमं पदमवाप्नोतीत्येवास्ति औपनिषत्कस्यात्मनः स्वरूपम्।

न्यायदर्शनापेक्षयात्मविवेचनम्

अत्र ज्ञानस्य यदधिकरणरूपं तदेवात्मा, स च द्रष्टा, भोक्ता, सर्वज्ञः, नित्यो, व्यापकश्चास्ति[१५]। न्यायदर्शनानुसारं बाह्येन्द्रियैर्मनसा च नात्मनः प्रत्यक्षं भवति। अतएवेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञानरूपैर्लिङ्गैरात्मनः पृथगस्तित्वमनुमीयते। अत्रात्मना जीवात्मैव गृह्यतेऽयमेव 'बद्ध आत्मे'ति चोच्यते।

सुखदुःखयोर्वैचित्र्यात् प्रत्येकमपि शरीरे जोवात्मा भिन्नः, स एव तस्य शरीरस्य सुखदुःखयोर्भोक्ता भवति। मुक्तावस्थायामपि जीवात्मा स्वातन्त्र्येण भिन्न एव तिष्ठति। अतएव नैयायिकैः मुक्तावस्थायामपि जीवात्मनामनेकत्वं स्वीकृतम्[१६]।

एतेषाम्मतानु [illegible] रं जीवात्मनो ज्ञानाधिकरणत्वेऽपि स्वभावतो ज्ञानशून्यत्वाज्जडत्वं तिष्ठति। स्वभावतश्चैतन्याभावान्मनसा संयोगादेव ज्ञानस्योत्पद्यमानत्वात् ज्ञानमात्मनि आगन्तुको धर्मः। एतदेव परिलक्ष्य श्रीहर्षैरप्येतेषां परिहासो विहितः—

'मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्'[१७]।

आत्मनो गुणाः

न्यायदर्शनानुसारं ज्ञान-सुख-दुःखादयो जीवात्मनो गुणास्तदनुसारमात्मनः[१८] काय-वाङ्-मनसां शुभाशुभपरिणामजन्याः शुभाशुभसंस्कारा आत्मन्यधिष्ठानान्मरणान्तेऽपि तेन सहैव शरीरात् शरीरान्तरमनुप्रविशन्ति, एषां प्रभावादेवात्मा भोगशीलो भवति।

किञ्चात्रात्मनो विभुत्वात्-सर्वव्यापित्वात् यत्र कुत्रापि गमनमशक्यमतः कथमयमात्मा शरीरात् शरीरान्तरं प्रविशतीति? नोचितम्, यतश्चात्मा विभुर्व्यापको वास्ति, अतएव जीवात्मनः सर्वेऽपि संस्काराः सर्वत्र सर्वदा तिष्ठन्ति। यद्यपि नैयायिकैर्मनसि न संस्काराः स्वीकृताः, परं स्थूलशरीरे

मनःसंयोगात् जीवात्मनः संस्काराः यदोद्बुध्यन्ते, तदैवात्मा भोगशीलो भवति । यद्यप्येकं शरीरं परित्यज्यान्यस्मिन् शरीरे मन एव प्रविशति, तथापि स्थूलबुद्धिभ्यो 'जीवात्मना सह संस्कारा अपि गच्छन्ति' इत्युच्यते । अत्रेदं कथनं जीवात्मनः मनसा संबद्धत्वादेवेति ज्ञेयम् ।

मोक्षः

जीवात्मन एकविंशतिविधानां दुःखानां दुःखनिमित्तानाञ्च विनाशे सत्यात्मा 'मुक्तो' भवति । एवमेकविंशतिविधानां दुःखानामात्यन्तिकी निवृत्तिरेव 'मोक्ष' इति । अपवर्गोऽप्यस्य नामान्तरम् । तानि चैकविंशतिविधानि दुःखानीमानि-शरीरम्, मनसा सह षडिन्द्रियाणि, तेषां रूप-रसादयश्च षड्विषयाः, तद्विषयाणाञ्च षड्विधानि ज्ञानानि, सुखं, दुःखञ्चेति । एभ्य एव दुःखमुत्पद्यतेऽत एतेषामेवात्यन्तिकीं निवृत्तिं मोक्षत्वेनाभिदधति नैयायिकाः ।

मोक्षावाप्तिप्रक्रिया

शास्त्राणां समालोचनजन्यज्ञानेन पदार्थाना परिज्ञानात् तेषु तेषु पदार्थेषु विविधान् दोषान् परिलक्ष्य जगतो विरक्तिं सम्भाव्य जीवो मुमुक्षुर्भवति । तदा च गुरोरुपदेशादष्टाङ्गयोगाभ्यासानन्तरं ध्यानेन समाधिना च पूर्णं परिपाकं सम्प्राप्यात्मसाक्षात्कारमधिगच्छति । येनाविद्यास्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशानां पञ्चानामपि क्लेशानां विनाशः[१] सञ्जायते । ततश्च निष्कर्मत्वात् कर्मजन्यसंस्काराणामुत्पत्त्यभावाच्च कर्मसञ्चयस्याप्यभावो भवति ।

अथ च पूर्वजन्मोपार्जितसंस्काराणां कर्मसञ्चयानाञ्च योगाभ्यासात् सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ सत्यां, तत्तत्कर्मभोग्यानि भिन्नानि शरीराणि कायव्यूहेनोत्पाद्य, तीव्रकर्मभोग्यसामर्थ्येन सर्वान्नपि भोगान्नुपभुज्य, पूर्वजन्मोपार्जितकर्मणां विनाशे, भविष्यतां शरीराणामभावे च सति यदोपगृहीतं शरीरं म्रियते तदैवैकविंशतिविधदुःखानामात्यन्तिकी निवृत्तिर्भवति, तदैवायं जीवात्मा मोक्षमधिगम्य मुक्तो भवति[२] । अयमेवाभिप्रायो गौतमेनापि[३] सुस्पष्टमभिहितः—'मिथ्याज्ञानस्य विनष्टे सति, रागद्वेषादीनामपि नाशस्ततश्च प्रवृत्तेरभावस्तदनन्तरञ्च पुनर्जन्माभावोऽन्ते च दुःखानामभावात् 'मुक्तिः' भवतीति ।

मीमांसादर्शनापेक्षयात्म-विवेचनम्

नैयायिकानामिवात्रापि शरीरेन्द्रियादिभ्यो भिन्ना जीवात्मनः सत्ता स्वीकृता, अत्रायमात्माप्येकं द्रव्यम् । वेदेष्वभिहितम् 'यज्ञानन्तरं यजमानः स्वर्गलोकं

याति, यजमानस्य शरीरं तु मरणे सत्यत्रैव दग्धो भवति, अतो न शरीरं स्वर्गं गच्छत्यपितु यः गच्छति स एवात्मेति'। एवमेव 'सोऽयं जीवनमरणयोर्बन्धनान्मुच्यते' एतेनापि कथनेन स्पष्टं परिज्ञायते यन्मुच्यमानः खल्वेकः शरीरेन्द्रियादिभ्यो भिन्नोऽविनाशी, लोकाल्लोकान्तरं गच्छन्[२] जीवात्मैवेति। यद्यप्यात्मनि ज्ञानस्योदयोऽस्ति, परं स्वप्नावस्थाया तु विषयाभावे ज्ञानस्याप्यभावो जायते। एवमय जडस्वरूपो बोधस्वरूपश्चाप्यस्ति।

वस्तुनस्त्वयमात्मा नित्यत्वान्न कदापि विनश्यतेऽतश्चायमेव कर्त्ता भोक्ता च भवत्यथ 'चाहं'प्रत्यक्षगम्यत्वात्, विभुत्वाच्च सर्वत्र विद्यतेऽतो देशकालपरिच्छिन्नोऽयं शुद्धज्ञानस्वरूप',[३] सर्वेषां पदार्थानां[४] ज्ञायकस्तथा च शरीरमेकं परित्यज्यान्यस्मिन् शरीरे प्रविशति पृथक्पृथगनुभवनाच्चैकस्मिन् शरीरे स्थित आत्मान्यस्मिन् शरीरे विद्यमानादात्मनो भिन्नोऽतएवात्मनामनेकत्वमत्र स्पष्टं परिज्ञायते। अस्यानेकत्वस्यैव स्वीकारे बद्धात्मनो मुक्तात्मनश्च व्यवस्था व्यवस्थिता, अन्यथैकस्य मुक्ते सति सर्वैरपि[५] मुक्तत्वमधिगन्तव्यम्। अथ चैतन्य स्वानुभवगम्यत्वादेव मानसप्रत्यक्षगम्यत्वमपि[६] स्वीकृतम्।

मुक्तेः स्वरूपम्

भोगायतनभूतमिदं शरीरम, भोगसाधनानि चेन्द्रियाणि, भोग्याश्च शब्दस्पर्शरूपादय इन्द्रियविषया', एते एव प्रपञ्चपदभाज., एतैरेव जीव सुखदुःखान् साक्षादनुभवन्ननादिकालाद् बद्धस्तिष्ठति, अतश्चैतेषामेव त्रयाणामात्यन्तिको विनाश 'मोक्ष', इति भाट्टमते स्वीकृतम्।

प्रागुत्पन्नाना शरीरेन्द्रियविषयाणा विनाश, भविष्यतां च शरीरेन्द्रियविषयाणामभवनमात्यन्तिको विनाश इत्युच्यते। ततश्च सुखदु.खविरहितो 'मुक्तो' जीवः स्वस्थो जायतेऽर्थात् ज्ञान-सुख-दु खेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्माधर्मसंस्कारादिभिर्विरहितस्य स्वरूपस्थितस्य जीवस्य ज्ञानशक्ति., सत्ता, द्रव्यत्वञ्च सम्पद्यते।

मुक्तिप्रक्रिया

पूर्वजन्मोपार्जिताना धर्माधर्मादीना तत्तत्फलोपभोगाद्विनाशो[७] जायते। एषां च विनाशे सति सुखदु खयोरपि नाश. स्यात्, एवं पूर्वजन्मकृतैर्बन्धैर्जीवो मुच्यते। तथा च काम्यकर्मणां परित्यागात् भविष्यतां धर्माधर्मादीना तत्तत्फलानाञ्चानुत्पादत्वादभावः स्यात्। एवञ्च वेदविहितकर्मणा कृतेऽपि निषिद्धकर्मणां

परित्यागान्नूत्नशरीरादीनां त्वनुत्पादोऽतः पूर्वशरीरविनाशानन्तरं जीवो मुक्तत्वात् स्वरूपस्थितो भवति। मोक्षावस्थायाञ्च जीवस्य, सुखम्, आनन्दम्, ज्ञानञ्चापि तिष्ठति। तदेवोक्तम्—

'तस्मात् निःसम्बन्धो निरानन्दश्च मोक्षः'[४८]

एवं भट्टमीमांसकमतानुसारं प्रपञ्च-सम्बन्धविलय एव मोक्ष इति।

मुक्तजीवस्वरूपम्

मुक्तावस्थाया शरीरस्य, मन.सम्बन्धस्यापि चाभावो भवति, तत्कथं तत्र मुक्तस्य जीवस्य स्वज्ञान भवति? यतश्च मन शरीरादिसाधनाभावे आत्मापि स्वकं ज्ञातुमक्षमो भवति, अत एव मोक्षे सति तत्र नात्मज्ञानं जीवस्योपयुज्यते, परं तस्मिन् ज्ञानशक्तेः कदापि लोपाभावात् ज्ञानशक्तिस्तु तिष्ठत्येव। इदमेवात्मनो वास्तविक स्वरूपं, येन युक्त.[४९] स मोक्षे तिष्ठति। **प्रभाकरमते** तु-धर्माधर्मयोर्निरवशिष्टे विनाशे सति देहस्यात्यन्तिको विनाश एव मोक्ष। वस्तुतस्तु धर्माधर्मयोर्वशीभूत्वा जीवो नानायोनिषु परिभ्रमति। *अतो धर्माधर्मयोर्विनाशे सति एताभ्यामुत्पन्नानां देहेन्द्रियादीना सम्बन्धेन* सर्वथा विरहित सन् दु खबन्धेभ्यो मुच्यते।

मुक्त्यवाप्तये जीव खलु सासारिकेभ्यो दुःखेभ्य उद्विग्नो जायते। जगति विशुद्धस्य सुखस्याभावे दु खमुक्तोऽपि सुखेन पराङ्मुखो भवति, ततश्च मोक्षाय यतते, पश्चाच्च बन्धकारणाना, निषिद्धाना पापहेतूनां कर्मणा परित्यागात्, पूर्वजन्मोपार्जितकर्मफलानामुपभोगजन्यविनाशादथ च योगशास्त्रेषु प्रतिपादिताना शम-दम-ब्रह्मचर्यादियोगाङ्गानां पालनजन्यात्मज्ञानात्, धर्माधर्मादिसस्कारणाञ्च विनाशात् जीवोऽस्मात् संसारात् मुच्यते, पुनश्च नात्र समागच्छति।[५०] मुक्तस्थितौ च जीवस्य सत्तामात्रमेव तिष्ठति। आत्मा खलु सत्वात् अकारणत्वाच्चाविनाशी, सर्वत्रस्थितत्वाद्विभुश्चाप्यस्ति।[५१]

एवमत्र ज्ञायते यत् भट्ट-प्रभाकरयोरयमेव विशेष यत्-भट्टैस्तावत् केवलं कर्मफलानामुपभोगादेव धर्माधर्मयोर्विनाशः स्वीकृत., यदा हि प्रभाकर-महोदयैरेतेनोपभोगेन सहैव शम-दम-ब्रह्मचर्यादियोगाङ्गाना परिपालनाधिगतमात्मज्ञानमपि धर्माधर्मयोर्विनाशे आवश्यकमिति[५२] स्वीकृतम्।

भट्टमते प्रपञ्चसम्बन्धस्य विलय एव मोक्षः किन्तु प्रभाकरमते धर्माधर्मयोनिरवशिष्टविनाशोत्पन्नदेहस्यात्यन्तिक उच्छेदो मोक्षः।

एवं द्वयोरपि सिद्धान्तयोः परस्परं वैभिन्न्यं परिलक्ष्यते, परं नायं विभेदो वास्तविकस्तथाहि-भट्टमते-'त्रिविधस्यापि बन्धस्यात्यन्तिको विलयो[53] मोक्ष' इति, प्रभाकरमते च 'आत्यन्तिको देहोच्छेदो[54] मोक्ष' इति स्वीकृतम्। अत एकत्र शरीरसम्बन्धस्य विलयः, अन्यत्र च शरीरस्यैवोच्छेदो मोक्षहेतुरभिहितः। अतोऽत्र शरीरस्योच्छेदे सति तत्सम्बन्धस्योच्छेदस्य स्वाभाविकत्वान्न कश्चन विशेषोऽवशिष्यते इति।

सांख्यदर्शनापेक्षयात्मविवेचनम्

सांख्यदर्शने त्रीण्येव तत्त्वानि सन्ति, व्यक्तमव्यक्तं, ज्ञश्चेति। अत्र व्यक्ताव्यक्ते जड़स्वरूपे स्तः, केवलं ज्ञ एव चैतन्यस्वरूपः पुरुषापराभिधानोऽस्ति। परोक्षात्मकत्वादयं न तु बुद्धया नापि प्रत्यक्षेण दृश्यते। एवञ्च त्रिगुणातीतो निर्लिप्तश्चायमतएवास्यास्तित्वसाधने लिङ्गाभावादनुमानमप्यक्षमम्, अतः केवल शब्देनागमेन वैवास्यास्तित्व साधयितु शक्यते। शास्त्रेषु च ज्ञस्यास्तित्वविषयका अनेके प्रमाणाः सन्ति। एवमस्य ज्ञस्य सिद्धिराप्तवचनादागमाद्वा सञ्जायते।

साख्यीयोऽय पुरुषोऽहेतुमान्, नित्यः, सर्वव्यापित्वात् त्रिगुणातीतत्वाच्च निष्क्रियश्चाप्यस्ति। किञ्चास्यानेकत्वैकत्वविषये सन्ति विदुषामनेके सिद्धान्ता., किन्तु वस्तुत ईश्वरकृष्णस्य ज्ञस्यैकत्वविषयके 'तथा च पुमान्' इत्यभिप्राये प्रकृत्या साधर्म्यं स्पष्ट प्रतिभाति।[55] एतद्भाष्येऽपि गौडपादै. 'पुमानप्येक' इतिपदेन ज्ञस्यैकत्व स्वीकृतम्, यच्चान्यैः टीकाकारैरस्य बहुत्व स्वीकृत तत्खलु 'पुरुषबहुत्वं[56] सिद्धमि'तिपददर्शनहेतुकमेवास्ति। परमत्र पूर्वविशेषणानां जन्ममरणकरणादीनां प्रयोगात् ज्ञायते यदिद विश्लेषण न शुद्धस्वरूपस्यास्त्यपितु सांसारिकस्य बद्धपुरुषस्यैव, यस्य सूक्ष्मेक्षया ज्ञानमवश्यमेव जायते।

बद्धपुरुषस्यानेकत्वम्

साख्यदर्शनापेक्षया यद्यपि शुद्धस्वरूप पुरुषस्त्वेक एवास्ति, परं बद्धाः पुरुषा. (सासारिकाः) बहुत्वेन तिष्ठन्त्यत्र। यतो ह्येषु बद्धपुरुषेषु जन्ममरणयोरिन्द्रियाणाञ्च नियतानि विभिन्नानि स्वरूपाणि, तेषा पृथक्पृथक्प्रवृत्तिरथ च सत्त्वरजस्तमसां वैषम्यं निर्विवादत्वेनेदं साधयन्ति, यद्बद्धपुरुषाणा[57] बहुत्वमस्त्येव, यदि बद्धपुरुषाणामप्येकत्वं स्वीकरणीयं स्यात्तर्हि एकस्यैव

पुरुषस्य जन्मना सर्वेषामेव जन्मभिर्भाव्यम् ? एकस्य च म्रियमाणे सर्वैरपि मरणीयम् ? एकस्य चान्धे बधिरे वा जाते सर्वैरेवान्धत्वेन बधिरत्वेन वा योज्यम् ? एकस्य च कार्ये संलग्ने सति सर्वैरपि कार्य-संलग्नैर्भाव्यम् ? न चेत्थं दरीदृश्यतेऽतो ज्ञायते—यदिदं 'बहुत्वमि'ति विशेषणं न शुद्धस्वरूपस्य ज्ञस्य कथमपि भवितुमर्हति, अपितु बद्धपुरुषस्यैवास्ति, येन जगति स्थितस्यास्य बहुत्वमुपयुज्यते ।

ज्ञस्य बहुत्वे विप्रतिपत्तयः

किञ्चात्र बहुत्वमिति कैश्चित् ज्ञस्यैव (शुद्धस्वरूपस्यैव) हठात् विशेषणं स्वीक्रियते तत्तैरत्रेदमवश्यं विचारणीयम्, यत्-ज्ञस्तु तावत् शुद्धस्वरूपः सन् न कदाप्युत्पद्यते, जन्म वा गृह्णाति, नापि म्रियते, नैव चान्ध-बधिरत्वमुपगच्छति, नापि च कस्मिश्चिदपि कार्ये संलग्नो भवति, नापि तस्मिन् सत्वरजस्तमसादयो गुणाः विद्यन्ते, तत्कथमेषामभावेऽपि केवलं 'बहुत्व'मेव तत्र संघटते ? अतोऽत्रायमेवार्थो ग्राह्यः, यद्बद्धः पुरुष एव जन्ममरणाद्यपेक्षया, त्रैगुण्यविपर्ययापेक्षया च बहुत्वमधिगच्छति ।

अथ च सांख्यदर्शनेऽयं ज्ञः-पुरुषः, अनाद्यविद्यायाः संसर्गादनादिकालाद्बद्धोऽतएव शरीरस्थितो भवति, एतस्यैव (संसारस्थितस्यैव) अत्र 'पुरुषः' इति सञ्ज्ञा, 'बहुत्वमस्यैव विशेषणत्वेन प्रयुक्तः' अस्यैव च प्रत्यक्षगम्यत्वादनुमानेन ग्रहणे संघातपरार्थत्वादयः पञ्चहेतवोऽभिहिताः, न तु प्रत्यक्षागम्यस्य शुद्धस्वरूपस्य ज्ञस्य ग्रहणेऽतएवात्र बद्धपुरुषैस्व बहुत्वमीश्वरकृष्णस्याभिप्रायभूत विद्यते ।

ज्ञस्य त्रैविध्यम्

श्रीमद्भगवद्गीतावदत्रापि पुरुषस्य त्रैविध्यं विद्यते, तद्यथा—

१. निर्लिप्तः—ज्ञः, २. बद्धः पुरुषः (जीवात्मा) ३. मुक्तश्चेति । एतदेव तत्त्वकौमुद्याः मङ्गलाचरणे वाचस्पतिमिश्रैरभिहितम्—

'अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते, जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्'

अत्र मिश्रमहोदयैर्द्वयोरपि बहुवचनप्रयोगात् बहुत्वमुक्तम् । जगति बद्धा जीवात्मानोऽनादिकालादेव विद्यन्ते, यदि सर्वेऽपि पुरुषाः बद्धा एव स्युस्तदा 'निर्लिप्तः, त्रिगुणातीतः' इत्यादिविशेषणवाचकाः शब्दाः किमर्थम् ? मुक्ता-

वस्थायामपि पुरुषो न सत्त्वगुणात्सर्वथा मुक्तो भवति, अतएव मुक्तेष्वपि परस्पर वैभिन्न्यं विद्यते। अस्मात्कारणादेव बद्धैर्मुक्तैश्च पृथक् कश्चिदन्यः निर्लिप्तः, त्रिगुणातीतस्वभावो ज्ञः—शुद्धस्वरूपः, पुरुषोऽवश्यमेव स्वीकरणीयः स्यात्। इत्थमत्र साख्यदर्शने एकः खलु ज्ञः पुरुष', बद्धा मुक्ताश्च बहवः पुरुषा.। एतेषां सर्वेषामपि स्वतन्त्रमस्तित्वं विद्यते, येन साख्यदर्शने पुरुषस्य त्रैविध्य बद्ध-मुक्त-शुद्धस्वरूपेण सिध्यति।

अत्र यः खलु शुद्धो ज्ञः पुरुष., तस्मिन् आश्रितत्वाऽलिङ्गत्व-निरवयवत्व-स्वतन्त्रत्व-अत्रिगुणत्व-विवेकित्व-अविषयत्व-असामान्यत्व - चेतनत्व - अप्रसव-धर्मित्व-साक्षित्व-कैवल्य-माध्यस्थ-औदासीनद्रष्टृत्व-अकर्तृत्वप्रभृतयः सर्वेऽपि धर्माः निर्लिप्तत्वादेव भवन्ति।

पुरुषस्य बन्धः

साख्यीय-पुरुष स्वभावात् निर्लिप्त., निस्सङ्ग, त्रिगुणातीत., नित्यश्चास्ति, अथ चाविद्यापि नित्यास्ति, अनयोर्विद्या-पुरुषयो. सयोगोऽप्यनादि-रस्ति। प्रकृतिस्तु (अविद्या) जड़स्वभावापि नित्याऽनादिकालात् स्थिता च। अस्या यदा पुरुषस्य प्रतिबिम्ब बिम्बते, तदेय चेतनवत् स्वमनुभवति। व्युत्क्रमेण च प्रकृतेराभासः पुरुषेऽपि प्रतिभासते, येन स निष्क्रिय, निर्लिप्तः, निस्त्रैगुण्योऽपि सन् कर्त्ता, भोक्ता, आसक्तश्च प्रतिभाति। प्रकृते पुरुषस्य चेदमेवारोपित स्वरूप बन्धत्वेन स्वीकुर्वन्ति साख्या.।

पुरुषस्य बन्ध-विच्छेदः

अस्य पूर्वोक्तस्य बन्धस्याभाव.—प्रकृतिपुरुषयोर्द्वयोरपि स्व-स्वरूपस्य ज्ञानमेव साख्यदर्शने विवेकबुद्धिपदेनोच्यते। इयमेव पुरुषस्य मुक्तिः। तद्यथा-ज्ञानेनाविद्याया. विनाशे सति प्रकृति. पुरुषश्च स्व स्व रूपमभिजानत,[५८] इद ज्ञानमेव विवेकबुद्धिमुत्पादयति। विवेकबुद्धौ प्राप्तायां सत्या पुरुष स्वस्य निर्लिप्त निस्सङ्गञ्च स्वरूपमनुभवितु शक्तो भवति। ततश्च ज्ञानातिरिक्ताना धर्माधर्मादिसप्तभावाना प्रभावो यदा विनश्यति, न तदा सृष्टे. किञ्चित् प्रयोजनमवशिष्यते। प्रकृतिस्तूद्देश्यास्यास्य पूर्णे सति विरता भवति, पुरुषश्च कैवल्यमधिगच्छति। परमत्र प्रारब्धकर्मणा पूर्वजन्मोपार्जितसस्काराणाञ्च स्थितित्वात् न तस्मिन्नेव काले शरीर विनश्यति, अतस्तेषा कर्मणा समुपभोगानन्तरमेव सस्काराणां विनाशात् शरीरमपि विनष्टं भवति, तदा च पुरुषस्य

'विदेहकैवल्या'वाप्तिर्भवति । विवेकबुद्धेः सत्त्वेऽपि जीवस्य शरीरं तावच्च-लत्येव, यावन्न प्रारब्धकर्मणा समुपभोगात् क्षयो भवति, पश्चाच्च निरपेक्षः, द्रष्टा, साक्षी च भूत्वा प्रकृतिं पश्यन्नपि न पुनस्तद्बन्धने[९] पततीति ।

अद्वैत (शाङ्करवेदान्त) दर्शनापेक्षयात्मतत्वविचारः

अत्र पारमार्थिकदृष्ट्यैकमात्रं तत्त्वं ब्रह्म (आत्मा) एव विद्यते, तच्चानन्द-स्वरूपम् ।[१०] एतद्व्यतिरिक्तमन्यत्सर्वमवस्त्वज्ञान माया वेत्युच्यते । अत्रात-त्त्वस्य (मायाया.) ज्ञानमेतदर्थमावश्यक भवति । येन वस्तु (तत्वम्, आत्मा (वा अवस्तुनः पृथक् स्यात् । अवस्तुनो ज्ञानात् ऋतेऽवाङ्मनोगोचरस्य वस्तुन ज्ञानं न सामान्यो जनः प्राप्तुमर्हति ।

शाङ्करवेदान्ते ब्रह्मातिरिक्ता अन्ये सर्वेऽपि पदार्था असद्रूपा सन्ति, एषा-मारोपो ब्रह्मणि भवति, ब्रह्म चास्यारोपस्याधिष्ठानम् । माया स्वविक्षेपशक्त्य यत्सर्जयति, तन्मायिक भ्रान्तञ्च भवति । ब्रह्माधिष्ठानात् यावन्त्यपि कार्याणि जायन्ते, न केवल तान्येवापितु समस्तमपीद जगद्ब्रह्मण एव 'विवर्त' इति ।

चैतन्यस्य स्वरूपद्वैविध्यम्

सर्वव्यापि चेतन ब्रह्म निर्विशेषतत्त्वरूपेणात्र स्वीकृत विद्यते । चैतन्यस्यास्य स्वरूपद्वैविध्यमित्थमत्र विद्यते-चैतन्यरूपेण, मायारूपोपाधिरूपेण च । आभ्या द्वाभ्यामेवाकाशादीना सृष्टिर्भवति । यदा चास्यै सृष्ट्यै उपाधियुक्तस्य चैतन्यस्य प्राधान्य भवति, तदा सृष्टेर्निमित्तकारण चैतन्य भवति, यदा च चैतन्यस्य मायारूपोपाधेः प्राधान्य, तदा मायोपाधिविशिष्ट चैतन्य सृष्टे-रुपादानकारणं भवतीति ।

जीवस्वरूपः

अत्र विज्ञानमयेन कोशेणावृतं चैतन्यमेव जीवपदेनाभिधीयते । अत्र चैतन्यस्य व्यपकत्वात्, निष्क्रियत्वात्, विभुत्वात्, सर्वत्रस्थितत्वाच्च न गमनागमनादि-क्रिया अस्मिन् जायन्ते । अतएवात्र वस्तुतस्तु विज्ञानमय कोशमेव चैतन्य-साहाय्येनेहलोकात्परलोकमभिगच्छति च । अयमेव जीव कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी वा भवति । अथ चात्र ससरन् विविधान् भोगानुपभुञ्जन्, बद्धो जरामरणयुक्तश्च भवति । अतोऽयमेव बद्धत्वात् मुक्तत्वमधिगच्छति ।

अद्वैतदर्शने जीवात्मनः परमात्मना तादात्म्यं स्वीकृतम् । उपाधिबलात् भेदस्तु कल्पित एव । एतस्या उपाधेर्विनाशे सत्येव जीवः स्वस्वरूपमधिगच्छति । इदमेव स्वरूपं ब्रह्मणः परमात्मनो वास्ति । एतदेवात्र 'तत्त्वमसि' इति महावाक्येन सम्यगुपदिष्टम् ।

आत्मसिद्धान्तानां समालोचनम्

चार्वाकसिद्धान्तसमीक्षा

चार्वाकाचार्या मूलतः प्रत्यक्षवादिन एवासन् । तदनुसारं पृथिव्यप्तेजोवायुभ्य एव सृष्टे संरचनं सम्पन्नम् । अस्माद्भूतचतुष्टयादेव देहस्योत्पत्तिस्तत्र च चैतन्यस्य समावेशोऽपि सञ्जायते । यदाथ देहो विनश्यति तदा तच्चैतन्यमपि नाशमुपगच्छति अतस्तदनुसारं चैतन्यविशिष्टो देह एवात्मा, न तदतिरिक्तमात्मनः कञ्चनास्तित्व विद्यते । स्त्री-पुत्र-धन-सपत्तिजन्यं सुखमेव स्वर्गरूपम्, लोकप्रसिद्ध राजैव परमेश्वरः, देहस्य विनाश एव मोक्ष इति ।

एवमत्र चार्वाकदृष्ट्या 'अवलोकनमेव विश्वासः' इत्यनुसारं जड़पदार्था एव विश्वसनीयाः सन्ति, तेषामेव दृश्यत्वात् । आत्मा-ईश्वर-पुनर्जन्मादीनि आस्तिकदर्शनतत्त्वानि तु नेन्द्रियगम्यानि, अतएवादृश्यात्मकत्वात् न तानि विश्वसनीयानि । अतस्तानि प्रति जिज्ञासा कपोलकल्पन मौर्ख्यमेव वास्ति । अयमेवास्य भूतवाद इति, जड़वादोऽप्यस्यैव नामान्तरम् ।

जड़वादज्ञानुसार प्रत्येकमपि वस्तु पूर्व जड़ावस्थायामचेतनावस्थायामेव वा तिष्ठति, ततस्तस्यान्यावस्था चेतनावस्था, जीवितावस्था वा भवति । एवं पदार्थस्येद चेतनस्वरूपं नैसर्गिकस्य जड़रूपस्यैव परिणामोऽतो य एव पदार्थः जड़रूपः, स एव चेतनः, जीवो वा भवितुमर्हति ।

अत्र यच्चैतन्यं वस्तु, तत्त्व वा, तज्ज्ञान-बुद्धि-अनुभूतियुक्तम् । अनया दृष्ट्याद्यतनीयचेतनसृष्टौ मनुष्य एव महत्तमस्तथापि न स शाश्वतः, व्यापी वेति वक्तु शक्यते, तस्य सीमित-देश-कालपरिवेष्टितत्वमेवास्त्यतएवायं एकदेशीयो नश्वरश्चास्ति, तादृशेभ्य एव तत्त्वेभ्यः (भूतेभ्यः) समुत्पन्नत्वादिति ।

अत्र देहात्मवादविषये शङ्कराचार्यैरप्युक्तम्", यत् 'देह एवात्मा' इयमेव प्रतीतिः समस्तेष्वपि जीवव्यापारेषु मूलतः 'कार्यकरणक्षमा' । ते तु इदमप्यभिदधति,यत्—'आत्मानं देहात्पृथक् गृहीतारस्तत्त्ववेत्तारोऽपि व्यवहारेण

देहात्मवादिन एवेति स्वतः सिध्यति'। परमत्र यदवलोक्यते तदनुसारं तु चार्वाकाचार्यातिरिक्तैरन्यैस्तत्त्वज्ञैः सर्वैरपि देहाद्भिन्नमेवात्मनः स्वरूपं स्वीकृतमिति।

बौद्धसिद्धान्तसमीक्षा

अत्र तावत् जीवात्मजगज्जन्मनां विषये 'प्रतीत्यसमुत्पादाऽऽधारेणैव विचारः कृत इत्यवलोक्यते। प्रतीत्यसमुत्पादोऽयं मध्यममार्गीयः सिद्धान्तस्तदनुसारञ्चैकतो न वस्तूनामस्तित्वे कश्चनापि सन्देहः, परं 'तानि वस्तूनि नित्यानि' इति वक्तुं न शक्यते, तेषामुत्पत्तेरन्याश्रितत्वात्। अन्यतश्च न वस्तूनां पूर्णो विनाशोऽपि भाव्यः, अपितु तेषामस्तित्वं जगति तिष्ठत्येव। एवं वस्तु न तु पूर्णतया नित्यम्, नापि पूर्णतया (सर्वथा) विनाशशीलमिति[११]।

बुद्धस्यास्मिन् सिद्धान्ते नात्मनः किञ्चिदपि स्थानम्, उपनिषद्वदेषामप्यात्मा न तु नित्यः, ध्रुवो वा, नाप्यविनाश्येव। अथ चैषां दृष्ट्या तु 'आत्मवादः' महाविद्यारूप एव, अनयैवाविद्यया जीवो द्वादशावस्थासु (भवचक्रे) परिभ्रमंस्तिष्ठति।

यच्चात्र रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार-विज्ञानपञ्चकस्य संघात एवात्मा, इत्यात्मकस्यापि सिद्धान्तस्य न वास्तविकत्वं प्रतिभाति, यतो हि, बुद्धमतानुसारं पञ्चस्कन्धानां जगत्सारभूतानामप्यनित्यात्मकत्वात् दुःखस्वरूपात्मकत्वाच्च तद्विषये 'इद मदीयम्' 'अयमहम्' 'अयं ममात्मा' इत्यादिक कल्पनमपि सर्वथानुचितम्, यतो हि, ते रोगग्रस्ताः, बाधाग्रस्ताः अथ च क्षणिका अपि सन्ति, अतो नैते आत्मपदवाच्याः, अपि तु दुःखपदवाच्या एव। एवमग्रे बौद्धैः सुस्पष्टमभिहितम्—'यदेभिर्यदा मानवजातेर्न कथमपि कल्याण सम्भाव्यते, तत्कथमेतेषामूहापोहस्यावश्यकता ?' एवं तैः सर्वत्रैव पञ्चस्कन्धसमुद्भूतं शरीरं, तत्र स्थितमात्मानञ्चाप्यवास्तविकमिति स्वीकृतम्।

बुद्धात्पूर्ववर्ति यदात्मनः स्थानमासीत्तत्सम्बद्धेषु सिद्धान्तेषु परम्परागतेषु सुबहु मननं विधायान्तेऽयमेव निष्कर्षः स्थापितः—यत् 'शरीरमेवात्मा', अयमेक एकान्त, 'शरीराद्भिन्न एवात्मा' इत्यन्यश्चैकान्तः, अनयोर्द्वयोरपि परो मध्यमार्गरूपोऽयं सिद्धान्तो यत्—नामरूपात् षडायतनानि, षडायतनेभ्यः स्पर्शः, स्पर्शात् वेदना, वेदनायास्तृष्णा, तृष्णाया उपादानम्, उपादानात् भवः, भवाज्जातिः (जन्म), जातेर्जरामरणे इति समुत्पत्तिक्रमः।

एवं बौद्धैः, शाश्वतवादस्योच्छेदवादस्य चातिवादितां परित्यज्याभिहितम्—यत् जगति दुःख-सुख-जन्म-मरण-बन्ध-मोक्षादयः सर्वेऽपि सन्ति, परं नैषामाधारभूतः कश्चनात्मा विद्यते । इमाः सर्वा अप्यवस्थाः नूतनामन्यामेवावस्थामुत्पाद्य विनश्यन्ति, न पूर्वस्याः कस्याश्चित् सर्वथोच्छेदो भवति, नापि ता नित्या एव सन्ति । एवं पूर्वस्या एवास्तित्वमुत्तरत्र जायते इति ।

वैदिकात्मसिद्धान्तविमर्शः

येन विधानेन प्रकृतेर्नियमाः शासितास्तदेव धर्मविधानमिति । यत्रायं तत्रास्य नियामकस्य कस्यचिच्चेतनस्यापि स्वीकार आवश्यकः स्यात् । यश्चास्य जड़प्रवाहरूपस्य जगद्व्यापारस्य सञ्चालकः श्रेयबुद्धिसम्पन्नश्चेतनपुरुषस्तस्यैव विचारशीलस्य धर्मप्रवणस्याधीनमिदं कर्म जगत् । स एवास्य जगतो नियन्ता, शास्ता, अधिष्ठाता वास्ति । वेदेष्वस्यैव चेतनपुरुषस्य साक्षात्कारो निर्दिष्टः । स चात्र 'देवता' इत्याख्यस्तिष्ठति । वैदिका इमाः देवता एवास्या अदृष्टशक्तेः (चैतन्यस्य) विभिन्नरूपाः विद्यमाना आसन् । अतः ता एव विश्वनियन्तृरूपेण स्वीकृताः ।

एवमत्र बहुदेववादस्य, एकेश्वरवादस्य चेति द्विविधदेववादस्य विद्यमानेऽपि यादृशं जीवात्मनः परमात्मनश्चैक्यमद्वैतवेदान्ते प्रतिपादितं विद्यते, तस्य मूलस्वरूपस्य दर्शनमपि यत्रकुत्रचिज्जायते । ऋग्वेदे[63] त्वनेकत्रैवास्य तथैव विश्लेषणमवलोक्यते यथाऽद्वैतवेदान्ते, तथाहि-अद्वैतवेदान्ते यद्ब्रह्ममाययोर्द्वैतं कल्पितं, तस्यैव सुदर्शनमत्रास्या श्रुतावपि सञ्जायते—

> **'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।**
> **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश' ।।**[64]

अर्थात् 'सर्वव्यापकश्चिद्रूपः परमात्मा प्रत्येकशरीरनिहितबुद्धौ प्रतिबिम्बितः सन् जीवभावं तथैवाधिगच्छति यथा घटस्थिते जले आकाशस्य प्रतिबिम्बः घटाकारं (घटभावम्) अधिगच्छती'ति ।

औपनिषत्कात्मसिद्धान्तविमर्शः

उपनिषत्स्वात्माऽजन्मा, नित्यः, शाश्वतः, पुरातनश्चोक्तः । जन्म-मरणविरहितोऽयं शरीरस्य विनाशे सत्यपि तिष्ठति, न कश्चनापि विकारस्तस्मिन्नुत्पद्यते--एतदेव यमराजेनापि[65] नचिकेतोपदेशकालेऽभिहितम् ।

अथ चोपनिषदां ब्रह्मापि सत्, व्यापी, नित्यम्, अनन्तं, शुद्धं चेतनञ्चास्ति । इदमेव सर्वेषामात्मा, अस्मादेव जगत उत्पत्तिः, स्थितिश्च, अस्मिन्नेव जगतो विलयः । प्रकृतिस्तस्याः शक्तयश्च ब्रह्मण एवांशभूता. । एवमिद ब्रह्म सर्वेष्वपि प्राणिष्वन्तर्भूतं विश्वरूपञ्चास्ति ।

एवमुपनिषदामध्ययनाज्ज्ञायते, यदत्र 'जीवः (संसारस्थित. आत्मा) वैयक्तिकात्मा, आत्मा तु परमात्मै' वेति । इमौ द्वावपि क्रमश अन्धकारप्रकाशरूपौ स्तः । जीवस्तावदनुभूतियुक्तत्वात् कर्मकृतफलबन्धनैर्बद्धः, यदा हि, आत्माऽजोऽनादिश्च सन् नित्य', कर्मबन्धविमुक्तश्च ।

एतादृशस्य जीवस्य (ससारस्थितस्यात्मन.) चोद्देश्यमात्मज्ञानानतर, बन्धान् द्वैतभावाश्च विमुच्य, परमात्मत्वस्य (स्वस्य वास्तविकस्वरूपस्य) सान्निध्यावाप्तिः ।

अनन्तकर्मबन्धैर्बद्धस्य जीवस्य मुक्त्यर्थ मोक्षमार्गस्य निरूपणोऽभिहितम्, यत् हेतुरूपस्य ब्रह्मण. समुपासनात् विशुद्धो मोक्षः, कार्यरूपस्य जगत समुपासनाच्च मोक्षरूप फलम् (कर्मफलम्) अधिगच्छति । यतश्चैतौ द्वावपि युगपद्विजानाति स मृत्यु (असम्भूतिं) विजित्य मोक्ष (सम्भूति) उपगच्छति ।"

एव भारतीयतत्त्वविद्यायाः स्रोतरूपासूपनिषत्सु अनेकतायामेकतां संस्थाप्य जीवनस्य विभिन्नधाराणामेकस्मिन्नेव महोदधौ विलयः प्रतिपादित. । मानवतायै सादृश्येन श्रेय-हितयोर्निदर्शनमेवैषां माहात्म्यम् ।

नैयायिकात्मसिद्धान्तविमर्शः

स्पर्शादिगुणरहितो ज्ञानस्य चैतन्यस्य वाऽमूर्त्ताश्रयो निराकार आत्मा न्यायदर्शने स्वीकृत. । स च दैशिककालिकबन्धैर्मुक्त सीमातीत., अतएव विभुर्नित्यश्चास्ति । सोऽयमात्मेन्द्रियाणामुपभोक्तास्ति । आत्मेन्द्रियाणां सन्देशवाहकं मनः । बुद्धिरात्मनो गुणोऽतएवात्मा शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिभ्योऽभिन्नः । शरीरेण चात्मन. सयोग' पूर्वकृतोपभोगार्थमेवोपपद्यतेऽतएव नैयायिका शरीरमात्मनो भोगायतनमिति कथयन्ति । नैयायिकसिद्धान्तानुसारमनादिकालादेवैकैकस्य जीवस्याविद्याहेतुत्वान्मनसा संयोगो जातोऽथ च स जीवो मनसा सहैवानन्तेषु शरीरेषु परिभ्रमति । मुक्तावपि स तेन युक्तो विद्यते, येन तत्रापि एकस्यात्मनोऽन्याद्भिेदः । एव मनसा न कदापि जीवो मुक्तो भवति । जीवस्य

व्यापकत्वे सत्यपि मनसः संयोगात् सोऽव्यापक इवैव प्रतिभाति तथा चानादि-कर्मसंस्कारात् शरीराच्छरीरान्तरं प्रविशंस्तिष्ठति ।

यद्यपि सर्वेषामपि दुःखानां विनाशे सति तस्य मुक्तत्वमेतैरभिहितम्, परं वस्तुतो मनसा नानेन मुक्तिरधिगम्यते । येनात्मनः संसारावस्थायां मुक्तावस्थायाञ्चायमेव विशेषो जायते, यत् संसारावस्थायां ज्ञान-सुख-दुःखादयो गुणास्तस्मिन्नुत्पद्यन्ते, मुक्तावस्थायाञ्च नैते गुणाः भवन्ति । पर तत्र जीवे (आत्मनि) तेषां गुणानां स्वरूपयोग्यता तु तिष्ठत्येव ।

एवमात्मनोऽन्यद्रव्येभ्य. संसारावस्थायां पृथक्त्वसाधक 'गुणास्तित्वम्' मोक्षावस्थायाञ्च पृथक्त्वसाधकमेषां गुणाना 'स्वरूपयोग्यत्वमे'वास्ति । अनेनेदं सुस्पष्टं ज्ञायते यत् मुक्तेऽपि जीवे 'स्वरूपयोग्यता'रूपेण संसारावस्था तिष्ठत्येव । अतश्च यदि तत्र तं मुक्तं जीवं शरीरादिसाधनानि येन केन वा प्रकारेण प्राप्तानि स्युस्तदा 'मुक्ते' 'संसारिणि' वा जीवे न कोऽपि विशेषोऽवशिष्येत ।

मीमांसकात्मसिद्धान्तविमर्शः

मीमांसादर्शने आत्मा नित्य., शरीरेन्द्रियादिभ्यश्च भिन्नः । 'यजमानः स्वर्गं याति' इति श्रुत्या यजमानपदेन न तच्छरीरं ग्राह्यमपितु तदात्मा जीवात्मैव गृह्यते । शरीरे विनष्टे सति तत्कृताना कर्मणां शुभाशुभरूपाणां सञ्चय आत्मन्येव जायते । तानि कर्माण्येव संगृह्यात्मा पुनर्जन्मनि पुनः सशरीरी भूत्वा पूर्वार्जितकर्मणा फलोपभोगे प्रवर्तते । सोऽयमात्मा नित्यत्वात् जन्म-मरणबन्धैर्विमुक्तः किञ्च कर्त्ता भोक्ताप्यस्ति । अथ चाहमिति प्रत्यक्षगम्यत्वात् विभुरथ च ज्ञाता ज्ञेयश्चाप्यस्ति ।

एवमत्र दर्शने जीवात्मवादित्वात् प्रत्येकमपि शरीरे पृथक्पृथगात्मानः, तेषु चैतन्यञ्चात्मन औपाधिकगुणभूतमिन्द्रियविषययोः संयोगजन्यमित्याम्नातम् । यदा चायं जीवो मोक्षावस्थायां सुषुप्तावस्थायां वा तिष्ठति, तदास्मिन् नैतस्यौपाधिकाः गुणा वर्तन्तेऽतएवात्मा जड़ः, जड़त्वाच्च बोध्योऽप्यस्ति ।

यद्यत्र प्रतिशरीरस्थितमात्मानमेकत्वेनैव स्वीकुर्मस्तदैकेन कृतानां कर्मणां फलमन्यैरपि भोग्यः स्यात्तेषामात्मनामैक्यत्वात्, अत एव कर्मणस्तत्फलस्य व्यवस्थायै (यच्च मीमासकानां प्रमुख प्रतिपाद्यं तस्मै) प्रतिशरीरमात्मनो वैभिन्न्यमेव स्वीकरणीयम् ।

किञ्चात्र प्रभाकरमतेनापि जड़स्वभाव आत्मा, परं तज्ज्ञानं तु स्वप्रकाश-

कमस्ति । अत्र प्रभाकरीयं विवेचनं श्रेष्ठतमं बुद्धियुक्तञ्च प्रतिभाति भट्टापेक्षया । मुक्तावस्थायामपि मीमांसकस्यात्मा (जीवात्मा) स्वतन्त्रः, परस्परं भिन्नश्च तिष्ठति । न्याय-वैशेषिकवदेभिरपि आत्मबहुत्वं स्वीकृतम् ।

सांख्यपुरुषसिद्धान्तविमर्शः

सांख्यदर्शने चैतन्ययुक्तमेकं तत्त्वं—'पुरुषः', तथा चाचेतनमेकम्—प्रकृतिः' । अनादिकालादेवाविद्यायाः संसर्गादनयोर्द्वयोश्चेतनाचेतनयोः परस्परं सम्बन्धाच्च पुरुष-प्रतिबिम्बं निरन्तरं प्रकृतौ बिम्बंस्तिष्ठति । प्रकृतिश्च तच्चेतनप्रतिबिम्बसम्पर्कात् चैतन्यवदेव कार्यं कर्तुं सक्षमा जायते । तथा च पुरुषबिम्बेण प्रभावितायाः प्रकृतेर्गुणानामारोपः पुरुषेऽपि जायते, येन पुरुषः स्वभावतोऽनिर्लिप्तस्त्रैगुण्यरहितोऽसङ्गयुक्तोऽपि सन् स्वकमपि कर्त्ता, भोक्तादिरूपेणानुभवति ।

ज्ञानेन च यदानयोर्द्वयोः परस्परमध्यासिता आरोपा विनश्यन्ति तदा पुरुष स्वं प्रकृतेर्भिन्नमनुभवति, प्रकृतिश्च पुरुषं परित्यज्य न पुनस्तदर्थं सर्जनं विदधाति । इयमेव विवेकबुद्धिः (भेदबुद्धि) कैवल्यस्य प्राप्तिर्वोच्यते । अनयैवाशेषदुःखानामात्यन्तिकी निवृत्तिर्भवतीति । पश्चाच्च विवेकबुद्धेरधिगतत्वात् पुरुषः स्वरूपस्थित एव प्रकृतिं पश्यति, तस्या बन्धने च न पुनः समागच्छति । इयमेवास्य पुरुषस्य मोक्षावस्थेत्युच्यते ।

मुक्तावस्थाया निरपेक्षस्य पुरुषस्य प्रकृतेर्दर्शकत्वाज्ज्ञायते यत्तस्य न तत्र प्रकृतेः सत्त्वगुणाद्वा सर्वथा पृथक्त्वं जायतेऽपि तु तत्रापि सत्त्वगुणस्य कश्चन सम्बन्धस्तिष्ठत्येवान्यथा तद्दर्शनासमर्थत्वात् ।[१७] अथ च तत्र दर्शने रतस्य तमोगुणस्याप्यभिभवः[१८] (गुणानां परस्परमन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तित्वात्) तिष्ठति, तथा चानयोर्द्वयोरपि पुनरप्यभिभवस्याशङ्कापि तिष्ठत्येव । तत्कथं तत्र दुःखानामात्यन्तिक्यैकान्तिकी वा निवृत्तिर्भवितु शक्नोति ? अय प्रश्नः समुदेत्यत्र, किन्तु सांख्यदर्शने न कस्यचिदपि वस्तुनो सर्वथाऽभावः स्वीकृतो विद्यतेऽपि तु पदार्थस्यैकरूपादन्यमेव रूप परिणममानमवलोक्यते । एवमेवात्रापि यस्यां कस्यामप्यवस्थायां न रजसादिगुणानामभावो भवितुमर्हतीति । वाचस्पतिमिश्रेणापीदमेवोक्तम् तत्त्वकौमुद्याम् ।[१९]

अथ चात्र सांख्यदर्शनानुसारं मुक्तावस्थायां पुरुषस्य 'विवेकख्यातेः' विवेकबुद्धेः प्राप्तिरेव मुक्तित्वेन स्वीकृता । तत्र 'ख्यातिः' 'बुद्धि'र्वा सत्त्वगुणस्वरू-

पैवास्ति, अतो मुक्तावस्थायां 'ख्यातिः' 'बुद्धिर्वा' यद्यस्ति, तत्तत्र सत्त्वगुणस्याप्यवश्यं स्थितत्वात् प्रकृतिसम्बन्धेनाप्यवश्यं भाव्यम्। अतोऽनया दृष्ट्येदं वक्तु शक्यते, यत् साङ्ख्यीयः पुरुषः मुक्तावस्थायामपि न वस्तुतः प्रकृत्या मुक्तो भवति।

अद्वैतवेदान्तीयात्मसिद्धान्तविमर्शः

बुद्धि-मनोऽहङ्कार-चित्त-अन्तःकरणवृत्तीना पञ्चज्ञानेन्द्रियाणाञ्च संयोगात् विज्ञानमयस्य कोशस्य, तदावृतस्य चैतन्यजीवस्य चोत्पत्तिर्भवति। एवमत्र शरीरमात्मा चेत्युभावपि जीवत्वेनेश्वरांशत्वेनाभिहितौ। मायापरिणामवशात् स्थूलसूक्ष्मशरीरसहित आत्मैव जीव इति। अत्रात्मनः स्वस्य प्रत्येकमपि व्यवहारे स्वत एव प्रामाण्य स्वीकृतम्। सोऽयमात्मा आनन्दज्ञानस्वरूप. सत्, कूटस्थनित्यः, शुद्धो बुद्धश्च सन् मुक्तः, ज्ञाता चास्त्यत्रात्मब्रह्मणोरैक्यमेव प्रतिपादित विद्यते। तत्र बुद्धिमनःप्रभृतिवृत्तिभिरावृता चैतनैव प्रत्यगात्मा-व्यक्तिगतात्मा, विशुद्धा विनिर्मुक्ता च चैतनैव ब्रह्मेति। अत्र मायावशात् अन्तःकरणवृत्तिभिराबद्धं ब्रह्म एवात्मरूपमधिगच्छति। यथा च घटस्य छिन्ने भिन्ने वा सति तदाकाशोऽपि बाह्याकाशे सम्मिलिन सन् तदाकार एव जायते, तथैवात्म-परमात्मनोऽपि न कश्चन विशेषो विद्यते।

अथ चात्रेद दृश्यमान जगत् मायाविलास एवास्ति, अतो मिथ्यात्मकमेव। अत्र सश्लेप एव जीवस्य बन्धः। मायापरिणामादेवेमे असत्यभूता. सांसारिका. पदार्थाः सत्यवदेव प्रतिभासन्ते। किन्तु यदा जीवस्य परमात्मना साक्षात्कारः सञ्जायते तदा तस्य जीवत्वं विनश्यति, एतदेवास्य बन्धविनाश, ततश्च स जीवो ब्रह्मणि विलयमधिगच्छत्येष एव तस्य मोक्ष इति। अविद्ययैवात्र ब्रह्मभावाच्च्युतो भूत्वा जीवत्वमुपगच्छति। अनयैवाविद्ययाऽऽत्म-परमात्मनो, जीव-ब्रह्मणोर्वा द्वैतं प्रतिभासते।

निष्कर्षः

(१) एवमेषा दर्शनानां समालोचनेन ज्ञायते, यच्चार्वाकैस्तावन् न भौतिकीयाऽऽत्मस्वरूपाद्बाह्य किञ्चिदपि स्वीकृतम्। किन्त्वत्रेदं तु सर्वतो महत्त्वपूर्ण तत्त्व, यत्ते आत्मन (सृष्टेर्वा) उत्पत्ति नाऽसद्भूतपदार्थेभ्यः स्वीकुर्वन्ति। एवमेषां सिद्धान्तानुसारमिद दृश्यमानं सर्वमपि जगत् सद्रूपमेव, नास्य सर्वथा विनाशः

(अभावः) कथमपि भवितुमर्हति, यतो हीदं सर्वं वास्तविकमतएव स्वाभाविकं प्राकृतिकमेवास्ति।

(२) यच्च बौद्धैः पञ्चस्कन्धात्मकमात्मस्वरूपं वर्णितं तदनुसारं तु नात्मनः किञ्चित् स्वरूपं निश्चेतुं शक्नुमः। यश्च तेषां प्रतीत्यसमुत्पादस्तत्तु केवलं विभिन्नैः प्रश्नैरालोडितमनसः क्षणिकसम्बोधनाय कल्पित वाग्जालमेव। यतो हि, यदा दुःख-सुख-जन्म-मरण-बन्ध-मोक्षादीनामाधारभूतो न कश्चन तिष्ठतु, तदा कः खलु सुखदुःखभाग्भवेत्? कश्च जन्मोपलभन् मरणमधिगमिष्यति? कश्च शुभाशुभपरिणामरूपं बन्धमवाप्स्यति? ततश्च कस्यैभिर्बन्धैर्मोक्षः स्यात्?

(३) यच्च वैदिकमात्मवर्णन बहुदेववादरूपमैकेश्वरवादरूपं वा दृश्यते, ततोऽनुमीयते, यत्तदा यः खलु यस्य (देवस्य) क्षेत्रे स्थित आसीत्तेन तस्यैव माहात्म्यवर्णनं कृतम्। यच्च देवेष्वेवात्मन (परमात्मनो वा) कल्पनं दृश्यते, तस्यायमेवाभिप्रायो ज्ञायते, यत्तात्कालिकानां जनानां तैस्तैर्देवैरेव स्वाभिप्रेतपदार्थानां प्राप्तौ सत्यां त एव देवाः सर्वतः श्रेष्ठभूता इति स्वीकृतं लोकैः। यथा सम्प्रति (विशतिशताब्द्यां) दृश्यते, यत्प्रायशः जनानामियमेव धारणास्ति, यत् जगति न किमप्येतादृश कार्यमवशिष्टं, विज्ञानेन यदसाध्यं तिष्ठतु। अतिघोराणामपि कष्टानामुपचारो वैज्ञानिकशक्त्या सम्भव, अथ च वैज्ञानिकैरीदृशानामपि यन्त्राणामाविष्कारः कृतः येर्न कथमपि कुत्रचिदप्यनवधान शक्यम्, अतएव सामान्यजनापेक्षया एषां यन्त्राणां महत्त्वमवलोक्य केचन इदमपि वक्तु शक्नुवन्ति, यदस्याः सृष्टेः सर्वोत्कृष्टस्य पदार्थस्यापि यन्त्रसमक्षं न किञ्चित्साम्यं, अर्थाद्वैज्ञानिकयन्त्राणि सृष्टेरुत्कृष्टपदार्थात् (मनुष्यात्) अपि श्रेष्ठानि, तन्न किमप्याश्चर्यजनकम्। यतो ह्यस्य साम्प्रतिकमेवोदाहरणमत्र वर्तते, यदमेरिकादेशस्य चन्द्रान्वेषणार्थं प्रक्षिप्तं समानवयान (अपोलो-१३) यन्त्रेषु विकारे सति, स्वीयमुद्देश्यं परित्यज्यैव प्रत्यागतम्, यदा हि रूसदेशस्य मानवरहितेनैव यानेन केवल यन्त्रैरेव तत्सर्वं सम्पादितम्। अथ च जगति मनुष्याकृतिरूपाणामपि यन्त्राणा निर्माणं सम्पन्नम्, यैः खलु मनुष्यबुद्ध्यपेक्षयापि अधिकं साफल्यमधिगतम्। एवमत्र जगति आत्मा, परमात्मा, स्वर्गः, मोक्षश्चेत्यादिरूपं यत्किञ्चिदपि अवश्यं प्राप्तव्यमस्ति, तत्सर्वं खलु विज्ञानेनैव प्राप्तु शक्यमत आधुनिकं विज्ञानमेव ब्रह्म, अस्मादेव सर्वे. शक्तिः, जीवनम्, दैनिकोपभोगस्योपकरणानि च प्राप्यन्तेऽथ चानेन सर्वेषां लयो विनाशो वापि कर्तुं शक्यते। एवं न

किञ्चिद्विज्ञानातिरिक्तं महत्तमं विद्यते। एवमेव वैदिककालेऽपि सर्वः समारम्भो देवैरेव स्व-स्वक्षेत्रेषु सम्पादितः स्यादत एव परमात्मरूपेण स्वीकृतास्ते लोकैः।

(४) किञ्च-यदुपनिषत्सु दृश्यते, तेन ज्ञायते यत्तात्कालिकाः महर्षयोऽहर्निशमेवानुसन्धानेषु, तत्त्वगवेषणासु वा संलग्ना आसन्, तदैव तु तैर्यत्किञ्चिदपि अभिहितम्, तत्राद्यप्रभृतिजातानां समेषामपि सिद्धान्तानां न बीजरूपेणैव केवलमपितु सुस्पष्टतया विवेचनं प्राप्यते। येन उपनिषदां समन्वयप्रवृत्तेः (सर्वसिद्धान्तानामेवोपादेयतायाः) अवलोकनेनेदं निश्चीयते, यदत्र न कश्चनापि सिद्धान्तः प्रामुख्येन गृहीत, यतो हि, याथार्थ्येनेदं जगदनन्तधर्मात्मकमेवास्ति, अतस्तस्य कश्चनाप्येक एव पक्षो न समस्तस्यापि जगतो विवेचकः सम्भवः स्यात्, अतएवौपनिषत्कैराचार्यैः सर्वेषामपि सिद्धान्तानां विवेचनात्मिकेयं पद्धतिरङ्गीकृता। अतएव तत्र समेषामपि प्रश्नानां तेषामुत्तराणाञ्चापि याथातथ्येन विवरणमुपलभ्यते। यतो हि, ते सर्वे एव प्रश्ना. जगतः एकैकं स्वरूपमभिलक्ष्योत्पन्नाः। अतस्तेषामुत्तराण्यपि जगत एकैकस्यैव स्वरूपस्य विवेचकानि। यावच्च न तानि सर्वाण्यप्युत्तराणि समुदितानि स्युस्तावन्न विश्वरूप्यस्य विवेचनं स्यात्।

(५) नैयायिकैस्तु यत् खल्वात्मविवेचनं कृतम्, तत्रात्मन सर्वविधदुःखानामभाव (विनाश) एव मोक्षत्वेनाभिहितस्तत्र मनस संयोगात् न तस्यात्मा परमात्मत्वमधिगच्छति, यतो हि, तत्रापि जगति प्रवृत्तिविधायकस्य मनसः स्थितत्वात् कथमात्माऽस्माज्जगत सर्वथा विप्रयुक्तः स्यात्? अतस्तेषां मुक्तत्वे, जगति स्थितौ च न कश्चन विशेष।

(६) मीमांसायां तु आत्मविवेचनमवलोक्यैतत्कथितु शक्यते, यत्तेषामात्मनि जड़त्वात् स्वर्गादिभिन्नस्यान्यस्य मोक्षस्याभावाच्च (यत्र गत्वा नात्मनः कथमपि पुन सांसारिकत्वं स्यात्) नैतद्दर्शनमात्मनो मोक्षत्वमपितु सांसारिकत्वमेव विवेचयति।

(७) एवमेव सांख्यदर्शनेऽपि सत्त्वगुणरूपाया. बुद्धेर्मोक्षे सत्त्वात् न जीवात्मा ज्ञस्वरूपमधिगच्छत्यपितु प्रकृतिपराङ्मुखोऽपि सन् तया संश्लिष्ट एव तिष्ठति।

(८) अद्वैतवेदान्ते तु सर्व खलु ब्रह्मरूपमेव विद्यते, अतस्तत्र मायायाः,

जगतश्चासद्रूपत्वात् ताभ्यां संश्लिष्टे सति न काचिद्हानिर्भविया ? किन्तु नैतत् वास्तविकं प्रतिभाति, यत् जगदिदं ब्रह्मरूपमेव। यदीदं ब्रह्मरूपमेव स्यात्तदा ब्रह्मणः (जीवात्मनः) कथं ब्रह्मरूपस्य (जगतः, मायायाः वा) अभावः (विनाशो वा) शक्यः स्यात्तदभावे तु ब्रह्मण एव स्वरूपाभावादभावः स्यात्।

एवमेतानि सर्वाण्यपि दर्शनान्यात्मनो मोक्षस्य च स्वरूपस्यांशिकत्वेनैव विवेचकानि सन्ति। अतएव नैतेषु कस्मिंश्चिदपि दर्शने पूर्णत्वं सम्पन्नम्।

उपसंहारः

भारतीयदर्शनसाहित्यस्यावलोकनादिदं परिज्ञायते यद्यः खल्वात्मा वैदिककाले केवलं देवात्मरूपेण सीमित आसीत्तस्यैव क्रमशो विकासे सति, उपनिषत्सु तत्सम्बद्धानि सर्वाण्यपि सम्मतानि बीजरूपेणोपलभ्यन्ते येषामाधारेणाद्य यावदनेकानि दर्शनानि विकसितानि समृद्धानि वावलोक्यन्ते, स एव क्रमशोऽनुसन्धानविषयत्व समधिगच्छन् यामवस्थामुपगतस्तत्र प्रायशः सर्वैस्तस्यैव स्वरूपस्य विश्लेषितत्वात् तैस्तैराचार्यैरधिगतान्यस्य विभिन्नानि स्वरूपाणि अवलोक्यन्ते। किन्तु तेषु प्रत्येकमपि स्वरूपं सम्पूर्णस्वरूपस्यानभिव्यञ्जकत्वात् न पूर्णत्वयुक्तमतोऽत्र भारतीयेषु समग्रेष्वपि दर्शनेषु सामञ्जस्यस्य समन्वयस्य वा कृते सत्येवात्मनो वास्तविकं स्वरूपं निश्चेतुं शक्यते।

यच्चैषु दर्शनेष्वास्तिकनास्तिकविभागार्थं ये खलु हेतवः स्वीकृतास्तेषामपि निर्णयाक्षमत्वमेवावलोक्यते, यदि नेत्थक् तर्हि जैनदर्शनं नास्तिकपदेन व्यवहर्तुं केवलं 'नास्तिको वेदनिन्दकः' नायं हेतुः निष्पक्षतया स्वीकरणीयः स्यात्। यतो हि, जैनदर्शनस्य कर्मव्यवस्थाया पुनर्जन्मनि धर्मादिशुभाचरणेषु च प्रायो वेदोपनिषत्सिद्धान्तानामेव विस्तृतेन विश्लेषणेन न वेदनिन्दकत्वं समर्थ्यतेऽपितु वेदसिद्धान्तानामेव समर्थनमवलोक्यते। यच्चैतैः वेदानामपौरुषेयत्वस्य विरोधः कृतस्तत्र तत्समर्थककारणाभावाद् न कोऽपि तेषामपौरुषेयत्वं बुद्ध्या स्वीकर्तुं शक्नोति।

किञ्चात्र जैनागमेषु यत्तत्त्वविश्लेषणं भगवता महावीरेण प्रतिपादितं विद्यते, तद्विषये जैनानुश्रुत्या वक्तुं शक्यते यत् न महावीरेण कस्यचिन्नूत्नतत्त्वविश्लेषणस्य प्रतिपादनमागमेषु विहितमपितु स्वस्मादपि सार्धद्विशताब्द (२५० वर्ष) पूर्वं जातैः पार्श्वनाथतीर्थङ्करैर्विश्लेषितस्यैव प्रचारः प्रसारश्च कृत आसीत्।

एवञ्च जैनश्रुत्यनुसारं पार्श्वनाथेनापि स्वस्मात्पूर्ववर्तिनो भगवतः श्रीकृष्णस्य समकालिकस्यारिष्टनेमितीर्थङ्करस्य परम्पराया विस्तरो विहितः । एवमिय परम्परा जैनसिद्धान्तस्य प्रवर्तकं ऋषभदेवं यावत् गच्छति, ये च भरतचक्रवर्तिनो जनका आसन् । तेषामेव सिद्धान्तानां क्रमिको विस्तारोऽद्य दरीदृश्यते, तस्यैव प्रचारो महावीरेणापि कृत आसीत् । ऋषभदेवस्य चार्हत्सिद्धान्तप्रतिपादकरूपेण समर्थकानि यानि प्रमाणान्यद्याप्युपलभ्यन्ते, तेषु बहूनामत्र प्रथमेऽध्याये जैनदर्शनस्य प्राचीनत्वसाधने प्रयोगो मया विहितः ।

अस्य केवलमयमेवाशयः, यदधुनापि जैनश्रुतीनामाधारेण यदि विद्वद्भिरनुसन्धानं क्रियेत, तदनेके नवीनाः सिद्धान्ता प्रस्फुटिताः स्युः । किञ्चायं महान् खेदस्यावसरः यदेषामितिहासोऽप्युपेक्षितो विद्वद्भिः ।

किञ्च जैनदार्शनिकतत्त्वप्रतिपादनप्रणाल्याः सर्वथा स्वातन्त्र्यस्यैवाय परिणामः, यन्नेयं प्रणाली वेदोपनिषत्प्रणाल्या साम्य भजते, यदा हि, प्राय. सर्वेषामपि सिद्धान्तानां (दर्शनानां) समर्थकानि तत्त्वानि बीजरूपेणोपनिषत्सु विद्यन्ते । जैनदर्शने या खलु लोकालोकव्यवस्था, जीवाना गत्यगतिव्यवस्था, जडस्वरूपाणां पुद्गलपरमाणुवर्गणानां, पुद्गलस्कन्धानां च व्यवस्था, षड्द्रव्याणां नवपदार्थानाञ्च व्यवस्था, कर्मव्यवस्था, मार्गणा-गुणस्थानानाञ्च व्यवस्थाः विद्यन्ते, ता अवलोक्येदं सुनिश्चित भवति, यदिय विचारधारा महावीरादपि प्राग्वर्तिनामनेकतीर्थङ्कराणां परम्परायामेव विकासमुपलभमाना महावीरकाले एतादृशं विकसितं स्वरूपमधिगतवती ।

जैनदर्शनस्यास्त्ययं दृढो विश्वास , यदस्य जगतो न तु कोऽपि स्रष्टा, पालको वास्ति, नापि संहारकः । सर्वं खल्विदं प्राकृतिकमत एव स्वाभाविकमस्ति । जगति स्थिताः यदि सर्वेऽपि जीवा एकस्मिन्नेव काले मोक्षत्वमधिगच्छन्तु, तदापि नास्य जगतः स्वरूपं विनश्यति, प्राकृतिकत्वात् । दृश्यते खलु यथाऽस्माकं देशे भारतवर्षे स्वभावत एव सूर्यस्य प्रकाशापेक्षया प्रतिवर्ष षड्ऋतूनां गमनागमन जायते, यदा ह्यन्येषु राष्ट्रेषु केवलं शैत्यमेव, केषुचिच्च केवलमौष्ण्यमेव सर्वदा तिष्ठति । वैज्ञानिकेऽप्यस्मिन् युगे नास्मिन् विषये केनापि तत्परावर्तितु साफल्यमधिगतम् । अतोऽनेन ज्ञायते, यत् खल्विद सर्व प्रकृतिमण्डलापेक्षयैव स्वभावतः जायते । किन्त्वत्रापि ये खलु प्रकृतिजन्यविपरिणामा जायन्ते, तत्र प्रकृतावपि प्रतिक्षणं जायमानं परिवर्तनमेव हेतुरनेनैव परिवर्तनेनाकृष्टो जीवः स्वस्मिन् यावत्प्राकृतिकमंशं धारयन्, गृह्णन् वा

तिष्ठति, तावत्सोऽपि तत्सम्पर्कात् स्वभावतः जन्ममरणादिरूपं जगच्चक्रं प्रचालयितुं सहायको भवति ।

किञ्चात्र यदाऽस्याः प्रकृतेर्जडरूपोऽंशः जीवेनापाकर्तुं प्रयत्नानि विधीयन्ते, तदा स स्वं प्रकृतेर्भिन्नं चैतन्यस्वरूपमवगम्य शनैश्शनैः ततोऽभिरुचिमपाकरोति, तस्मादेव कालात् तस्य चैतन्यात्मकोऽंशः प्रबुद्धो भवति । ततश्च स स्वीयमज्ञानावृतं पूर्वस्वरूपं संस्मृत्य, तज्जन्यकष्टांश्च समनुभूय न पुनस्तत्र रमणीयतां समर्थयत्यपि तु तद्विमुक्त्यर्थं पूर्वोपार्जितानां कर्मणां विनाशाय, नूतनकर्मणाञ्चानुत्पादाय प्रयतमानः प्रकृतेर्बन्धकत्वम्, आत्मनश्च मुक्तत्वमभिजानन् ज्ञानयुक्तो जायते । ज्ञानस्य च दर्शनपूर्वकत्वात्तस्य मोक्षे दृढा प्रतीतिस्तु स्वाभाविक्येव, ततश्च स क्रमशो गुणस्थानानि मोक्षश्रेण्यात्मकानि अधिगच्छन्नन्ते केवलित्वमुपगच्छति, तत्र च विनष्टसर्वविधप्राकृतिकोऽंशः (कर्मरहित. सर्वथा) परमात्मत्वमुपलभ्य लोकाग्रे तिष्ठति, यतो न पुनस्तस्य कदापि परावर्तन सम्भाव्यते ।

एवमत्रास्मिन् शोध प्रबन्धे जैनदर्शनस्यात्मन. समारभ्य मोक्षं यावत्कं यात्रावर्णनं समुपस्थाप्यान्ते जैनेतरदर्शनानामात्मविमर्शो विहितस्तत्राल्पायुष्केन मयानुभवशून्यत्वात्, समुचिताध्ययनानेपेक्षत्वाच्चानेकधा स्खलन सम्भाव्यत एव, परमत्र अनुभवज्ञानगरिमोपयुक्ताना, समालोडितानेकशास्त्राणामतो नीरक्षीरविवेकबुद्धीनामत्रभवता श्रीमता पुरस्तात्—

'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः'

इति सप्रश्रयं विनिवेद्यायं शोध-प्रबन्ध उपसंह्रियते ।

—:o:—

सन्दर्भोल्लेखाः

१. तैउ-२।१।१ ॥ २. वेसा-जीवानन्दपुत्रसंस्करणम् पृ० १४ ।
३. तैउ-२।३।१ ॥ ४. छान्दो-५।१।७ ॥ ५. सिब्रि-पृ० १०७ ॥
६. तैउ-२।२।१ ॥ ७. कौउ-१।२ ॥ ८. बृको-१।४।८ ॥
९. छान्दो-६।५।१ ॥ १०. TRESIWO-142. ११ मव-१।६।३८ ॥
१२. BUDDHA-P. 273. १३. पुप-
१४. केनो-१।५।९ ॥ १५. केनो-३।४ ॥ १६. शब्रा-६।३।२।४ ॥
१७. शब्रा-६।३।२।४ ॥ १८. शब्रा-७।१।१ ॥ १९. शब्रा-७।१।१।१८ ॥
२०. शब्रा-७।१।१।१८ ॥ २१. जैब्रा-२।५४ ॥ २२. तैआ-६।१ ॥

२३. तैभा-६।१ ॥ २४. ऐभा-१।३।८ ॥ २५. ऐभा-२।४।१,३ ॥
२६. ऐभा-२।६।१ ॥ २७. बृको-२।५।१९ ॥ २८. बृको-४।४।५ ॥
२९. बृको-४।५।६ ॥ ३०. बृको-४।४।१९ ॥ ३१. कठो-१।२।२३ ॥
३२. बृको-२।३।१ ॥ ३३. बृको-४।४।२ ॥ ३४. बृको (शांभा)-४।४।२॥
३५. न्याभा-१।१।१९ ॥ ३६. COMA-Cha-11. पृ० ३७२-७६ ॥
३७. नैच-१७।७५ । ३८. प्रभा-पृ० ७० । ३९. पायोद-२।३।१९ ॥
४०. क-न्यासू-४।२।३८-४६ ॥ ख-तर्कभा-पृ० ९१-९२ ॥
४१. न्यासू-१।१।२ ॥ ४२, क-श्लोवा-१।५ ॥ ख-शादी-१।१।५ ॥
४३. शादी-१२३ । ४४. शादी-पृ० १२३ । ४५. शादी-१२३-२४ ।
४६. श्लोवा-१।५ ॥ ४७. शादी-पृ० १३० । ४८. शादी-पृ० १२५-१३० ।
४९. शादी-पृ० १३० । ५०. प्रप-पृ० १५४-१५७ । ५१. प्रपं-पृ० १५७ ।
५२. प्रपं-(काशीसंस्करणम्) १५६ । ५३. शादी-पृ० १२५ ॥
५४. प्रपं-पृ० १५६ ॥ ५५. सांका-११ ॥ ५६. सांका-१८ ॥
५७. सांका-१८ ॥ ५८. साका-३३ । ५९. सांका-६५ ।
६०. 'सच्चिदानन्दं ब्रह्म', 'आनन्द ब्रह्मणो विद्यात्' ।
६१. शाभा-प्रस्तावनायाम्, 'समन्वयसूत्रभाष्य'स्यान्ते च ॥
६२. भादरा-पृ० ३५१ । ६३. ऋवे-२।३।२३।४६ ॥, ३।७।१४।५ ॥
६४. ऋवे-४।७।३३।१८। ६५. कठो-१।२।१२ । ६६. ईशो-१२-१४ ॥
६७. साका-तत्त्वकौमुदी-(सात्विकया-भेदोऽस्त्येव-)६५ ॥
६८. सांका-(अन्योन्याभिभवा०) १२ ॥ ६९. साका(तकौ)-१ ॥

सन्दर्भग्रन्थसङ्केतानुक्रमणिका

अपु	अग्निपुराणम्
अवे	अथर्ववेदः
अकमा	अध्यात्मकमलमार्त्तण्डः
अरा	अनर्घराघवम्
अनुसू	अनुयोगद्वारसूत्रम् (शाह वेणीचन्द्र सुरचन्द्र, बम्बई)
अभिको	अभिधम्मकोश
अचिम	अभिधानचिन्तामणि
अष्टा	अष्टाध्यायी
आप	आप्तपरीक्षा
आमी	आप्तमीमांसा
इशो	ईशोपनिषद्
उसू	उत्तराध्ययनसूत्रम्
ऋवे	ऋग्वेद
औपसू	औपपातिकदशाङ्गसूत्रम्
कप्र	कर्मप्रकृतिः
कठो	कठोपनिषद्
कूपु	कूर्मपुराणम्
केनो	केनोपनिषद्
कौउ	कौषीतक्युपनिषद्
गोसाक	गोम्मटसारः (कर्मकाण्डम्)
गोसाजी	गोम्मटसारः (जीवकाण्डम्)
छान्दो	छान्दोग्योपनिषद्
जप्र	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः
जाउ	जाबालोपनिषद्
जीवाप्र	जीवाभिगमप्रज्ञप्ति

जैम	जैनदर्शन (महेन्द्रकुमार)
जैसा	जैन दर्शन (साप्ताहिक) १६-६-३४
जैसिदी	जैनसिद्धान्त दीपिका
तसंपं	तत्त्वसग्रहपञ्जिका
तसू	तत्त्वार्थसूत्रम्
तसा (असू)	तत्त्वार्थसार: (अमृतचन्द्रसूरि:)
तवा/तरावा	तत्त्वार्थराजवार्तिकम्
ताधिभा	तत्त्वार्थाधिगमभाष्यम्
तभा	तत्त्वार्थभाष्यम्
तुरीउ	तुरीयातीतोपनिषद्
तैआ	तैत्तिरीयारण्यकम्
तैउ	तैत्तिरीयोपनिषद्
दवैसू	दशवैकालिकसूत्रम्
दश्रु	दशाश्रुतस्कन्ध:
द्रस॰	द्रव्यसग्रह
द्रव्यात	द्रव्यानुयोगतर्कणा
नतप्रला	नवतत्त्वप्रकरणम् (श्री लालचन्द्र बड़ोदरा)
नतप्रभ	नवतत्त्वप्रकरणम् (प० भगवानदास हरशचन्द्र, अहमदाबाद)
नतप्रजै	नवतत्त्वप्रकरणम् (श्री जैनश्रेयस्करमण्डल, मेहसाना)
नतप्रदे	नवतत्त्वप्रकरणम् (देवगुप्तसूरि:)
नसासं	नवतत्त्वसाहित्यसग्रह.
नसू	नन्दिसूत्रम्
नपाउ	नारदपारिव्राजकोपनिषद्
निसा	नियमसार
नूप्रासृ	नूतन और प्राक्तन सृष्टिविज्ञान
नैच	नैषधीयचरितम्
न्याकुच	न्यायकुमुदचन्द्र
न्याद	न्यायदर्शनम्
न्यासिमा	न्यायसिद्धान्तमाला (सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला, प्र० सं० १६२७ ई०)
न्यासूप्रभा	न्यायसूत्रम् (प्रशस्तपादभाष्यम्)
पञ्चा	पञ्चास्तिकाय.

पञ्चात	पञ्चास्तिकायः-तत्त्वप्रदीपिका
पञ्चाता	पञ्चास्तिकायः-तात्पर्यवृत्तिः
पसं	पदार्थसंग्रहः
पपु	पद्मपुराणम्
पपंवि	पद्मनदिपञ्चविंशतिका
पप्र	परमात्मप्रकाशः
पाम	पातञ्जलमहाभाष्यम्
पायोद	पातञ्जलयोगदर्शनम्
पुपं	पुग्गलपञ्ञत्ति
पुसि	पुरुषार्थसिद्ध्युपायः
प्रपञ्चि	प्रकरणपञ्चिका
	(बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, प्र० सं० १९६१)
प्रवा	प्रमाणवार्तिकम्
प्रनत	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारः
प्रसा	प्रवचनसार.
प्ररप्र	प्रशमरतिप्रकरणम्
प्रसू	प्रज्ञापनासूत्रम्
बंआध	बगाल का आदिधर्म
	(श्रीबल्लभसूरि जैन ग्रन्थमाला प्र० स० १९५९)
बारा	बाल्मीकिरामायणम्
बृको	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृद्रस	बृहद्द्रव्यसग्रह·
बृद्रस (वृत्ति)	बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्ति.
ब्रशाभा	ब्रह्मसूत्रम्-शाङ्करभाष्यम्
ब्रपु	ब्रह्माण्डपुराणम्
भसू	भगवतीसूत्रम्
भादउ	भारतीयदर्शन (डॉ० उमेशमिश्रः)
भादरा	भारतीयदर्शन (डा० राधाकृष्णन्) १९६६ ई०
भादमू	भारतीय दर्शन के मूलतत्त्व
	(डा० रामनाथ शर्मा, प्र० स० १९६० ई०)
भासंजैयो	भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योगदान
	(डा० हीरालाल जैन, प्र० सं० १९६२)

मस्मृ	मनुस्मृति
मभा	महाभारत
मव	महावग्ग
मापु	मार्कण्डेयपुराणम्
मीश्लोवा	मीमांसाश्लोकवार्तिकम् (चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी)
मीसू	मीमांसासूत्रम्
मुको	मुण्डकोपनिषद्
मैयो	मैत्रेयोपनिषद्
मोप्रा	मोक्षप्राभृतम्
यवे	यजुर्वेद:
योदस	योगदृष्टिसमुच्चय:
योवा	योगवाशिष्ठम्
रमका	रघुवंशमहाकाव्यम्
लिंपु	लिङ्गपुराणम्
व्यापृश	व्याख्याप्रज्ञप्तिशतकम्
वापु	वायुपुराणम्
विप्रस	विवरणप्रमेयसंग्रह:
विपु	विष्णुपुराणम्
विवभा	विशेषावश्यकभाष्यम्
विवभावृत्ति	विशेषावश्यकभाष्यवृत्ति:
वेपासौ	वेदान्तपारिजातसौरभम्
वेसा	वेदान्तसार: (जीवानन्दपुत्रसंस्करणम्)
वैद	वैशेषिकदर्शनम्
वैसूशाभा	वैशेषिकसूत्रम्—शारीरिकभाष्यम्
वैश	वैराग्यशतकम्
शत्र	शतकत्रयम्
शब्रा	शतपथब्राह्मणम्
शाल्यो	शाण्डिल्योपनिषद्
शावास	शास्त्रवार्तासमुच्चय:
शादी	शास्त्रदीपिका (चौखम्बा संस्कृत सीरीज, प्र० सं० १९१६ ई०)

शिपु	शिवपुराणम्
श्रीभगी	श्रीमद्भगवद्गीता
श्रीभा	श्रीमद्भागवतम्
स्कपु	स्कन्दपुराणम्
स्थासू	स्थानाङ्गसूत्रम्
संसो	सन्यासोपनिषद्
सप्र (देव)	सप्ततत्त्वप्रकरणम् (देवगुप्तसूरि:)
सप्र (हेम)	सप्ततत्त्वप्रकरणम् (हेमचन्द्र:)
ससा	समयसार:
ससू	समवायाङ्गसूत्रम्
सत	समाधितन्त्रम्
ससि	सर्वार्थसिद्धि
सांका	सांख्यकारिका
सातकौ	सांख्यतत्त्वकौमुदी
सक्रक	संक्रमणकरणम्
	(शाह-रणछोडदास, अंधेरी बम्बई, प्र०स० १६३१ ई०)
सिबि	सिद्धान्तबिन्दु:
षख	षट्खण्डागम:
ज्ञा	ज्ञानार्णव

A.S B. 1868, No 35

ANOBOGIPA	An outlines for Boys & Girls & their Perants
CAMHISY	Cambridge History of India (S. Chanda & Co. Delhi)
COMA	Conception of Matter (Dr. Umesh Mishra)
COSOLNE	Cosmology Old & New
INOCHEM	Inorganic Chemestry (Newth)
INPHIL	Indian Philosophy (Dr. Radhakrishnan)
INTHEJAL	Introduction to his Essay of Jain Bibiliography. (Gerienott)

JOURNAL ASSI. 1840, No 696

OXHISY Oxford History of India
(Smith)

RECO Relativity & Commen sense
(C.F.M. Denton)

REUNI Restless Universe
(Maxoborn)

SEBOJA Seered Books of Jainas

TJSM-IN The Jain Stoop Mathura-Introduction.

TNAPHYWO The Nature Of The Physical World.
(Eddington)

BUDDHA Oldenverg.